आर्यसमाज

हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं

प्रो. दत्तात्रेय वाब्ले (आर्य)
भू. पू. आचार्य, दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अजमेर

1985

आर्यसमाज
अजमेर

—: अनुक्रमणिका :—

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय	विषय	पृष्ठ संख्या
	आत्म निवेदन	(i)
	यह पुस्तक क्यों ?	1
1.	विज्ञान और धर्म	16
2.	आर्यसमाज अपने सही परिपेक्ष्य में	27
3.	आर्य समाज का शिक्षण कार्य	38
4.	दयानन्द का धार्मिक दर्शन	50
5.	स्वामी दयानन्द की धार्मिक शिक्षायें	57
6.	धर्म: उनके संस्थापक और सुधारक	78
	(अ) देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन	85
	(ब) मूर्तिपूजा का अभिशाप	91
7.	आर्यसमाज, उसका संगठन और कर्म काण्ड	95
8.	भारतीय पुनर्जागरण और दयानन्द	105
9.	हिन्दू बनाम हिन्दू धर्म	110
10.	आर्य या हिन्दू	120
11.	दयानन्द और हिन्दू धर्म	149
12.	मुक्तिदाता	185
13.	दयानन्द का शिक्षा दर्शन	202
14.	आर्यसमाज और शिक्षा	210
15.	दयानन्द और राष्ट्रीयता	244
16.	आर्यसमाज से भी महान् दयानन्द	267
17.	डी. ए. वी. संस्थाओं का भविष्य	287
18.	धार्मिक स्वतंत्रता और शिक्षण संस्थाएं	302
19.	धारा तीस का अनपेक्षित परिणाम	323
20.	सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म दानं विशिष्यते	333
21.	देहली न्यायालय के निर्णय की समीक्षा	370

परिशिष्ट 1—अंग्रेजी संस्करण के सम्बन्ध में अंग्रेजी समाचार पत्रों की कुछ प्रशंसात्मक समीक्षाओं का हिन्दी रूपान्तर 399

परिशिष्ट 2—अंग्रेजी संस्करण पर अंग्रेजी पत्रों की कुछ समीक्षाएँ 407

परिशिष्ट 3—आर्य समाज के पुनर्गठन पर सार्वदेशिक सभा को प्रेषित अन्तरिम रिपोर्ट 409

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

आत्म निवेदन

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक "दी आर्यसमाज हिन्दू विदाऊट हिन्दुइज्म" नामक मेरी अंग्रेजी पुस्तक का हिन्दी संस्करण है वस्तुत: यह उसका स्वतंत्र भाषान्तर है। मूल पुस्तक देहली के अंग्रेजी साहित्य के सुप्रसिद्ध प्रकाशक "विकास" द्वारा सन् 1983 में प्रकाशित की गई थी। अंग्रेजी के अनेक समाचार पत्रों में उसकी अनुकूल समीक्षा और पाठकों द्वारा प्राप्त पत्रों तथा प्रतिक्रियाओं द्वारा यह देख कर मुझे संतोष हुआ कि आर्य समाज के वर्तमान तथा भविष्य के सम्बन्ध में चिंतन को गति देने के लिए किया गया यह मेरा प्रयत्न असफल नहीं हुआ, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के तत्कालीन उप-कुलपति ने इसे जहां स्व. लाला-लाजपतराय की इंग्लैंड में सन् 1915 में प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तक "दी आर्य समाज" की शृंखला में आर्य समाज के बारे में महत्वपूर्ण अंग्रेजी प्रकाशन की ही एक कड़ी बताया वहीं स्वयं आर्य समाज के क्षेत्र में उसकी यह कहकर आलोचना भी की गई कि इसके द्वारा आर्य समाज के पुराने आर्य, हिन्दू विवाद को पुनः उठाया जा रहा है, जिसका आर्य समाज के प्रारम्भिक इतिहास से सम्बन्ध है।

आर्य और हिन्दू

वस्तुत. जैसा मैंने अंग्रेजी संस्करण की प्रस्तावना में स्पष्ट संकेत किया है कि यह समालोचना सर्वथा अपेक्षित थी और इसलिए मैं उसे न केवल स्वीकार करता हूं अपितु उसका स्वागत भी करता हूं। हिन्दूनिष्ठ आर्यों के इस आरोप की तो मुझे अपेक्षा थी किन्तु दक्षिण भारत के अनेक निष्ठावान् आर्यों की इस आशंका की मैं कल्पना नहीं कर सका था कि "आर्य" के स्थान में "हिन्दू" नाम स्वीकार करके मैंने स्वयं वही गलती की है जिससे बचने की चेतावनी देने के लिए मैंने वह पुस्तक लिखी। अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन के बाद मेरे स्वयं के अनुभव के पश्चात् मुझे भी यही आशंका होने लगी है कि हिन्दू धर्म की समझौतावादी जिस प्रतिक्रिया से मैं आर्यसमाज जैसे क्रांतिकारी आन्दोलन को बचाना चाहता था वह प्रयत्न कहीं उस चौबे जी के समान सिद्ध न हो जो छब्बे जी बनने की धुन में दूबे जी रह गए।

विचार क्षेत्र

ऐसा समझा जाता है कि मनन क्षेत्र से संबन्धित लेखकों, विचारकों तथा बुद्धिजीवियों का कार्य केवल विचार क्रान्ति तक सीमित है उसे कार्यान्वित

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने का नहीं। यह कार्य उस क्रान्ति के समर्थकों का है और उनका है जो उसे अपने लिए हितकर समझते हैं। दुर्भाग्य या सौभाग्य से परिस्थितियों ने मुझे अपने स्वाभाविक और प्रिय विचार और मनन क्षेत्र तक सीमित नहीं रहने दिया और आर्य समाज के कार्य क्षेत्र और विशेषकर उसके संगठन और संस्थाओं से सक्रिय रूप से जोड़ दिया। यह विवाद का प्रश्न है कि यह दोहरा कार्य क्षेत्र सफल और लाभप्रद रहा या नहीं। क्योंकि मेरे मित्र और प्रशंसक इसे जहां मेरी उपलब्धि मानते हैं वहां स्वयं कभी-कभी मुझे ऐसा अनुभव होता है कि है मैं न घर का रहा न घाट का। चाहे जो हो मैं एक विशेष संदर्भ में यह आत्म निवेदन कर रहा हूँ। आर्य के स्थान में ऋषि दयानन्द के आदेश और स्वयं अपनी अन्तर आत्मा की आवाज के विपरीत मैने "हिन्दू" शब्द जिस उद्देश्य से स्वीकार किया उस की सफलता अब मुझे संदेहजनक प्रतीत होती है। सन् 1975 में आर्य समाज की स्थापना की शताब्दी पर मैंने देहली में एक छोटी-सी पुस्तिका चेतावनी के रूप में प्रसारित की थी जिसका नाम था "आर्य समाज का भविष्य" और उसके मुखपृष्ठ पर यह भी लिखा था कि "केवल आर्य समाजियों के लिए।" उसकी कुछ क्षेत्रों में काफी चर्चा हुई किन्तु एक बात जो उभर कर सामने आयी वह यह थी कि आर्य समाज का वर्तमान नेतृत्व आर्यसमाज के भविष्य के संबंध में इसी शर्त पर विचार करने के लिए तैयार हो सकता था कि हिन्दू समाज से उसके संबंध को स्वीकार किया जाये। व्यावहारिकता की दृष्टि से मैंने यह समझौता मान लिया और शताब्दि के अवसर पर लिखी पुस्तिका के विस्तृत अंग्रेजी संस्करण का उपशीर्षक "हिन्दू विदाऊट हिन्दुइज्म" अर्थात् 'हिन्दू किन्तु हिन्दू धर्म नहीं' यह रखा।

सार्वदेशिक सभा और आर्य समाज

आर्य समाज के वर्तमान और विशेषकर भविष्य के संबंध में आर्य जगत् का मार्गदर्शन करने का कर्त्तव्य उसके शिरोमणि संगठन सार्वदेशिक सभा का है अतः अपनी इस मान्यता के फलस्वरूप मैंने उक्त सभा के सामने पत्रों तथा प्रस्तावों द्वारा अपने विचार रखना प्रारम्भ

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किया और साथ ही आर्य पत्र, पत्रिकाओं में लेख लिखे ताकि आर्यसमाज के नेताओं, विचारको तथा प्रचारकों का ध्यान आर्यसमाज के जीवन-मरण के इस महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर आकर्षित हो सके। इसी उद्देश्य से "आर्य पुनर्गठन" नामक एक पाक्षिक पत्र भी आर्य समाज अजमेर की ओर से प्रारम्भ किया गया तथा सन् 1982 में इस आर्य समाज की शताब्दि के अवसर पर एक "विचार मंच" की स्थापना करके उसका प्रथम सम्मेलन आयोजित किया गया। इन सब की उत्साहजनक प्रतिक्रिया देखकर सार्वदेशिक सभा के वार्षिक अधिवेशन में मैंने इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करने के लिए एक औपचारिक प्रस्ताव रखा जिसके परिणामस्वरूप सभा प्रधान श्री लाला रामगोपालजी शालवाले ने मेरे संयोजकत्व में एक उप समिति गठित की जिसे इस प्रश्न पर अपनी रिपोर्ट सार्वदेशिक सभा को प्रस्तुत करने का कार्य सौंपा गया। इस उप समिति में मेरे अतिरिक्त श्री वीरेन्द्रजी, प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती (भू.पू. लक्ष्मीदत्तजी) प्रो. शेरसिंह भू. पू. केन्द्रीय मंत्री एवं उप प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा, तथा प्रो. भवानीलालजी भारतीय, अध्यक्ष दयानन्द चेयर पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ थे। मैंने एक प्रश्नावली सब सदस्यों को भेजी और उसके आधार पर समिति ने एक अंतरिम रिपोर्ट तैयार कर सार्वदेशिक सभा को भेजी। यह रिपोर्ट इस पुस्तक के अंत में परिशिष्ट के रूप में प्रकाशित की गई है।

सार्वदेशिक सभा की अंतरंग सभा के सदस्य के नाते भी मैंने इस रिपोर्ट पर विचार करने का जब बैठक में आग्रह किया तो यह निश्चय हुआ कि अगली सभा में इस प्रश्न पर विचार होगा। इस बीच सभा द्वारा इस रिपोर्ट पर प्रतिनिधि सभाओं तथा समाजों से सम्मति मांगी गई। यहां यह स्मरण भी रखने की बात है कि सार्वदेशिक सभा ने अपने परिपत्र द्वारा पहले भी इस प्रश्न पर सम्मति प्राप्त करने का प्रयत्न किया था।

सार्वदेशिक सभा की दिनांक 11-8-85 को होने वाली बैठक की विषय सूची में यह विषय न देखकर मैंने जब इस ओर सभा का ध्यान आकर्षित किया तो सभा प्रधान ने उत्तर में लिखा कि सदस्यों से सम्मति जानने के लिए जो परिपत्र भेजा गया था उसके परिणामस्वरूप केवल सात उत्तर प्राप्त हुए हैं और उनमें भी एक के द्वारा यह कहा गया कि आर्य समाज का पहले से ही
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगठन हैं अतः उसके पुनर्गठन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। स्वाभावतः इस निराशाजनक प्रतिक्रिया से मुझे अत्यन्त खेद और आश्चर्य हुआ।

वस्तुतः उपसमिति के दो प्रमुख सदस्यों, श्री वीरेन्द्रजी तथा स्वामी विद्यानन्द जी सरस्वती तो प्रारम्भ से ही यह कहते रहे हैं कि सार्वदेशिक सभा द्वारा इस सम्बन्ध में किसी कार्यवाही की आशा करना ही व्यर्थ है किंतु जैसा मैं निवेदन कर चुका हूँ कि मेरी मान्यता यह रही है कि आर्य समाज के भविष्य के बारे में मार्गदर्शन करना हमारी शिरोमणि सभा का न केवल अधिकार ही है बल्कि उसका अनिवार्य कर्त्तव्य भी है।

चिन्तनीय स्थिति

मुझे इस बात से इतनी निराशा नहीं है कि इन सुझावों पर कोई कार्यवाही नहीं की गई बल्कि इससे अधिक खेद और व्यथा इस बात की है कि हमारी शिरोमणि सभा के सम्मुख इस ज्वलन्त समस्या पर कोई अन्य सुझाव या योजना विचाराधीन तक नहीं है। अतः मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि इस उप समिति के सुझावों पर सभा में कोई विचार क्यों नहीं हो सका बल्कि यह है कि आर्य समाज के वर्तमान और भविष्य की अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता तक अनुभव नही की जा रही है। यह उदासीनता स्वयं इस बात का प्रमाण है कि कभी सारे संसार को वैदिक धर्म का अनुयायी बनाने का स्वप्न देखने वाले इस क्रांतिकारी आंदोलन का केवल वर्तमान ही नहीं भविष्य और यहां तक कि अस्तित्व तक खतरे में है।

इस महान् उत्तरदायित्व की उपेक्षा के लिए आर्य समाज का भावि इतिहास हमें कभी क्षमा नहीं करेगा। किंतु मेरा अब भी यह विश्वास है कि दिव्य दृष्टा ऋषि दयानन्द का मिशन इस प्रकार अस्त नहीं हो सकता। यदि उसके वर्तमान नेता उसे पूरा करने में असफल रहे तो हमारी अकर्मण्यता की राख से ढकती जा रही विचार [illegible] की यह अग्नि आज नहीं तो कल पुनः प्रज्वलित होने का स्वयं कोई अन्य मार्ग ढूंढ लेगी।

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरा मुख्य उद्देश्य

मेरी यह पुस्तक इस दिशा में विचार करने के लिए यदि कुछ प्रेरणा दे सके तो मैं अपना यह छोटा सा प्रयत्न सफल समझूंगा। जैसा अंग्रेजी संस्करण के उप शीर्षक Hindu Without Hinduism से प्रकट है कि इस पुस्तक का भी मुख्य उद्देश्य आर्य समाज के वास्तविक स्वरूप को उजागर करना है।

शिक्षण संस्थाओं की समस्या

अंग्रेजी संस्करण की एक तात्कालिक आवश्यकता थी और वह यह कि सन् 1971 में भारत के उच्चतम न्यायालय ने डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर के केस में यह निर्णय दिया था कि आर्य समाज का हिंदू धर्म से पृथक् धार्मिक अस्तित्व है इस कारण अन्य शिक्षण संस्थाओं को संविधान की धारा—30 के अन्तर्गत जो स्वायतता दी गई वह आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को भी देय है। दुर्भाग्य से सन् 1976 में देहली उच्च न्यायालय ने इस निर्णय का गलत अर्थ लगाकर यह फैसला दिया कि आर्य समाज हिन्दू धर्म का ही एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय है। इसके विरुद्ध देहली की डी.ए.वी. संस्थाओं की ओर से जो अपील की गई वह उच्चतम न्यायालय में अभी तक विचाराधीन है। इस पृष्ठभूमि में आर्य समाज की शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने मुझे इस प्रश्न पर अंग्रेजी में अधिकृत विवेचन करने का आग्रह किया।

यद्यपि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की स्वायतता एवं रक्षा की समस्या कम महत्व की नहीं है, विशेषकर इसलिए कि वे नवीन पीढ़ी में हमारे धार्मिक और सामाजिक सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार का बड़ा प्रभावशाली माध्यम रहा हैं, फिर भी मेरीपुस्तक का मूल उद्देश्य और लक्ष्य यह शिक्षण संस्थाएं नहीं अपितु स्वयं आर्य समाज के भविष्य को सुरक्षित और प्रभावशाली बनाये रखना ही है।

अंग्रेजी संस्करण का सम्बन्धित क्षेत्रों में जो स्वागत हुआ और अनेक अंग्रेजी पत्रों ने उसकी जो प्रशंसात्मक समीक्षा की उसके परिणामस्वरुप इसका हिंदी भाषांतर प्रकाशित करने का मुझे आग्रह किया गया। यह पुस्तक उसी का परिणाम है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पुस्तक क्यों ?

'आर्य समाज की समस्त मान्यताओं को अथवा कम से कम उसकी भावना को हिन्दू धर्म स्वीकार कर ले इससे अधिक कोई श्रेष्ठ और ऊँची महत्वाकाँक्षा आर्य समाज की नहीं हो सकती, किन्तु आर्य समाज हिन्दू धर्म अथवा अन्य किसी वाद में विलीन हो जाय यह हमारे लिये अत्यन्त खेद की बात होगी।"—लाला लाजपतराय।

आर्य समाज और उसके संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में साहित्य की कमी नहीं है, किन्तु इस पुस्तक की आवश्यकता और उपयोगिता उसके उप-शीर्षक अर्थात्-हिन्दू किन्तु हिन्दू धर्म नहीं-से स्पष्ट होगी।

मेरा यह विवेचन विवादग्रस्त सिद्ध हो सकता है और कुछ आर्य समाजियों द्वारा भी उससे असहमति व्यक्त की जा सकती है। किन्तु मैं इस प्रकार के विवाद का स्वागत करूंगा क्योंकि उससे यह प्रारम्भिक प्रश्न कि आर्य समाज और हिन्दू धर्म का क्या सम्बन्ध है, पुनः उजागर होगा और आर्य समाज का वास्तविक स्वरूप तभी प्रखर हो सकेगा। गत कुछ वर्षों में उच्च न्यायालयों तथा उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिये हैं कि आर्य समाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय न होकर कानूनी दृष्टि से वह एक पृथक् धार्मिक अल्पमत है। किन्तु देहली हाई कोर्ट के बाद के एक निर्णय में इन पूर्व निर्णयों का गलत अर्थ लगाकर यह निर्णय दिया है कि आर्य समाज हिन्दू धर्म का ही एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय है (3)। इस निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में कई वर्षों से अपील विचाराधीन है।

---

(3) ए. आ. आर. 1976 देहली पृष्ठ 207

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह स्पष्ट है कि इस प्रकार के महत्वपूर्ण प्रश्न का निर्णय केवल न्यायालयों द्वारा नहीं हो सकता। आर्य समाज एक स्वतन्त्र वैदिक धर्म का अनुयायी है और इस प्रकार वह वर्तमान सनातन हिन्दू धर्म से भिन्न है। इस वास्तविक स्थिति का निर्णय उसके संस्थापक के उद्देश्य, मान्यता और आर्य समाज के संविधान तथा धार्मिक सिद्धान्तों के विवेचन के द्वारा ही किया जाना चाहिये।

उसकी धार्मिक मान्यताएँ स्पष्ट और भिन्न हैं तथा हिन्दू धर्म के प्रतिकूल वह एक ऐसा संगठित धर्म है जो धर्मान्तरण (Proselytization) में भी विश्वास करता है और इस दृष्टि से वह इस्लाम और ईसाइयत के समकक्ष है। वह सारे संसार को वैदिक धर्म में दीक्षित करने की आशा रखता है और इसीलिये "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" उसका लक्ष्य है। यद्यपि यह कार्य वह केवल तर्क और विचार-विनिमय के आधार पर करने में विश्वास रखता है।

यह धारणा कि आर्य समाज हिन्दू धर्म का ही एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय है जितनी प्रचलित है उतनी ही वह निराधार है। उसकी लोकप्रियता तथा एक राष्ट्रीय और सुधारवादी आन्दोलन होने के कारण अनेक हिन्दू, आर्य समाज की ओर आकर्षित हुये, किन्तु इस लोकप्रियता के कारण उसकी असली छवि धुन्धली होती गई है। उसके अनेक समर्थक और प्रशंसक भी यह चाहते हैं कि अन्य सुधार आन्दोलनों के समान वह हिन्दू धर्म में विलीन हो जाये। किन्तु यदि ऐसा हुआ तो यह दोनों के हित में नहीं होगा। हिन्दू धर्म के अनुयाइयों का हित भी इसी में है कि आर्य समाज धार्मिक रूप से उससे स्वतन्त्र और पृथक् रहे। ऐसा होने पर ही वह हिन्दू धर्म का कायाकल्प करके उसे पुनः प्राचीन वैदिक धर्म के रूप में बदल सकता है, जैसा ऋषि दयानन्द चाहते थे। उसका यह स्वतन्त्र अस्तित्व आज इसलिये और भी अधिक आवश्यक है कि जात-पांत और छूआछूत का विरोध जैसे जो सामाजिक सुधार

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वाधीनता से पूर्व व्यापक रूप से स्वीकार किये गये थे वे स्वार्थपूर्ण राजनीति के कारण कमजोर होते जा रहे हैं इतना ही नही मूर्तिपूजा, कब्रपरस्ती, तन्त्र-मन्त्र, ज्योतिष जैसे अंधविश्वासों को भी इसी कारण नवजीवन मिल रहा है। इसलिए आज सक्रिय आर्य समाज की कहीं अधिक आवश्यकता है। जहां तक आर्य समाज का अपना सम्बन्ध है, अपनी अभूतपूर्व उपलब्धियों और आधुनिक भारत के पुन:निर्माण में प्रशंसनीय योगदान के बाद यदि वह हिन्दू धर्म के विशाल समुद्र में, अपना वास्तविक उद्देश्य पूरा किये बिना, विलुप्त हो जाता है तो यह उसके अस्तित्व के लिये भी अत्यन्त घातक सिद्ध होगा।

ऋषि दयानन्द तो किसी भी अर्थ में हिन्दू शब्द तक को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं थे। उनके प्रारम्भिक अनुयायी ही नहीं अपितु कट्टर हिन्दू भी आर्य समाज को हिन्दू धर्म का अंग स्वीकार नहीं करते थे, आर्य समाज के प्रारम्भिक इतिहास से यह बात स्पष्ट होती है।

महात्मा मुन्शीराम ने (जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए) इस तथ्य को इन शब्दों में स्पष्ट किया है—"हम जोरदार शब्दों में इस कथन का विरोध करते हैं कि आर्य समाज किसी भी अर्थ में एक हिन्दू आन्दोलन है उसका धर्म सार्वभौम है और उसकी शिक्षाएं समस्त मनुष्य जाति के लिये है। वास्तव में आर्य अपने आपको हिन्दू कहना तक पसन्द नहीं करते जैसा गत जनगणना रिपोर्ट को देखने से सिद्ध होता है"[4]। इसी प्रकार यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ऋषि दयानन्द के आन्दोलन के बाद उनके अनुयाइयों ने आर्य समाज के संविधान में संशोधन करके यह स्पष्ट कर दिया कि आर्य समाज का सदस्य होने के लिये केवल प्रारम्भिक दस नियमों को स्वीकार करना मात्र पर्याप्त नहीं है, बल्कि वेदों के आधार पर सत्यार्थ प्रकाश तथा अपनी अन्य रचनाओं और उपदेशों में स्वामीजी ने वेद के आधार पर जो धार्मिक मान्यताऐं प्रतिपादित की है उन्हें स्वीकार करना भी आवश्यक है।

4. आर्य समाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टरस, गुरुकुल कांगड़ी पेज 19

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य समाज के दो स्वरूप

स्वाधीनता से पूर्व राजनैतिक परिस्थितियों और विशेषकर अंग्रेजी राज्य में हिन्दू मुस्लिम संघर्ष के परिणामस्वरूप आर्य समाज को एक हिन्दू समर्थक आन्दोलन बनना पड़ा। विपत्ति की इस घड़ी में हिन्दुओं के साथ अपना हितैक्य मानकर उनका समर्थन करना आर्य समाज के लिये आवश्यक और स्वाभाविक था। कट्टर हिन्दुओं ने भी इसी कारण आर्य समाज के प्रति अपने विरोध को त्यागकर उसे अपना सच्चा हितचिन्तक और रक्षक समझना प्रारम्भ किया। शिक्षित और राष्ट्रवादी हिन्दुओं ने कम से कम सिद्धान्त रूप में उन सब सामाजिक सुधारों को स्वीकार कर लिया जिनका ऋषि दयानन्द ने प्रतिपादन किया था। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि ऋषि दयानन्द के धार्मिक मन्तव्यों और सुधारों को आज भी बहुत कम हिन्दुओं ने स्वीकार किया है।

आर्य समाज ने जिन सामाजिक सुधारों का प्रचार और प्रसार किया वास्तव में उनका आधार ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्त ही थे। उदाहरण के लिए आर्य समाज ने जन्मगत जात-पांत तथा छुआछूत का जो निषेध किया उसका कारण भी उसकी यह धार्मिक मान्यता थी कि वैदिक वर्ण व्यवस्था और मनुष्य मात्र की समानता के वैदिक सिद्धान्त के यह विपरीत है। आज भी अपने आप को सुधारवादी हिन्दू कहने वालों का बहुमत ऐसा है जो ऋषि दयानन्द की इन तथा अन्य धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता है। हरिजनों द्वारा मिनाक्षीपुरम् में सामूहिक रूप से इस्लाम स्वीकार करने जैसी गंभीर चेतावनी के बाद भी शंकराचार्य ने छुआ-छूत को हिन्दूधर्म के अनुकूल घोषित किया। आज भी अधिकांश शिक्षित हिन्दू मूर्तिपूजा आदि में विश्वास करते हैं जिसके विरुद्ध ऋषि दयानन्द ने जीवन भर संघर्ष किया था। नित्य प्रति बढ़ने वाले मन्दिरों की संख्या, गुरु और तथा-कथित भगवानों की बाढ़ इसके प्रमाण हैं। इसी प्रकार श्राद्ध, तीर्थ, मुहूर्त

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि जैसे अन्धविश्वास घटने के बजाय बढ़ रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि आर्य समाज के अनुयाइयों का हिन्दुओं में भी अल्पमत है। हमें यह स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि आर्य समाज मुख्यत: अपने सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय मान्यताओं के कारण ही अधिक लोकप्रिय हुआ है किन्तु उसकी धार्मिक मान्यताएँ अब भी सीमित क्षेत्र में ही स्वीकार की गई हैं और इस दृष्टि से वह आज भी अधिकांश हिन्दुओं को प्रभावित नहीं कर सका है। वस्तुत: स्वयं आर्य समाज के लिये यह न केवल एक खेद की बात है अपितु एक चेतावनी भी है। जैसी लाजपतरायजी को भी आशंका थी कि सामाजिक क्षेत्र में अपनी लोकप्रियता के कारण आर्य समाज अपनी धार्मिक मान्यताओं के प्रति उदासीन होकर अपने प्रारम्भिक जीवन के उत्साह और पृथक् अस्तित्व को प्राय: भूलता जा रहा है, उन्होंने यह चेतावनी भी दी थी कि उसे स्मरण रखना चाहिये कि उसका मुख्य उद्देश्य उस सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रचार व प्रसार करना था जिसका ऋषि दयानन्द ने प्रतिपादन किया था। स्वयं लाजपतरायजी को सम्भवत: यही आशका थी कि यदि आर्य समाज अपने इस मूल लक्ष्य से भटक गया तो उसका अस्तित्व तक समाप्त हो सकता है।

दुर्भाग्य से अब आर्यसमाज को हिन्दू समाज से सर्वथा पृथक् करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। विशेषकर हिन्दू शब्द की आज जो नवीन व्याख्या की जा रही है उसको देखते हुये शायद ऐसा करना अब न आवश्यक है और न ही व्यावहारिक। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इस नवीन धर्मनिरपेक्ष अर्थ में हिन्दू समुदाय का अंग बने रहने के लिये आर्य समाज को अपने पृथक् धार्मिक अस्तित्व को बनाये रखने का भी आग्रह नहीं करना चाहिये। जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है कि आर्य समाज का पृथक् अस्तित्व स्वयं हिन्दू समाज के हित में है। आर्य समाज को भी अपना यह प्रयत्न जारी रखना चाहिये कि कालान्तर में उसकी मान्यता का वैदिक धर्म हिन्दू धर्म का स्थान ले और तब स्वामी श्रद्धानन्दजी के शब्दों में हिन्दू धर्म से आर्य समाज का वैसा ही सम्बन्ध समझा जायेगा जैसा ईसाई धर्म का यहूदी धर्म से है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू का व्यापक अर्थ

हिन्दू 'शब्द' के वर्तमान धर्मनिरपेक्ष तथा नवीन अर्थ में उसे स्वीकार करने के पक्ष में अनेक कारण हैं किन्तु फिर भी आर्य समाज को हिन्दू के स्थान में आर्य नामकरण करने का प्रचार करने की स्वतंत्रता सुरक्षित रखनी चाहिये। इसी प्रकार वे ऋषि दयानन्द के आर्य सम्बन्धी आदेश को कार्यान्वित कर सकते हैं। परन्तु केवल इस नाम के लिए हिन्दु एकता और संगठन जैसे व्यापक उद्देश्य की उपेक्षा भी अवांछनीय है। यद्यपि जैसा स्वामी दयानन्द का विश्वास था कि नाम का भी एक मनोवैज्ञानिक महत्व है इसलिए संसार के अनेक देशों ने स्वाधीनता प्राप्ति के बाद अपने नवीन नाम स्वीकार किए हैं। यहां तक कि कट्टरपंथी मुस्लिम परशिया ने भी अपना नाम आर्यान या ईरान रख लिया है। अमेरिका में मुझे एक ईरानी मुसलमान डाक्टर मिले जो अपने नाम के साथ आर्य लिखते हैं। आधुनिक भारत में स्वामी जी ने नमस्ते और आर्य ये दो नवीन शब्द हमें दिये किन्तु जहां नमस्ते आज एक सर्वव्यापक सम्बोधन बन गया है, वहां आर्य शब्द को हिन्दुओं ने अभी ग्रहण नहीं किया है। इतना ही नहीं स्वयं अपने आपको आर्य समाज का अनुयायी और सदस्य कहने वाले व्यक्ति तक इस नाम का उपयोग नहीं करते। कितना अच्छा होता यदि हम स्वामी दयानन्द की इस बात को ध्यान में रख पाते कि "कर्मभ्रष्ट होना तो बुरा है ही कम से कम नामभ्रष्ट तो हमें नहीं होना चाहिये।

समस्त हिन्दू नमस्ते के समान आर्य शब्द को भी स्वीकार कर लेते तो यह उनके नव जीवन और कायाकल्प का द्योतक होता। किन्तु आज भी हम यह आशा रख सकते हैं कि किसी दिन समस्त हिन्दू अपना यह वास्तविक और प्राचीन नाम आर्य स्वीकार करके अपने पुनर्गठन का परिचय देंगे। किन्तु पौराणिक विचार और विश्वास बनाये रखकर केवल 'आर्य' नाम रख लेने में भी ऋषि दयानन्द का उद्देश्य पूरा नहीं होगा। इसलिए आर्य समाज का यह भी प्रयत्न जारी रहना चाहिये कि वर्तमान पौराणिक हिन्दुओं की धार्मिक

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सामाजिक मान्यताओं में भी परीवर्तन हो, तभी उनका 'आर्य' नाम वास्तव में सार्थक होगा किन्तु ऐसा करने के लिए आर्य समाज को भी 'नाम और काम' दोनों दृष्टियों से पहले स्वयं यह उदाहरण प्रस्तुत करना होगा।

हिन्दू शब्द के वर्तमान धर्म निरपेक्ष तथा व्यापक अर्थ के आधार पर हम इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द के विचारों से कुछ भिन्न दृष्टिकोण पर हम इसलिए विचार कर सकते हैं कि उनका स्वयं कभी यह आग्रह नहीं था कि उनकी प्रत्येक बात का अक्षरश: पालन किया जाये वस्तुत: उन्होंने तर्क और बुद्धि को स्वयं अपनी मान्यताओं का आधार स्वीकार किया है इसलिए हिन्दू शब्द का जिस कारण उन्होंने निषेध किया था वह कारण यदि न रहे तो केवल नाम के इस विवाद पर देश के व्यापक हित में आग्रह नहीं होना चाहिए। हिन्दु राष्ट्र के समर्थक भी आज यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दू कोई धर्म वाचक शब्द नहीं है और न ही वह तथाकथित पौराणिक सनातन धर्म का ही पर्यायवाची है। उनकी तथा अन्य हिन्दू विचारकों की मान्यता है कि हिन्दू केवल एक जीवन पद्धति का द्योतक है, इसलिए हिन्दू समाज की एकता का आधार धार्मिक मान्यताएं न होकर उसकी सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक एकरूपता है यह स्वीकार किया जा सकता है। आर्य समाज भी केवल इसी आधार पर हिन्दू समाज का अंग रह सकता है। वस्तुत: हिन्दू शब्द को हिन्दू धर्म से पृथक् करने पर ही सिख, जैन और बौद्ध आदि भी हिन्दू समाज में बने रह सकते हैं और इस प्रकार हिन्दुओं की एकता और शक्ति सुरक्षित की जा सकती है।

वीर सावरकर की मान्यता

प्रसिद्ध क्रांतिकारी देशभक्त विनायक दामोदर सावरकर हिन्दू राष्ट्र तथा हिन्दू संगठन के प्रबल समर्थक और एक प्रकार से दार्शनिक विचारक थे। उन्होंने भी "हिन्दुत्व" नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में निम्नलिखित शब्दों में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू और हिन्दू धर्म की इस भिन्नता का सुन्दर विवेचन किया है—"यदि बहुसंख्यक हिन्दुओं के धर्म को समस्त हिन्दुओं का धर्म होने का आग्रह किया गया तो जो भिन्न-भिन्न सुधारवादी विचारधारा के मानने वाले हैं वे हिन्दू होने पर भी इसका विरोध करेंगे जो उचित है। यह सब कटुता हिन्दू धर्म के गलत अर्थ में प्रयोग करने का परिणाम है। इसलिये बहुसंख्यक हिन्दुओं के धर्म को प्राचीन काल से स्वीकृत सनातन धर्म के नाम से सम्बोधित करना चाहिये और जो अन्य हिन्दू हैं उन्हें अपने-अपने धर्मों के नाम से सम्बोधित करना चाहिए। जैसे सिख, आर्य समाजी, जैन और बौद्ध[6]। इस आधार पर सावरकर ने जो हिन्दू की परिभाषा की है उसके अनुसार भारत में उत्पन्न सब धर्मों के अनुयायी हिन्दू हैं, न कि केवल सनातन धर्म के अनुयायी।

एक बार यदि हम हिन्दू शब्द के इन दो अर्थों को समझ लें तो न हिन्दू एकता के समर्थक उन हिन्दुओं को कोई आपत्ति होगी जो आर्य समाज को हिन्दू धर्म का अंग होने का आग्रह करते हैं और न ही उन आर्य समाजियों को शिकायत होगी जो अपने को धार्मिक अर्थ में हिन्दू कहलाना पसन्द नहीं करते। मेरी सम्मति में राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह उपयुक्त है। समस्त हिन्दू चाहे वह पौराणिक हिन्दू हो या उनसे भिन्न। वे सब समान सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों तथा ऐतिहासिक आधार पर ही संगठित हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दू शब्द का किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बन्ध आवश्यक नहीं रहेगा। जैन सम्प्रदाय के धार्मिक नेता आचार्य तुलसी ने भी कुछ दिन पूर्व देहली में हिन्दू विश्व परिषद् के मंच पर ऐसे ही विचार व्यक्त किये थे और उसके आधार पर जैनियों को भी हिन्दू समाज का अंग स्वीकार किया था। साथ ही यह भी स्मरण रखने की बात है कि न्याय-मूर्ति मोहम्मदअली छागला जैसे राष्ट्रीय मुसलमानों द्वारा भौगोलिक अर्थ में हिन्दू का अर्थ किये जाने पर भी देश के अधिकांश मुसलमान और ईसाई अपने को इस व्यापक अर्थ में भी हिन्दू कहने के लिये तैयार नहीं

6. हिन्दुत्व (अंग्रेजी) पृष्ठ

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होंगे। इसलिये हमें यह स्वीकार करके सन्तोष करना होगा कि आज हिन्दू हम उन्हीं को कह सकते हैं जो एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति को स्वीकार करते हैं और जिसका आधार सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक बन्धन है। ऐसी स्थिति में हमारे सनातनी या पौराणिक हिन्दू भाई अपने आपको इस विशेष अर्थ के अतिरिक्त एक धार्मिक अर्थ में भी अपने को हिन्दू कहने में स्वतन्त्र रहेंगे और साथ ही आर्य समाजी, सिख, जैन तथा बौद्धों को भी यह कहने और मानने की आजादी होगी कि वे हिन्दू धर्म के अनुयायी नहीं हैं किन्तु फिर भी व्यापक अर्थ में हिन्दू हैं और इस प्रकार वे भी हिन्दू कहलाने में अभिमान और गौरव का अनुभव कर सकेंगे। इस व्यापक अर्थ में भारत से बाहर फिजी, मोरिशस, पूर्व अफ्रिका अथवा अन्य विदेशों में बसने वाले प्रवासी भी अपने को हिन्दू मान सकते हैं क्योंकि वे भी हिन्दू मूल तथा भारत में उत्पन्न किसी धर्म के अनुयायी हैं।

राष्ट्रीय एकता और हिन्दू

भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य का कोई राज-धर्म नहीं है और उसके समस्त नागरिक राजनैतिक क्षेत्र में समान अधिकार रखते हैं। इस प्रकार हम सब राजनैतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से केवल भारतीय हैं। देश के बहुसंख्यक नागरिक अपने समान सामाजिक, सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक मान्यताओं के कारण हिन्दू हैं। जिनके अन्तर्गत सनातन धर्म के अनुयायी तथा अल्पसंख्यक धर्मों के अन्य हिन्दू भी सम्मिलित हैं जैसे बौद्ध और आर्य आदि किन्तु जो अपने आप को गैर हिन्दू कहलाना चाहते हैं उनमें ईसाई, मुसलमान तथा यहूदी आदि धर्मों के अनुयाइयों की गिनती की जा सकती है।

हिन्दू एकता के प्रश्न को हमें साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से नहीं सोचना चाहिये क्योंकि प्रथम तो हिन्दू कोई एक संगठित धर्म है ही नहीं। हिन्दुओं की धार्मिक भिन्नताओं के अलावा जात-पांत, छूआ-छूत आदि अन्य

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभिन्नताओं के कारण उनका कोई साम्प्रदायिक संगठन भी कठिन है। किंतु दूसरी ओर इस तथ्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस देश में हिन्दुओं की बहुसंख्या और वह भी 85 प्रतिशत से ऊपर है। ऐसी स्थिति में इतनी बड़ी जनसंख्या में व्याप्त जाति, प्रान्त, भाषा और धर्मों की अनेकताएं सारे देश को कमजोर कर सकती हैं। इस दृष्टि से इतनी बड़ी प्रतिशत जनता की सामाजिक और सांस्कृतिक एकता हमारे देश की राष्ट्रीय एकता और शक्ति की दृष्टि से भी आवश्यक है। इसी प्रकार यदि इतनी बड़ी जनसंख्या की यह विभिन्नताएं और सामाजिक कुरीतियां बनी रहीं तो हमारे संविधान में निर्देशित प्रजातन्त्र और समाजवाद ही नहीं बल्कि धर्म निर्पेक्षता के आदर्श भी केवल आदर्श मात्र बने रहेंगे। अनेक धर्मों के आधार पर स्थित हिन्दू तो स्वत: ही धर्म निर्पेक्षता का स्वाभाविक उदाहरण है। अन्य संगठित धर्मों के समान, धार्मिक अत्याचार अथवा अनुदारता करने की न उसमें क्षमता है और न ही महत्वाकांक्षा। अपनी आन्तरिक धार्मिक विभिन्नताओं के प्रति उसकी उदारता उसमें अन्तर्निहित है जिसे अन्य धर्म के प्रति भी व्यक्त करना उस के लिए सरल व स्वाभाविक है। यह बात ईसाई, मुसलमान आदि अन्य संगठित और एकाधिकारवादी धर्मों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती किन्तु हिन्दुओं की उपरोक्त विशेषताएँ उनकी सबसे बड़ी निर्बलता भी है। इसलिए आर्य .समाज जैसे एक स्वतन्त्र और सशक्त संगठन को भी आवश्यकता है जो हिन्दुओं में धार्मिक और सामाजिक सुधार करके उन्हें राष्ट्रीय हित में एक प्रगतिशील संगठन बनाने की भूमिका निभा सके।

आर्य समाज की शक्ति

उपरोक्त भूमिका आर्य समाज तभी निभा सकता हैं जब वह अपनी यह स्वतंत्र स्थिति बनाये रख सके और ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित तथा उनके क्रान्तिकारी वेद भाष्य पर आधारित धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं को वर्तमान हिन्दू धर्म के स्थान में स्थापित कर सके।

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयानन्द केवल एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक ही नहीं थे वे एक राजनैतिक विचारक भी थे। आधुनिक भारत के नेताओं में वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह घोषणा की थी कि सुराज्य, स्वराज्य का विकल्प नहीं हो सकता। प्रजातन्त्र के भी वे उतने ही असंदिग्ध समर्थक थे। इसमें शक नहीं कि उनका वैदिक समाजवाद ईश्वर विरोधी साम्यवाद तथा पश्चिम के भौतिक समाजवाद से भिन्न था किन्तु फिर भी वह सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय और समानता पर उतना ही आधारित था जितने कि उपरोक्त अन्य वाद।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्य

यद्यपि आर्य समाज का अपना राजनैतिक दर्शन है, फिर भी वह आजकल के प्रचलित संकुचित अर्थ में राजनैतिक संगठन नहीं है। हमारे देश की परिस्थिति में हम उसे राष्ट्रीय आन्दोलन कह सकते हैं जिसका देश और उसकी जनता के हित और कल्याण के प्रत्येक प्रश्न पर अपना एक निश्चित दृष्टिकोण है किन्तु उसने अपने आप को सत्ता की दलगत राजनीति से अलग रहने का सही निर्णय किया है और इसीलिये राजनैतिक चुनावों में वह अपनी ओर से कोई उम्मीदवार खड़ा नहीं करता है। उसका प्रत्येक सदस्य किसी भी राजनैतिक दल का समर्थन करने में स्वतन्त्र है बशर्ते कि वह दल आर्य समाज की धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं का विरोधी न हो। ऐसी स्थिति में जो लोग उसे दलगत राजनीति में घसीटने का प्रयत्न करते हैं वे न केवल उसके वास्तविक स्वरूप को विकृत करने का प्रयत्न करते हैं बल्कि उसके व्यापक सार्वभौम लक्ष्य और अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को भी धूमिल करते हैं। वस्तुतः ऐसा करना उसकी उच्च राष्ट्रीय भूमिका के भी अनुकूल नहीं है। सत्ता की राजनीति तात्कालिक और अवसरवादी होती है जबकि राष्ट्रीय हित चिरस्थायी और व्यापक होता है और इसीलिये राजनीतिक दलबन्दी से पृथक् रह कर यदि आर्य समाज अपनी इस राष्ट्रीय भूमिका को निभाना

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहता है तो उसे प्रत्येक प्रश्न पर स्वतन्त्र दृष्टि से विचार करने का अपना अधिकार अक्षुण्ण रखना चाहिये। उसके सार्वभौम धार्मिक और सामाजिक लक्ष्य की दृष्टि से भी यह आवश्यक है।

यह खेद की बात है कि भारत की स्वाधीनता के बाद आर्य समाज तथा हमारे देश के अन्य सामाजिक और धार्मिक महान् सुधारकों की अनेक उपलब्धियां समाप्त नहीं तो ओझल होती जा रही हैं जब कि वस्तुस्थिति यह है कि हमारे देश की राष्ट्रीय जागृति और पुनर्निर्माण का वास्तविक आधार ये धार्मिक और सामाजिक सुधार ही थे। अन्य देशों के समान भारतीय राष्ट्रीयता का प्रारम्भ न आर्थिक कारणों से और न ही राजनैतिक आदि इतिहास परिचित अन्य कारणों से हुआ है। इसलिये यह आश्चर्य और दुख की बात है कि स्वाधीनता के बाद जात-पांत के भेद, छुआ-छूत का कलंक तथा क्षेत्रीय और भाषाई पृथकतावादी प्रवृत्तियाँ पुनः उभरने लगी हैं जिसका मुख्य कारण सत्ता की राजनीति है जिसमें इन सब बुराइयों का स्वार्थी तत्व लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। सार्वजनिक जीवन में भी पहले की मर्यादायें और गरिमाऐं कमजोर होती जा रही रही हैं। जनता पार्टी के संक्षिप्त राज्य काल में प्रायः सब दलों के राजनैतिक नेताओं ने जिस स्वार्थ-परता और सत्तालोलुपता तथा अदूरदर्शिता का परिचय दिया वह भी राष्ट्रीय हित की दृष्टि से अत्यन्त निराशाजनक अनुभव था।

धर्म निरपेक्षता की विकृति

आर्य समाज सदा धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिक संकीर्णता, जात-पांत, छूआ-छूत व स्त्रियों पर अन्याय का विरोधी रहा है किन्तु गत वर्षों में कुछ क्षेत्रों में देश में जो अवनति हुई है उससे स्पष्ट है कि इन तथा ऐसी अन्य समस्याओं का हमारे राजनैतिक नेता समाधान नहीं कर सकते क्योंकि उनको बनाये रखने में ही उनका स्वार्थ निहित है। साम्प्रदायिकता का विरोध और धर्म निरपेक्षता का समर्थन भी केवल नारों तक सीमित है। साम्प्रदायिकता के विरोध क

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्र के समान रटने वाले राजनैतिक नेता भी चुनावों के समय उसका सहारा लेते हैं, और इस प्रकार उसे बनाये रखने में सक्रिय सहयोग देते हैं। धर्म निरपेक्षता की व्यवहार में जो विकृति की गई है उसका संसार के किसी अन्य धर्म निरपेक्ष राज्य में उदाहरण नहीं मिल सकता। धर्म निरपेक्षता आधुनिक राष्ट्रीयता के समान पश्चिम की देन है। वहां धर्म निरपेक्षता का सही अर्थ यह समझा जाता है कि राज्य का किसी भी धर्म विशेष से ममत्व, पक्षपात और सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत हमारी धर्मनिरपेक्षता व्यवहार में "सर्व धर्मसापेक्षता" का विचित्र उदाहरण बनती जा रही है। यदि राज्य का किसी एक धर्म से सम्बन्ध या किसी एक धर्म के प्रति निष्ठा धर्म निरपेक्षता और राष्ट्रीय हित के प्रतिकूल है तो सब धर्मों के प्रति निष्ठा या सम्बन्ध कितना अधिक अहितकर हो सकता है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुत: गत 38 वर्षों में और विशेष कर पंडित जवाहरलाल नेहरू के बाद सर्व धर्मसापेक्ष इस विचित्र धर्म निरपेक्षता का जो परिणाम निकला है वह हमारे सामने है। परस्पर विरोधी या एक दूसरे को अपने में हजम करने के उत्सुक धर्मों के प्रति समान आस्था रखने की बात एक विरोधाभास है। सब धर्मों के प्रति एक सी उदासीनता तो समझ में आ सकती है जब तक कि वे एक दूसरे या देश के हित में बाधक न हों किन्तु, भारत जैसे धर्मों के अजायबघर में प्रचलित चित्र विचित्र सब धर्मों के विश्वासों, मान्यताओं और रीति-रिवाजों के प्रति कोई बुद्धिवादी व्यक्ति समान आस्था कैसे रख सकता है यह समझने में नहीं आता। राज्य के समान व्यक्ति के लिये भी यह उपयुक्त है कि वह धार्मिक विश्वासों के क्षेत्र को व्यक्तिगत जीवन तक सीमित समझे और हम सब धर्मों के अनुयायियों को अपने विश्वास और विचारों का पालन करने के लिए छूट देवे जब तक कि उसके कारण दोनों की स्वाधीनता पर आघात नहीं पहुँचता। श्री जवाहरलाल नेहरू ने यथासम्भव इसी नीति का पालन किया किन्तु उनके बाद धर्म निरपेक्षता और सर्व-धर्म समन्वय के नाम पर पुन: वे सब अन्धविश्वास और दकियानूसी विचार और मान्यताएं

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उभर रही हैं जिनका स्वयं हमारे राष्ट्रीय नेता आधुनिकता, विज्ञान, तर्क और बुद्धि के नाम पर विरोध करते रहे हैं। आज सर्वत्र तांत्रिकों, ज्योतिषियों, गुरुओं, नकली सन्तों और मनुष्यरूपी भगवानों का बोलबाला है। मन्दिरों मस्जिदों, कब्रों और गुरुद्वारों या चर्चों को स्थानों से धार्मिक राजनैतिक महत्व प्राप्त हो रहा है। प्रत्येक राजनैतिक नेता और मन्त्री इन सब धार्मिक स्थानों की जियारत या तीर्थ करना अपना सरकारी कर्तव्य समझने लगे हैं। गुरुद्वारे और मस्जिद जैसे धार्मिक स्थान राजनैतिक ही नहीं बल्कि हत्या और अपराध करने वालों के लिये अभयदान के केन्द्र तक बन गये हैं। जैसा कुछ उग्रवादी सिखों के उदाहरण और प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की निर्मम और विश्वास-घाती हत्या से जाहिर है। वास्तविक धर्म के प्रति यह निष्ठा कितनी खोखली और विडंबनापूर्ण है यह इसी से स्पष्ट है कि हमारे सार्वजनिक और राजनैतिक नेताओं के व्यक्तिगत जीवन में सत्य, अहिंसा, न्याय, मानव सेवा और नैतिक व्यवहार, जो धर्म के वास्तविक लक्षण हैं उनका लोप होता जा रहा है। साम्प्रदायिकता का विरोध और धर्म निरपेक्षता का जयघोष करने वाले प्रायः सब नेता अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन में जात-पांत, छुआ-छूत ही नहीं बल्कि उन संकीर्ण सामाजिक और धार्मिक परम्पराओं का पालन करते हैं जो हमारे सर्वमान्य आदर्शों के सर्वथा विपरीत है। जात-पांत की संकीर्णता तो धार्मिक साम्प्रदायिकता से भी अधिक अनिष्टकारी है। कुछ राजनैतिक दल और नेता तक इन के नाम पर पुनः धार्मिक अल्पमत के लोगों के लिए राजनैतिक सुरक्षा तथा पृथक्ता की मांग तक करने लगे हैं जिसके कारण देश का विभाजन हुआ और जिसके आधार पर अंग्रेजों ने इस देश पर दीर्घकाल तक शासन किया। हमारे संविधान में भी इनका स्पष्ट निषेध है किन्तु फिर भी व्यवहार में उन्हें पुनः प्रोत्साहन दिया जा रहा है। आर्य समाज के सम्बन्ध में अनभिज्ञता या दुर्भावना के कारण और स्वयं जात-पांत, छूआ-छूत तथा संकीर्ण साम्प्रदायिक और धार्मिक अन्धविश्वासों का अपने जीवन में व्यवहार करने वाले कुछ

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग आर्य समाज को भी तथा कथित उदार हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय बनाना चाहते हैं किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि कांग्रेस के जन्म से भी पूर्व आर्य समाज ही एक ऐसा राष्ट्रीय आन्दोलन था जिसने इन सब संकीर्णताओं का विरोध किया और ऐसा करते समय न उनका कोई राजनैतिक स्वार्थ था और न ही चुनावों में सफलता प्राप्त करने जैसा हित था। उसने यह सब अपने उन मौलिक सिद्धान्तों के कारण किया जिस के अनुसार वह सब मनुष्यों को एक ईश्वर की सन्तान समझ कर मनुष्य मात्र के कल्याण और भ्रातृभाव में विश्वास करता था। आर्य समाज की प्रेरणा का स्त्रोत कोई भौतिक लाभ नहीं था अपितु ऋषि दयानन्द का वह धार्मिक और सामाजिक दर्शन था जिसमें जात-पांत, छूआ-छूत, संकीर्ण साम्प्रदायिकता तथा ऊपर वर्णित अन्धविश्वासों के के लिये कोई स्थान नहीं था।

इसीलिये मेरा विश्वास है कि धार्मिक पुनः जागृत होकर आर्य समाज इन समस्याओं का आज भी निराकरण करने में सबसे अधिक योगदान दे सकता है जैसे स्वाधीनता के पूर्व उसने दिया था।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 1

विज्ञान और धर्म

साधारणतया यह माना जाता है कि धर्म की तर्क एवं विज्ञान के साथ संगति नहीं बैठ सकती। इसका कारण यह है कि अधिकतर धर्मों में अनेक अन्धविश्वास प्रचलित हैं। इसी प्रकार इन धर्मों की कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं कि जिनका आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में समर्थन नहीं किया जा सकता। जैसे जैसे विज्ञान का क्षेत्र बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे प्रकृति के रहस्य न तो अगम्य और अभेद्य समझे जाते हैं और न ही मनुष्य की सामर्थ्य से परे होते हैं। अतएव इन पुराने रहस्यों के आधार पर स्थित धर्म के प्रति न आदर रहता है नही और मनुष्य के मन में अज्ञात के प्रति भय है। इसलिए इन अन्धविश्वासोंपर से आस्था उठती जाती है और परिणामतः उन धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं के प्रति भी विश्वास उठता जाता है, जिनका आधार वे अन्धविश्वास थे। कुछ धर्म इसलिए इन अंधविश्वासों को प्रतिकात्मक बताकर बचाने का असफल प्रयत्न करते हैं अथवा इन धर्मों के नये सुधारक उन अन्धविश्वासों का परित्याग करने का उपदेश देकर धर्म को तर्कसंगत बनाने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये यह कहा जाता है कि जैसे-जैसे ज्ञान बढ़ता जाता है, वैसे वैसे धर्म पीछे हटता जाता है। ऐसी स्थिति में भविष्य में, और कुछ लोगों के लिए वर्तमान में भी, धर्म शब्द के स्वीकृत अर्थ में धर्म के लिए न तो कोई स्थान है और न उसकी कोई आवश्यकता प्रतीत होती है। यह विचित्र बात है कि इस्लाम, ईसाई तथा पौराणिक हिन्दू धर्म जैसे अपेक्षाकृत नये धर्मों में वैदिक धर्म जैसे पुराने धर्म की तुलना में अधिक अन्धविश्वास है। इस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का कारण यह हो सकता है कि विभिन्न देशों में विभिन्न अवसरों पर तथा विभिन्न कालों में वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक दशाओं में उतार-चढ़ाव होते हैं। परिणामस्वरूप शंका तथा अनास्था का संकट उन धर्मों में, चाहे वे नये हों या पुराने अधिक होता है, जिनमें अन्धविश्वास की मात्रा अधिक होती है। उदाहरण के लिए इस युग में भी फलित ज्योतिष में विश्वास हिन्दू धर्म का सबसे अधिक निर्बल पहलू है। सूर्य या चन्द्र ग्रहण जैसी सामान्य प्राकृतिक घटनाएं अब भी शिक्षित हिन्दुओं तक के मन में बुद्धि विरुद्ध भय उत्पन्न करती हैं।

आधुनिक विचार

धर्म की आधुनिक अवधारणा मुख्यतः मानव की अध्यात्मिक आवश्यकता पर आधारित है। इसलिए प्रत्येक प्रकृति के रहस्य की खोज को वैज्ञानिकों के लिए छोड़ देना चाहिए और धर्म को केवल आत्मा और परमात्मा से सम्बद्ध समस्याओं तक सीमित रखना चाहिए, क्योंकि जहां अध्यात्मिक प्रथा सम्भवतः सदा ही भौतिक विज्ञान के क्षेत्र से बाहर रहेंगे वहाँ प्राकृतिक रहस्य दैवी चमत्कार नहीं बने रहेंगे।

परमेश्वर

परमेश्वर या किसी दैवी सत्ता में विश्वास प्रत्येक धर्म के लिए आवश्यक है। वैज्ञानिक ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ किसी मानवीय क्षमता से ऊपर सत्ता की आवश्यकता निःसन्देह बहुत कम हो गई है। परमेश्वर और उसके सिंहासन का स्थान पृथ्वी से जितना ऊपर समझा जाता था वहाँ मानव या उसका खोजी यान पहुंच चुका है और साथ ही अन्यत्र स्वर्ग-नरक का अस्तित्व होने की कल्पना विश्वसनीय नहीं रही है। इसी प्रकार रोगों और अन्य शारीरिक व मानसिक दुःखों आदि जिन विपदाओं का सम्बन्ध कभी परमेश्वर से जोड़ा जाता था वे अब

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
औषधि विज्ञान के विषय बन गये हैं। परमेश्वर की दुहाई देकर पाप अब भय उत्पन्न नहीं करते उनमें से प्राय: सब अपराधों के रूप में राज्य के अधिकार क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिये गये हैं। किन्तु अब भी ईश्वर की आवश्यकता समाप्त नहीं हुई है। किन्तु उसे अब विश्व के वैधानिक अधिपति के रूप में स्वीकार किया जाता है। ईश्वर में विश्वास करना सम्भवत: मनुष्य की प्रकृति का अविभाज्य अंग है, अथवा आत्मा के साथ उसका कुछ स्वाभाविक सम्बन्ध है। अतएव मनुष्य किसी ऐसी सर्वोपरि सत्ता अथवा आश्रय स्थल में विश्वास किये बिना संतुष्ट नहीं होता। इस विश्वास के माध्यम से उसे मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक शान्ति मिलती है। सम्भवत: इसीलिए कुछ आजीवन पक्के नास्तिक तक अपने अन्तिम दिनों में इस आवश्यकता के विवश हो जाते हैं। अवतार अथवा अन्य साकार ईश्वरीय सत्ता के स्थान में किसी ऐसी दैवी अथवा प्राकृतिक शक्ति को स्वीकार करना वैज्ञानिक और नास्तिक भी स्वीकार करने लगे हैं जिसके कार्य और अधिकार सीमित हों, और ईश्वरीय सत्ता तथा आवश्यकता के अनुरूप हों किन्तु साथ ही मानव की स्वतन्त्रता और पृथक् अस्तित्व के प्रतिकूल न हों। शायद इसी प्रकार एक संस्था के रूप में धर्म और उसके आधार के रूप में परमेश्वर का अस्तित्व और उपयोग चिरकाल या लम्बे समय तक बना रह सकता है जैसा प्रजातन्त्र के युग में भी संवैधानिक राजा का अस्तित्व बना रह सकता है।

धर्म की सीमाएँ

आज धर्म के लिए तीसरी चुनौती हमारे वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का गैर धार्मिक पहलू है। पुराने धर्मों में मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को अपने क्षत्र में रखने का कुछ भी कारण अथवा औचित्य रहा हो। आज धर्म तभी जीवित रह सकता है, जब वह अपने आपको परमेश्वर और आत्मा से सम्बद्ध मामलों तक सीमित रखे और शेष मामलों को अन्य सामाजिक, राजनैतिक अथवा सम्बद्ध संस्थाओं को सौंप दे। दूसरे शब्दों में, एक तरफ धर्म

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और दूसरी तरफ अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक कर्तव्यों के बीच पूरी पृथक्ता रहनी चाहिये टकराव नहीं। धर्म निरपेक्षता यानी राज्य और धर्म की पृथक्ता का यही सही अर्थ है।

धर्म और राज्य

उदाहरण के लिए एक समान कानून संहिता (Common civil code) द्वारा विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि अन्य वैयक्तिक सम्बन्धों में इसका पालन हो सकता है। ये सब अब तक धर्म का भाग थे और अब भी इस्लामी धार्मिक राज्य व्यवस्थाओं में है। लोकतन्त्रीय समाजवाद पर आधारित राज्य को इन सब तथा ऐसी अन्य समस्त मानवीय आवश्यकताओं का स्वयं या स्वतंत्र संगठनों द्वारा नियमन करना चाहिये। जिसका अर्थ राजकीय एकाधिकार या नियंत्रण नहीं अपितु समन्वय है। आज नैतिकता की अवधारणा भी गैर धार्मिक हो गई है हमारी सम्मति में यही एक मार्ग है, जिससे हम समस्त धर्मों का सम्मान कर सकते हैं, चाहे हम सभी को सही समझते हो अथवा सबको अपूर्ण, वैसे भी आध्यात्मिक या आत्मिक क्षेत्र राज्य की बाहरी सत्ता या जोर जबरदस्ती से नियमित नहीं किये जा सकते।

आर्य समाज की स्थिति

अब आइये, हम आर्य समाज के इस दावे की परीक्षा करें कि वह एक तर्कसम्मत एवं विवेकपूर्ण धर्म की समस्त आवश्यकताओं को अन्य धर्मों की तुलना में कहीं अधिक पूरी करता है। इसी आधार पर स्वामी दयानन्द ने समस्त विश्व को आर्य बनाने का (कृण्वन्तो विश्वमार्यम्) आदेश दिया है।

यदि हम आर्य समाज के संविधान, संगठन और धार्मिक सिद्धान्तों पर विचार करें तो हमें लगेगा कि उनमें एक सुनिश्चित विश्वास तथा जीवन के प्रति एक प्रगतिशील दृष्टि का समन्वय किया गया है, यह एक बहुत सुखद

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
परन्तु कठिन मिश्रण है। बिना निश्चित विश्वास अथवा स्पष्ट आस्थाओं के आर्य समाज एक संगठित धर्म नहीं रह सकता था। साथ ही साथ सत्य को स्वीकार करने तथा असत्य को छोड़ देने की अपनी मान्यता के बिना वह विवेकसम्मत और प्रगतिशील भी नहीं रह सकता। यही स्वाधीनता आर्य समाज के चतुर्थ नियम में प्रतिपादित है। जिसमें कहा गया है कि सत्य के ग्रहण करने और असत्य के त्यागने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। आर्य समाज का दावा है कि उसका वैदिक धर्म मनुष्य मात्र के इस लोक तथा परलोक दोनों के लिये एक समग्र जीवन दर्शन देता है। जैसा यतो अभ्युदय: निश्रेयससिद्धि सः धर्मः में कहा गया है।

स्वामी दयानन्द के वेद पर आधारित सिद्धान्त आर्य समाज के धर्म के आधार है। इनकी पृथक् से चर्चा की जाएगी, जहां हमें उनका स्पष्ट परिचय मिल जाएगा किन्तु उस की कुछ मुख्य विशेषताओं का वर्णन यहां प्रासंगिक होगा।

नियमों की सार्वभौमिकता

आर्य समाज के दस नियमों की सार्वभौमिकता तथा उदारता और उपयोगिता की सर्वत्र व्यापक रूप से प्रशंसा की गई है। वस्तुत: उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द ने केवल इन दस नियमों को ही उसके सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों के रूप में प्रस्तुत किया था, आर्य समाज में सम्मिलित होने के लिये उनमें आस्था प्रकट करने के अतिरिक्त अन्य कोई शर्त नहीं थी। इन नियमों में से प्रथम दो का ईश्वर पर विश्वास से सम्बन्ध है। तृतीय नियम वेदों को सारे सत्य ज्ञान का आधार मानता है। ये तीन नियम एक संगठित तथा निश्चित धर्म की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। दूसरे तीन नियम आर्य समाज आन्दोलन के व्यापक क्षेत्र तथा सार्वभौमिकता पर बल देते हैं। वे ऐसे हैं जिन्हें किसी भी धर्म, राष्ट्रीयता, जाति नस्ल, तथा विश्वास के लोग सरलता से स्वीकार कर सकते हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौथा नियम तो धर्मों के इतिहास में अभूतपूर्व है। इसे कोई अन्य धर्म अपने अनुयायियों के लिए स्वीकार करने का साहस नहीं कर सका है, इसमें कहा गया है कि हमें सत्य को ग्रहण करने तथा असत्य का परित्याग करने के लिए सदैव उद्यत रहना चाहिये। दयानन्द मनुष्य मात्र को समस्त अंधविश्वासों के चंगुल से मुक्त करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने घोषणा की थी कि मैं ऐसे सार्वभौम एवं सबको स्वीकार्य नियमों पर आधारित धर्म में विश्वास करता हूं, जिनको मनुष्य मात्र सदैव सत्य स्वीकार करता रहा है और जो समस्त मानवीय विश्वासों के टकराव से ऊपर है। मेरा एक मात्र उद्देश्य सत्य में विश्वास करना तथा अन्यों को सत्य में विश्वास करने में सहायता देना है।

पांचवां नियम इस बात पर बल देता है कि सत्य को केवल स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। हमारे समस्त व्यवहार और कार्य भी जो हम सत्य समझते हैं सके अनुसार होने चाहिये।

छठा नियम आर्य समाज के सार्वभौम उद्देश्य का प्रमाण है। उसमें कहा गया है कि—संसार का उपकार करना आर्य समाज का मुख्य उद्देश्य है। इस नियम का और आगे विस्तार करके-उपकार-की व्याख्या व्यक्ति और समाज दोनो का सर्वतोन्मुखी कल्याण इस का आधार है। व्यक्तिगत कल्याण में उसका शारीरिक और आत्मिक दोनों प्रकार का हित निहित है और अन्त में हमें यह स्मरण कराया गया है कि व्यक्तिगत कल्याण और सामाजिक हित एक दूसरे में निहित है। यह बात महत्वपूर्ण है कि छठा नियम दसों नियमों में सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। सम्भवत: इसका कारण यह है कि शेष समस्त नियमों का पालन इस नियम के माध्यम से किया जा सकता है। आर्य समाज इस उद्देश्य को समाज कल्याण और लोकहित की व्यापक योजनाओं तथा कार्यों द्वारा पूरा करता रहा है। इन्हीं कार्यों के द्वारा उसने उन्नीसवीं शती के भारत का महान् सुधार आन्दोलन होने का यश प्राप्त किया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातवां नियम सामाजिक व्यवहार का एक समन्वित आदर्श प्रस्तुत करता है। उसमें जहां यह कहा गया है कि हमारे संपूर्ण व्यवहार का आधार प्रेम और स्नेह होना चाहिए वहां अन्यों के साथ व्यवहार करते हुए हमें यह भी ध्यान रखने को कहा गया है कि जो व्यक्ति जिस योग्य हो उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिये न्याय और समानता के सिद्धान्तों का इससे अच्छा समन्वय और क्या हो सकता है ?

आठवां नियम कहता है कि हमें विद्या का प्रचार तथा अविद्या का नाश करना चाहिए। देश भर में फैले हुए डी.ए.वी. कॉलेज और स्कूल तथा गुरुकुल इसीलिए आर्य समाज ने स्थापित किए हैं।

नवमें नियम को तो आधुनिक समाजवाद का आधार कहा गया है। स्वामी दयानन्द ने इसके द्वारा इस बात की घोषणा की है कि व्यक्तिगत कल्याण सामाजिक कल्याण के विना संभव नहीं है अत: यह नियम कहता है कि "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए किन्तु सब की उन्नति में ही अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" व्यक्ति और समाज का हित दोनों एक दूसरे पर निर्भर है यह सत्य इस नियम द्वारा उजागर होता है।

दसवें नियम में आधुनिक लोकतन्त्र की सफलता का रहस्य निहित है अनेक विदेशी भारतीय प्रेक्षकों ने इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया है कि विशुद्ध प्राचीन संस्कृति में शिक्षित-दीक्षित स्वामी दयानन्द ने यह सर्वथा आधुनिक और पाश्चात्य समझी जाने वाली घोषणा इतने पहले किस प्रकार की। यह नियम हमें याद दिलाता है कि व्यक्तिगत क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्रता का त्याग किये बिना हम समाज के कल्याण का व्यापक हित प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने आर्य समाज के अंतिम दो नियमों में समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों को किस प्रकार व्यावहारिक बनाया जा सकता है इस सम्बन्ध में हमारा सुन्दर मार्गदर्शन किया है। हमारे संविधान में इन दोनों का समावेश उनके अनेक वर्षों बाद किया गया। वस्तुतः वैदिक समाजवाद

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्रजातन्त्र दोनों पर आधारित यदि कोई सबसे पहला भारतीय संगठन है तो वह आर्य समाज है।

शुद्ध एकेश्वरवाद :

आर्य समाज परमेश्वर और मनुष्य के बीच किसी मध्यस्थ को स्वीकार नहीं करता। वस्तुतः इस विचार को केवल एक परमेश्वर में सच्चे विश्वास के विरुद्ध मानता है। स्वामी दयानन्द के विचारानुसार वास्तविक अर्थ में एकेश्वरवाद और किसी पैगम्बर, उद्धारक अथवा गुरु की मध्यस्थता परस्पर विरोधी मान्यताएं हैं। परमेश्वर की एक मात्र एवं उच्चतम स्थिति के जिस एकेश्वरवाद में आर्य समाज विश्वास करता है वह इसीलिए इस्लाम के एकेश्वर वाद से भिन्न और श्रेष्ठ है।

आर्य समाज के एकेश्वरवाद की एक और विशेषता यह है कि वह किसी शरीरधारी सत्ता अथवा व्यक्तिगत परमेश्वर में विश्वास नहीं करता, अतः उसके स्वर्ग में रहने अथवा अवतार के रूप में जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। उसका प्रथम नियम कहता है कि ईश्वर सब सत्य विद्याओं का आदि मूल है। दूसरे नियम में ईश्वर के स्वरूप की समस्त महत्वपूर्ण विशेषताओं का वर्णन किया गया है। परमेश्वर निराकार हैं, अतः उसका कोई व्यक्ति होना अथवा भौतिक अस्तित्व होना असंगत है। इसीलिए वह सर्वव्यापक, अजन्मा, अमर, अभय तथा अजर भी है। हम यह भी कह सकते हैं कि यदि ईश्वर है, तो वह ऐसा ही हो सकता है कि जो इस नियम में गिनाई हुई समस्त विशेषताएं रखता हो अन्यथा उसके अस्तित्व के विषय में अनेक असंगतियों और परस्पर विरोधी मान्यताओं का सामना करना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, यदि वह जन्म लेता है तो वह अमर नहीं हो सकता। यदि उसका कोई निवास स्थान अथवा शरीर है तो वह सर्वव्यापक तथा सर्व-शक्तिमान् नहीं हो सकता। यदि वह न्यायकारी और दयालु दोनों है, तो वह चाहे जिसे सुखी और चाहे जिसे दुखी नहीं कर सकता और न प्रार्थनाओं

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से प्रसन्न तथा उपेक्षा से रुष्ट हो सकता है। दूसरे शब्दों में, दयानन्द के ईश्वर का स्वरूप इतना तर्कसम्मत है कि वह जहां एक तरफ मनुष्य की ईश्वर में विश्वास करने की स्वाभाविक आकांक्षा को सन्तुष्ट करता है वहां दूसरी तरफ आधुनिक विज्ञान तथा भावी ज्ञान में प्रगति के बावजूद भी ईश्वर के अस्तित्व को चुनौति से सुरक्षित रख सकता है। परमेश्वर कोई व्यक्ति होता तो आधुनिक युग में उसके अस्तित्व तक को सिद्ध करना कठिन हो जाता। वह तो एक ऐसी शक्ति है, जिसे प्रकृति के नियम के रूप में ही सही नास्तिक भी स्वीकार कर सकते हैं। इसी प्रकार वेद भी किसी पुस्तक मात्र का नाम नहीं है। प्रारम्भ में वे पुस्तक के रूप में थे भी नहीं। वे सम्पूर्ण सत्य ज्ञान के पर्याय या प्रतीक हैं। वस्तुतः वेद शब्द उस विद् धातु से बना है, जिसका अर्थ जानना होता है अतः उसका अर्थ हुआ ज्ञान। अतः मानवीय ज्ञान अथवा विज्ञान में होने वाली प्रगति का आदि स्रोत वेद को माना गया है।

मेरी सम्मति में एक धर्माचार्य के रूप में दयानन्द की स्थिति इसीलिए अभूतपूर्व है कि जहां प्रथम तीन नियमों में उन्होंने ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान जैसे धार्मिक विश्वासों के आधार पर आर्य समाज के संगठन की नींव रखी वहां चौथे नियम में हमें सत्य के ग्रहण करने असत्य के त्यागने में सर्वदा ही उद्यत रहना चाहिये यह भी उपदेश दिया। इस प्रकार जहाँ एक तरफ स्वामी जी ने ईश्वर और ईश्वरीय पुस्तक जैसी मान्यताओं को तर्क और बुद्धि सम्मत बनाने का प्रयत्न किया वहां उन जैसी अविचारणीय मान्यताओं को सत्यासत्य की कसौटी पर परिक्षण करने में स्वतन्त्रता प्रदान की जो संसार के धार्मिक इतिहास में अकल्पित बात है।

थोड़े और सादा कर्मकान्ड :

इन दो मूलभूत मान्यताओं के अतिरिक्त आर्य समाज के धार्मिक कृत्य तथा कर्मकान्ड बहुत थोड़े तथा बहुत सीधे-सादे हैं। दयानन्द ने स्वयं उनके

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुष्ठान की प्रक्रियाएं अपनी संस्कारविधि नामक पुस्तक में लिख दी है। उसमें मनुष्य के जीवन में आने वाले जन्म, उपनयन, विवाह तथा मृत्यु आदि अवसर, शकुन-अपशकुन मूहूर्त आदि ज्योतिषीय के अन्धविश्वासों का विचार किये विना वहुत सादगी के साथ मनाने का प्रावधान है केवल आत्मिक शान्ति के लिये प्रार्थना और ध्यान का प्रावधान है, इनके लिए भी न मन्दिर न मूर्तियाँ या किसी निर्धारित पवित्र स्थान (तीर्थ) की आवश्यकता है। प्रातः कालीन और सायंकालीन प्रार्थना (सन्ध्या) किसी भी स्थान पर दस मिनट में की जा सकती है। मन्दिर, नदियां तथा पर्वत ऐतिहासिक दृष्टि अथवा किसी अन्य कारण से महत्वपूर्ण हो सकती हैं, पर उसमें 'दिव्यता' जैसी कोई कल्पना नहीं की गई है। गाय भी कोई पवित्र या पूजनीय पशु नहीं माना गया है दयानन्द ने गाय की रक्षा की वकालत इसकी उपयोगिता के कारण की है। आर्य समाज उपवासों तथा रात्रि जागरणों को कोई धार्मिक महत्व नहीं देता। आर्य समाजी, जैसा कि सामान्यतया गलती से समझा जाता है, अग्नि की पूजा भी नहीं करते। केवल वेदमन्त्रों का स्मरण करने के लिए हवन अथवा यज्ञ किया जाता है। ऐसा भी अधिकतर विशेष अवसरों पर किया जाता है, और तव मन्त्रोच्चारण के साथ-साथ लोक भाषा में मन्त्रों की व्याख्या भी कर दी जाती है। किसी जीवित जागृत धर्म के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने अनुयायियों को सिद्धान्तों का ज्ञान देने के साथ-साथ उनका व्यावहारिक मार्ग निर्देशन भी करे। आर्य समाज यह काम बहुत सादे और सरल ढंग से करता है। इसकी मांगें न तो बहुत-सी हैं और न बहुत भारी। जो उच्च आध्यात्मिक क्षमता और शान्ति प्राप्त करना चाहते हो, वे योग और समाधी से उसे प्राप्त कर सकते हैं। स्वामी दयानन्द ने स्वयं योग के क्षेत्र में उच्चकोटि की दक्षता प्राप्त कर ली थी तथापि उन्होंने यौगिक सिद्धियों तथा चमत्कारों के प्रदर्शन की सदैव निन्दा की जिसे आज भारत के आधुनिक योगियों ने जादूगरों के समान एक व्यापार बना रखा है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य समाज की इन अनेक विशेषताओं के सम्बन्ध में अनेक ने विद्वानों ने प्रशंसा की हैं सर हर्बर्ट रिजले के शब्दों में—

"आर्य समाज ने बहुत प्राचीन एवं बहुत प्रसिद्ध धर्म ग्रन्थ के आधार पर एक निश्चित धर्म देकर हिन्दू धर्म के उलझे हुए जंगल को साफ करने का प्रयत्न किया है। उनका यह कार्य बड़ा साहसपूर्ण है।'

श्री ब्लट सन् 1911 की भारत की जनगणना की रिपोर्ट में कहते हैं कि "केवल आर्य समाज ने एक साहसपूर्ण एवं स्पष्ट धर्म प्रस्तुत किया है। सभी धर्मों में से चुनाव करना हो तो केवल आर्य समाज ही एक दृढ़ और स्पष्ट एकेश्वरवाद प्रस्तुत करता है। यह अपने अनुयायियों को उन सब अन्ध-विश्वासों का परित्याग करने का आदेश देता है जिनको वह अत्यधिक नापसन्द करता है और अपनी मान्यताओं तथा उपदेशों को केवल एक परमश्रद्धेय वेद पर आधारित करता है। वस्तुतः वह किसी और पर श्रद्धा करता ही नहीं है। यह मनुष्य को एक ऐसा धर्म देता है, जिसमें वह आसानी से आस्था रख सकता है, ऐसी धार्मिक रीतियाँ और संस्कार देता है, जिनको वह स्वयं क्रियात्मक रूप दे सकता है और अंत में मुक्ति की भी आशा देता है बशर्ते कि उसके कर्म अच्छे हों।"

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 2

आर्यसमाज अपने सही परिपेक्ष्य में

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा 6 अप्रैल, 1857 के दिन बम्बई में आर्य-समाज की स्थापना की शताब्दि सन् 1975 में पूरे भारत तथा विदेशों में अनेक स्थानों पर अत्यन्त उत्साह के साथ मनाई गई। उन अवसरों पर आयोजित रंग-बिरंगी शोभायात्राओं व विशाल जन-सभाओं ने सिद्ध कर दिया कि आर्य समाज अब भी एक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली संगठन है। राष्ट्रपति, प्रधान-मंत्री तथा अन्य विशिष्ट महानुभावों द्वारा आर्यसमाज द्वारा राष्ट्रीय एवं राज-नैतिक जागरण, सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों, शिक्षा-प्रसार तथा नारियों एवं पद-दलित वर्गों की मुक्ति के क्षेत्रों में की गई महान् सेवा तथा जनता को जातिवाद, पर्दाप्रथा तथा पुरोहित वर्ग के शिकंजों से छुटकारा दिलाने में उसकी भूमिका की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई।

किन्तु यह उचित नहीं होगा कि अपने इतिहास के शानदार भूत पर हम सन्तुष्ट होकर बैठ जाएं। यह आवश्यक है कि हम अपनी भूतकालिक सफलताओं का मूल्यांकन करें, जिससे कि हम ऐसे भावी कार्यक्रमों का निर्धारण कर सकें जिसके बल पर हम और अधिक महत्त्वपूर्ण सेवा एवं सफलता से परिपूर्ण एक और शानदार शताब्दी पूरी करने का सुनिश्चित सौभाग्य प्राप्त कर सकें।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज का वास्तविक स्वरूप

भविष्य के विषय में कुछ सोचने का उपक्रम करने से पूर्व यह आवश्यक है कि पहले आर्यसमाज की वास्तविक स्थिति को अच्छी तरह समझ लें। यह इसलिए आवश्यक है कि आर्यसमाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, वास्तविक कार्य क्षेत्र के विषय में बहुत-सी मिथ्या धारणाएं तथा व्याख्याएँ उपस्थित की जाने लगी हैं और जब तक इस पर सही चिन्तन नहीं होगा तब तक इसके महान् कार्य में या तो बाधाएँ उत्पन्न हो जाएँगी या वह गलत दिशा की ओर चलने लगेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आर्यसमाज का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी की विचित्र परिस्थितियों में सर्वतोमुखि सुधार तथा पुनर्जागरण के क्रांतिकारी आन्दोलन के रूप में हुआ था। स्वामी दयानन्द के विषय में यह ठीक ही कहा गया है कि उनका आगमन उन दिनों की प्रतिकूल परिस्थितियों में सबको आश्चर्यचकित कर देने वाली ऐतिहासिक घटना है। परन्तु आर्यसमाज न तो केवल एक सुधार आन्दोलन था और न उसे कभी इस रूप में आरंभ किया गया था। यदि ऐसा किया होता, तो यह भी अन्य सुधार आन्दोलनों की भांति तात्कालिक उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही समाप्त हो जाता, फिर तो भारत तथा विदेशों में इसकी हजारों शाखाओं तथा स्थायी रूप से चलाई जा रही संस्थाओं की आवश्यकता ही न होती।

केवल सामाजिक आन्दोलन नहीं

क्या आर्यसमाज ने अपना कार्य पूरा कर लिया? आर्यसमाज के बाहर ही नहीं, भीतर भी ऐसे लोग हैं, जो कहने लगे हैं कि आर्यसमाज ने हिन्दू समाज में सुधारों के लिए मार्ग तैयार करने के अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लिया है। आधुनिक हिन्दू धर्म स्वामी दयानन्द के बलिदान तथा उपदेशों और आर्यसमाज के नेताओं के अथक प्रयत्नों की गौरवपूर्ण उपलब्धि है। वे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संकेत करते हैं कि स्वतंत्र भारत का संविधान अपने निति निर्देशक सिद्धान्तों एवं मौलिक अधिकारों में प्रायः उन सब बातों को स्वीकार करता है, जिनका उपदेश एवं प्रचार आर्यसमाज करता रहा है। अस्पृश्यता को अवैध घोषित किया जा चुका है। जाति-भेद की कानूनी मान्यता समाप्त हो चुकी है। महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हैं। बाल-विवाह, पर्दा तथा दहेज की प्रथाएँ समाप्त हो रही हैं। स्वामी दयानन्द के दो स्वप्न—स्वदेशी और स्वराज्य, साकार हो चुके हैं। स्वामी दयानन्द ही थे, जिन्होंने स्वयं गुजराती होते हुए सर्वप्रथम यह घोषित किया था कि हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा होनी चाहिए। यह सब सत्य और सन्तोषप्रद है, पर यदि हम आर्यसमाज की स्थापना के उद्देश्यों तथा कार्य क्षेत्र का स्मरण करें, तो हमें यह अवश्य अनुभव होगा कि आर्यसमाज के उद्देश्य एवं कार्य बहुत अधिक दूरगामी थे। हिन्दू समाज का सुधार तथा भारत की स्वाधीनता इसके केवल प्रारम्भिक उद्देश्य थे। निसन्देह पुनरजिवित हिन्दू समाज देश की प्रगति पथ पर आगे बढ़ने के लिए आवश्यक आधार था। उसी तरह राजनीतिक दृष्टि से गुलाम भारत विश्व को एक सार्वभौम धर्म का उपदेश नहीं दे सकता था।

एक विश्व धर्म

यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है कि अपने जन्मकाल से ही आर्यसमाज का चिन्तन क्षितिज सम्पूर्ण विश्व को अपनी सीमा में समेटे रहा है। उसके दस नियमों का आधार इतना व्यापक है और वे इतने सार्वभौम हैं कि वे बड़ी सरलता से एक विश्वधर्म का आधार बन सकते हैं। छठा नियम कहता है "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" नवें तथा दसवें नियमों में समाजवाद एवं लोकतन्त्र दोनों का समावेश है। ये इस बात पर बल देते हैं कि व्यक्तिगत कल्याण को समाज के कल्याण के माध्यम से ही प्राप्त किया

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक को यह स्मरण कराया गया है कि वह अपने व्यक्तिगत मामलों में तो स्वतन्त्र है, पर साथ ही यह आवश्यक है कि सब समाज के कार्यों में समाज की सामान्य इच्छा के अनुसार चले। न तो इन नियमों में और न स्वामी जी की किसी पुस्तक में, कहीं भी केवल हिन्दुओं की मुक्ति की बात कही गई है। वस्तुतः ऐसा लगता है कि हिन्दू शब्द का प्रयोग जानबूझ कर टाला गया है। प्रत्येक स्थान पर आर्य शब्द का प्रयोग किया गया है, और वह भी इस शब्द के प्रचलित एक विशिष्ट नस्ल अथवा वर्ण के अर्थ में नहीं। स्वामीजी ने इस शब्द का प्रयोग इसके मूल संस्कृत अर्थ में किया है। संस्कृत भाषा में इस शब्द का अर्थ होता है, अच्छा, ईमानदार तथा वीर व्यक्ति, चाहे वह किसी जाति, धर्म अथवा राष्ट्रीयता का हो। स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित परोपकारिणी सभा के उद्देश्यों तथा उप-नियमों में उसके कार्यक्षेत्र के रूप में देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर अर्थात् विश्व के समस्त देशों, द्वीपों और बस्तियों की चर्चा की गई है। सम्पूर्ण विश्व को आर्य बनाने का उच्च आदर्श स्वामी दयानन्द ने अपने अनुयायियों के सामने प्रस्तुत किया। आज आर्यसमाज एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है, जिसकी शाखाएँ तथा मन्दिर पूरे भारत तथा विश्व में फैले हुवे हैं। एक हजार से अधिक शिक्षणालय तथा अन्य अनेक धार्मिक एवं दातव्य संस्थाएँ चलाई जा रही है।

आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का एक सुधरा हुआ रूप अथवा एक आंदोलन अथवा एक सामाजिक संगठन समझना एकदम गलत है। एक समय तो इसे केवल राजनीतिक ही नहीं, अपितु राजद्रोही संस्था तक समझा जाता था। इंग्लैंड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री रैमजे मैकडानल्ड के अनुसार, अंग्रेजी सरकार आर्यसमाज को एक गुप्त राजनीतिक आन्दोलन समझती थी। यही सर्वविदित सर वैलेंटाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन अनरेस्ट' में लिखा है कि अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध हिंसात्मक एवं क्रान्तिकारी गतिविधियाँ स्वामी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
दयानन्द के उपदेशों और आर्यसमाज के लाला लाजपतराय, भाई परमानन्द तथा अन्य नेताओं के क्रियाकलाप का सीधा परिणाम है । वैलेंटाइन शिरोल ने उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में अपनी भारत यात्रा के पश्चात् 'लंदन टाइम्स' में लिखा था--"स्वामी दयानन्द के उपदेशों का मुख्य अभिप्राय हिन्दू धर्म का सुधार करना बहुत कम और हिन्दुओं को इस विदेशी प्रभाव के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध के लिए भड़काना अधिक था जो उनकी सम्मति में उन्हें (हिन्दुओं को) राष्ट्रीयता से भ्रष्ट कर रहा था ।" शिरोल की यह बात इस रूप में बिल्कुल सही है कि आर्यसमाज की स्थापना के दस वर्ष बाद सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पूर्व आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसा संगठन था, जो राष्ट्रवाद का समर्थन करता था और अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सभ्यता को अभिमान की वस्तुएँ समझता था । दयानन्द के उपदेशों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जागृति तो होनी ही थी, पर वे चाहते थे कि आर्यसमाज अन्य क्षेत्रों में भी और अधिक व्यापक और स्थायी भूमिका निभाये ।

जैसा कि उन्होंने पूरे भारत में अपनी प्रचार यात्राओं और उपदेशों की अत्यधिक घनघोर सक्रियतापूर्ण अवधि और अपने द्वारा छोड़े हुए विशाल साहित्य में बार-बार स्पष्ट किया, कि उनका और उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज का उद्देश्य संसार में वेदों के सार्वभौम धर्म की पुनः स्थापना करना था ।

धर्मों की ऐतिहासिक परम्परा

विश्व के समस्त धर्मों का इतिहास है बताता कि प्रत्येक प्रचलित धर्म या तो अपने से पूर्ववर्ती पुराने धर्म का पुनरूत्थान होता है अथवा उसका सुधरा हुआ रूप होता है। इस कारण, यद्यपि स्वामी दयानन्द ने किसी नये धर्म के संस्थापक होने का दावा नहीं किया, तो भी उनके

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
देहावसान के पश्चात् आर्यसमाज जिस रूप में विकसित हुआ, उस रूप में वह अन्य धर्मों की भांति निःसंदेह एक पृथक् एवं भिन्न धर्म है । यह बात धर्म और उनके संस्थापकों के इतिहास से स्पष्ट है। वैदिक, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाइ तथा इस्लाम धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि नये धर्म का प्रत्येक संस्थापक किसी पुराने धर्म का संशोधक था और दयानन्द निश्चित रूप से ऐसे धर्म संस्थापक थे जिनका उद्देश्य केवल हिन्दू धर्म का संशोधन नहीं था अपितु वे हिन्दू धर्म के स्थान पर प्राचीन वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित करना चाहते थे ।

आर्यसमाज एक संगठित धर्म के रूप में

ऑक्सफोर्ड एडवान्स्ड डिक्शनरी ने धर्म की परिभाषा इस प्रकार की है—'प्रकृति और मनुष्य के ऊपर किसी बड़ी सत्ता में विश्वास जिसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति और ब्रह्माण्ड का नियन्त्रण होता है और जो मनुष्य को ऐसी आध्यात्मिक आशा देता है जो शरीर के नष्ट होने के बाद भी बनी रहती हैं ।'

आर्यसमाज के प्रथम दो नियम धर्म की दो आधारभूत शर्तों को पूरा करती हैं । प्रथम नियम घोषणा करता है कि परमेश्वर सम्पूर्ण सत्य-ज्ञान का आदिमूल है व दूसरा नियम परमेश्वर में आर्यसमाज के विश्वास की पुष्टि करता है और साथ में उसके एकेश्वरवाद की विस्तृत परिभाषा भी बताता है । ईश्वर-विश्वास ही धर्म की सामान्य और साथ ही साथ अनिवार्य आवश्यकता है । किसी भी संगठित धर्म के लिए यह आवश्यक है कि उसकी कोई धर्म पुस्तक हो । आर्यसमाज का तीसरा नियम इस शर्त को पूरा करता है । यह वेदों को ईश्वरीय पुस्तक घोषित करता है । एक संगठित धर्म की तीसरी आवश्यकता यह है कि उस धर्म का संस्थापक अथवा अन्वेषक हो । एक विशिष्ट अर्थ में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महर्षि दयानन्द आर्यसमाज के संस्थापक हैं। जो कोई व्यक्ति आर्यसमाज में सम्मिलित होना चाहता है, उसे लिखित रूप में यह घोषणा करनी पड़ती है कि उसे महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तों तथा समाज के दस नियमों में विश्वास है। लाला लाजपतराय के शब्दों में, स्वामी दयानन्द की आस्थाए ही आर्यसमाज का धार्मिक आधार हैं। अन्तिम बात यह है कि आर्यसमाज एक पृथक् संगठन है, जिसका अपना संविधान है। इस प्रकार आर्यसमाज विश्व के अन्य किसी स्वीकृत एवं सुस्थापित धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक सुनिश्चित्त धर्म का प्रतिपादक है।

यह हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं

फलतः आर्यसमाज के हिन्दू धर्म अथवा किसी अन्य धर्म का सम्प्रदाय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस मिथ्या धारणा को प्रथमतः ही दूर करने की आवश्यकता है, क्योंकि यह जितनी व्यापक है उतनी ही निराधार है।

यह भ्रमपूर्ण विचार

यह हिन्दू शब्द के अनिश्चित अर्थ में प्रयोग का परिणाम है। हिन्दू, हिन्दुत्व और हिन्दू धर्म इन तीनों शब्दों को एकार्थक समझना भी भूल है। कोई व्यक्ति हिन्दू धर्म में आस्था रखे बिना भी हिन्दू हो सकता है। विद्वान् इस बात पर एकमत हैं कि हिन्दू एक भौगोलिक शब्द है और किसी विशेष धर्म का अनुसार हुए विना हिन्दुस्तान का प्रत्येक निवासी हिन्दू है। भूगोल किसी धर्म का आधार हो ही नहीं सकता। जर्मनी अमेरिका तथा जापान की जनता का जर्मन, अमेरिकन अथवा जापानी धर्म नहीं है। इसी प्रकार हिन्दुस्तान में रहने वाली सभी हिन्दू कहे जाने वाले व्यक्तियों का भी हिन्दू धर्म नहीं है। यह कुछ दिन पहले तक अमरीकन लोग हिन्दुस्तान से आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू कहते थे ! अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के संस्थापक सर सैयद अहमद खाँ भी हिन्दुस्तान के निवासी होने के कारण अपने को हिन्दू मानते थे।

अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय प्रेक्षकों ने आर्यसमाज को हिन्दू धर्म को सुधारने तथा संगठित करने का श्रेय दिया है। कुछ प्रेक्षकों ने इसे हिन्दू धर्म का आक्रामक और संशोधित अथवा आधुनिक रूप कहा है। किन्तु दूसरी तरफ सर हर्बट रिजले ने चेतावनी दी थी कि हिन्दू धर्म अपने दार्शनिक **समझौतों के कारण उस ठंडी और भूरी राख के समान है जिसमें से देशभक्ति के उत्साह और उमंग की अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती।** यदि हिन्दू धर्म को इस योग्य बनाना हो कि वह अपने अनुयायियों में सक्रिय राष्ट्रीयता उत्पन्न कर सके तो उसे पर्याप्त रूप में संगठित और कठोर बनना होगा। वे आगे कहते हैं कि **सम्भवतः आर्यसमाज यह कार्य कर सके और इस दिशा में हिन्दू धर्म के घने जंगल में से कोई मार्ग निकाल सके, किन्तु इस कार्य में अनेक बाधायें हैं और उन्हें पार करने का रास्ता लम्बा है।**

एक प्रसिद्ध तात्कालीन आई. सी. एस. अधिकारी श्री ब्लन्ट ने हिन्दू धर्म और आर्यसमाज की तुलना करते हुये जो विचार व्यक्त किये हैं वे स्मरण रखने योग्य हैं। उनके अनुसार परम्परागत हिन्दू धर्म वास्तव में मनुष्य को धर्म-हीनता की ओर प्रवृत्त करता है। उसमें इस बात की सम्भावना बनी रहती है कि वह अपने अनुयायियों में सन्देह और शंका उत्पन्न करे, किन्तु जो धर्म श्रद्धा पर आधारित विश्वास के स्थान में कर्मकाण्डों और रीति-रिवाजों को महत्व देता है और उनमें से भी अधिकांश न समझ में आने वाले तंत्रों और मन्त्रों पर आधारित हो, उसका यह परिणाम होना अनिवार्य है। इसीलिये एक विचारशील व्यक्ति विवश होकर इसे छोड़कर अन्य धर्म स्वीकार करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति के सामने चार ही विकल्प रह जाते हैं। पहला है ब्रह्मसमाज जो लंगड़े संग्रहवाद से अधिक कुछ नहीं है। इसने वेदों को तो धता बता दिया है

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु उसके स्थान पर कुछ भी नहीं दिया। उसने एक विश्वास यहां से और एक वहां से ले लिया है, और जब कुछ सन्देह उत्पन्न होता है तब वह व्यक्ति को स्वयमेव निर्णय करने के लिये छोड़ देता है। ऐसे धर्म में जीवनी शक्ति का पूर्ण अभाव रहता है। ईसाइयत और इस्लाम की हिन्दू धर्म के साथ किसी भी रूप में पटरी नहीं बैठ सकती किन्तु आर्यसमाज की बात इससे भिन्न है।

श्री ब्लन्ट आगे लिखते हैं कि "आर्यसमाज की शक्ति और प्रभाव का एक कारण यह है कि जहां वह एक ओर हिन्दू बहुदेवतावाद के दकियानुसी और बिना शक्ल-सूरत की मान्यता से मुक्त है वहां वह ब्रह्मसमाज की सैद्धान्तिक निर्बलता से भी मुक्त है। केवल आर्यसमाज ही एक ऐसे धर्म का प्रतिपादन करता है जो स्पष्ट और साहसपूर्ण विश्वास पर आधारित है। यद्यपि यह सही है और साथ ही साथ आर्यसमाज के लिए सन्तोषप्रद भी है कि इसके धार्मिक उपदेश और सिद्धान्त नये और आधुनिक हिन्दू धर्म के आधार समझ लिये गये हैं,

आशाएं भंग हो गयीं

पर कुछ प्रश्न यह है कि क्या जैसा कि सर रिजले तथा ब्लन्ट ने अनुमान किया था क्या आर्यसमाज की धार्मिक शिक्षाओं ने पौराणिक हिन्दू धर्म का स्थान पूरी तरह ले लिया है? क्या हिन्दुओं के बहुदेवतावाद ने दयानन्द के एकेश्वरवाद का स्थान ग्रहण कर लिया है? क्या हिन्दुओं की विशाल बहुसंख्या ने अपनी सुविधापूर्ण सर्व-ग्राहकता तथा दार्शनिक समझौते के स्थान पर आर्यसमाज के सुनिश्चित और स्पष्ट विश्वासों को स्वीकार कर लिया है? क्या भारत की विशाल

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू जनता ने मृतकों को भोजन अर्पित करना तथा संदिग्ध चरित्र वाले मनुष्यों के चरणों में बैठकर करिश्मों की कामना करने जैसे अन्धविश्वासों का परित्याग कर दिया है ? निःसन्देह ये सब न केवल आर्यसमाज की अपितु बहुत से योग्य प्रेक्षकों की भी उसे कामना थी, किन्तु यह सत्य है कि हिन्दुओं की केवल अल्पसंख्या ने ही आर्यसमाज के शुद्ध एकेश्वरवाद और अन्य तर्कसम्मत उपदेशों एवं सिद्धान्तों को स्वीकार किया है। सन् 1931 की जनगणना के अनुसार आर्यसमाजियों की संख्या 30 लाख थी। सम्प्रति उनकी संख्या एक करोड़ हो सकती है पर साठ करोड़ सनातनी हिन्दुओं की तुलना में वह क्या है ?

वस्तुतः वे प्रबुद्ध एवं शिक्षित हिन्दू भी जो उसके सामाजिक तथा शैक्षिणिक कार्यों के लिए आर्यसमाज के प्रशंसक हैं और उसकी सहायता भी करते हैं, किन्तु वे भी उसके आधारभूत धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं कर सके हैं। महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति भी, जिन्होंने जातिवाद, अस्पृश्यता तथा बाल-विवाह आदि समस्त बुरी हिन्दू सामाजिक परम्पराओं को त्याग दिया था, निरन्तर बलपूर्वक कहते रहे कि मैं सनातनी हिन्दू हूँ और पुराणों और अवतारों, यहाँ तक कि मूर्तिपूजा में भी विश्वास करता हूं। यह सर्वविदित है कि इन सबका आर्यसमाज खण्डन करता है। आर्यसमाज के भविष्य के विषय में जो यह आशा तथा सम्भावनाऐ है कि यदि सब नहीं, तो अधिकतर हिन्दू भी इन धार्मिक अन्धविश्वासों को छोड़ देंगे, वे पूरी नहीं हुई।

स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज दोनों की यह निश्चित अपेक्षा थी कि उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म पूरी तरह से उसी प्रकार सनातन धर्म का स्थान ले लेगा, जैसे इस्लाम और ईसाइयत ने अपने-अपने देश में अपने से पुराने धर्मों का स्थान ले लिया है। परन्तु ऐसा नहीं हुआ।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर रिजले इसीलिए ने यह कहकर स्वयं अपना सन्देह प्रकट किया था कि हिन्दू धर्म का उलझा हुआ जंगल बाधाओं से पटा पड़ा है और रास्ता लम्बा है। के हिन्दू धर्म के स्थान क्षेत्र में आर्य समाज की स्थापना हो जाने के विषय में सर रिजले तथा ब्लन्ट की सद्भावनापूर्ण किन्तु गलत भविष्यवाणी के बावजूद, इतना तो स्पष्ट है कि उन्होंने आर्यसमाज तथा हिन्दू धर्म के अन्तर को बिल्कुल स्पष्ट समझ लिया था और इस प्रकार इस बात की सम्पुष्टि कर दी थी कि आर्यसमाज का कार्य क्षेत्र तथा उद्देश्य दोनों का अस्तित्व एकदम पृथक् एवं भिन्न है। मैंने अपनी अंग्रेजी की पुस्तक–दी आर्य-समाज हिन्दू विदाऊट हिन्दूइज्म–में आर्यसमाज के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यसमाज धार्मिक दृष्टि से वर्तमान हिन्दू धर्म से सर्वथा भिन्न है। इस तथ्य को समझ लेने के बाद ही हम आर्यसमाज को सही परिप्रेक्ष्य में देख सकते हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 3

आर्य समाज का शिक्षण कार्य

शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज ने जो विशाल और प्रशंसनीय कार्य किया है उसका हमारे देश की राष्ट्रीय जागृति तथा सामाजिक, धार्मिक, बौद्धिक चेतना और नव निर्माण में बड़े गौरव का स्थान रहा है। ऋषि दयानन्द की जिस बहुमुखी प्रतिभा और क्रान्तिकारी विचारधारा के कारण उन्हें स्वतन्त्र भारत का निर्माता समझा जाता है, उसमें शिक्षा क्षेत्र में दी गई उनकी नवीन प्रेरणा का प्रमुख स्थान है। गुरुकुल प्रणाली का पुनरुद्धार, स्त्री तथा शूद्रों या हरिजनों को पहली बार वेद तक की शिक्षा का अधिकार, हिन्दी तथा सस्कृत के माध्यम का उपयोग तथा अहिन्दी भारत में हिन्दी का प्रचार कार्य, उन्हीं की देन है। श्यामजी कृष्ण वर्मा आदि को विदेशों में शिक्षा के लिए जाने का उनका आदेश इस बात का प्रमाण है कि वे अपने देश की प्रगति के लिए विदेश यात्रा ही नहीं बल्कि कहा कि विज्ञान तथा टेक्नीकल शिक्षा और अंग्रेजी आदि भाषाओं के अध्ययन के भी समर्थक थे, बशर्ते कि हम उसके कारण अपने स्वयं की अपेक्षा न करें। यही कारण है कि उनकी स्मृति में स्थापित डी. ए. वी. स्कूलों तथा कॉलेजों ने इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर जहां अंग्रेजी भाषा तथा आधुनिक विज्ञान आदि की शिक्षा का प्रबन्ध किया वहां अपनी संस्थाओं में हिन्दी, संस्कृत के अध्ययन के साथ धार्मिक शिक्षा तथा राष्ट्रीय चेतना और सुधारवादी दृष्टिकोण को भी प्रोत्साहन दिया। परिणामस्वरूप जीवन के प्रायः सब क्षेत्रों में इन संस्थाओं

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में शिक्षित–दीक्षित, स्त्री–पुरुष एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। देश के स्वाधीनता संग्राम में भी उनकी एक बहुत बड़ी संख्य ने नेतृत्व और बलिदान देकर अपनी देशभक्ति का परिचय दिया है। गुरुकुल काँगड़ी आदि संस्थाओं ने तो सामूहिक रूप से इसमें भाग लिया। लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय के संस्थापक व प्रमुख संचालक थे। आधुनिक भारत के निर्माण में आर्यसमाज तथा उसकी शिक्षण संस्थाओं का जो योगदान रहा है उसके कार्य का दिग्दर्शन करने की दृष्टि से उनका पृथक् ऐतिहासिक विवेचन होना आवश्यक है।

डी. ए. वी. आन्दोलन

सन् 1886 में डी. ए. वी. हाई स्कूल लाहौर के रूप में वहां के प्रसिद्ध डी.ए.वी. कॉलेज की स्थापना का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करते हुए लाला लाजपत राय ने लिखा है कि किस प्रकार अंग्रेजी राज्य में स्वदेशी शिक्षा का यह पहला प्रयास था जिसका सारा प्रबन्ध, शिक्षण कार्य और आर्थिक उत्तरदायित्व बिना सरकार की सहायता के आर्यसमाज के प्रारम्भिक कार्यकर्त्ताओं ने स्वयं उठाकर स्वावलम्बन का एक ऐसा उदाहरण रखा जिसकी विदेशी सरकार पराधीन लोगों से अपेक्षा नहीं करती थी और इसी कारण आर्यसमाज और उसकी शिक्षण संस्थाओं को राजद्रोह के प्रचार का गढ़ समझा जाने लगा। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के जनक लार्ड मैकाले के लिये यह खुली चुनौती साबित हुई, क्योंकि उनकी दृष्टि में भारत में अंग्रेजी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य देश में काले अंग्रेजों की सृष्टि उत्पन्न करना था जो रंग में गोरे या विदेशी न होकर भी अपने धर्म विचार और संस्कृति में विदेशी अंग्रेजों की प्रतिमूर्ति हों। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं ने जहां भारतवासियों के लिए अंग्रेजी शिक्षा, विज्ञान और पाश्चात्य विचारधारा का ज्ञान सुलभ कराया वहां उन्हें अपनी संस्कृति, सभ्यता और धर्म से विमुक्त होने से भी बचा लिया।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य शिक्षण संस्था के प्रसिद्ध केन्द्र

सार्वभौम आर्यसमाज शिक्षण संस्था परिषद्, अजमेर की ओर से आर्य-समाज की शिक्षण संस्थाओं की सन् 1962 तथा 1981 में जो परिचय निर्देशिका प्रकाशित की गई है उसमें देश-विदेश में स्थापित डी.ए.वी. स्कूल, कन्या विद्यालय, डी.ए.वी. कॉलेज, गुरुकुल आदि अन्य शिक्षण संस्थाओं का विवरण प्रकाशित किया गया है जिससे स्पष्ट है कि इनकी संख्या लगभग एक हजार से ऊपर है जिनमें 5 लाख से अधिक लड़के-लड़कियाँ शिक्षण प्राप्त कर रहे हैं। इन सबका वार्षिक व्यय 5 करोड़ रुपये से अधिक है। आर्यसमाज के कुछ प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र इस प्रकार हैं :—

दयानन्द कॉलेज लाहौर

स्व. गुरुदत्त विद्यार्थी ऋषि दयानन्द के निर्वाण के समय अजमेर में उपस्थित थे उनसे प्रेरणा लेकर वे जब लाहौर लौटे तो स्वामीजी के स्मारक के रूप में लाहौर में दयानन्द कॉलेज की जो योजना बनी उसके परिणाम स्वरूप सन् 1886 में त्याग और सेवा का व्रत लेकर महात्मा हंसराज ने उसे पूरा किया। लाहौर का डी. ए, वी. कॉलेज आर्यसमाज की सबसे पहली और विशाल शिक्षण संस्था के रूप में विकसित हुई। सन् 1947 में देश के विभाजन के बाद अम्बाला, जालंधर, देहली आदि में पंजाब की शिक्षण संस्थाओं का पुनःरोपण किया गया और अनेक नई संस्थाएँ स्थापित की गई।

अन्य केन्द्र

यद्यपि पाकिस्तान में इन शिक्षण संस्थाओं की केवल अचल सम्पत्ति दो करोड़ रुपये से ज्यादा थी जिसकी पूर्ति कठिन है फिर भी प्रो. वेदव्यास की अध्यक्षता में चित्रगुप्त रोड़, देहली स्थित डी. ए. वी. कॉलेज प्रबन्ध समिति आज भी देश का सबसे बड़ा गैर सरकारी शिक्षण संगठन हैं, जिसके तत्वाव-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
धान में लगभग एक सौ शिक्षण संस्थायें चल रही हैं जिनमें 12 विज्ञान तथा आर्टस् कॉलेज, 8 औद्योगिक कॉलेज, 27 उच्चतर माध्यमिक स्कूल, 30 हाई स्कूल हैं। सन् 1961–62 की रिपोर्ट के अनुसार इनमें पचास हजार से ऊपर लड़के लड़कियाँ थीं और 1500 अध्यापक थे। इनका वार्षिक व्यय एक करोड़ से ऊपर है। इनके अतिरिक्त पंजाब में जालन्धर कन्या महाविद्यालय आदि अन्य प्रसिद्ध संस्थाएँ हैं। आर्यसमाज का दूसरा बड़ा केन्द्र कानपुर है। वहां की डी. ए. वी. प्रबन्ध समिति के अधीन 15 छोटे-बड़े कॉलेज हैं जिनमें 18 हजार विद्यार्थी हैं। अकेले कानपुर के डी. ए. वी. कॉलेज में 5000 लड़के हैं।

अजमेर

अजमेर का सन् 1888 में स्थापित दयानन्द कॉलेज अब स्वतन्त्र भारत का सबसे पुराना डी. ए. वी. कॉलेज है। विस्तार की दृष्टि से भी उसका 750 बीघे का क्षेत्र है। लगभग 50 लाख की अचल सम्पति है। आर्यसमाज का यही एकमात्र कृषि कॉलेज है। आर्यसमाज शिक्षा सभा द्वारा संचालित यहाँ दो कॉलेज व स्कूलों को मिलाकर कुल 12 संस्थाएँ हैं जिनमें साढ़े चार हजार विद्यार्थी, 150 अध्यापक हैं और उनका वार्षिक व्यय 50 लाख रुपयों से ऊपर है।

भारत से बाहर

भारत के बाहर दक्षिण तथा पूर्वी अफ्रीका में डरबन, फिजी तथा मौरीशस से 27 संस्थाओं की सूची प्राप्त हुई है। अनुमान है कि दूसरे देशों में भी कुछ और समाज की शिक्षण संस्थाएँ हैं। दक्षिण भारत में महाराष्ट्र व आन्ध्र प्रदेश में भी डी.ए.वी. कॉलेज व स्कूल, लाहौर की स्थानापन्न देहली स्थित प्रबन्ध समिति तथा हैदराबाद की केशव मैमोरियल शिक्षा समिति की ओर से चल रहे हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांगड़ी विश्वविद्यालय

कांगड़ी का प्रसिद्ध गुरुकुल सन् 1961 में भारत सरकार द्वारा मान्य आर्यसमाज का पहला विश्वविद्यालय बन गया है।

दयानन्द विश्वविद्यालय

हरियाणा में रोहतक विश्वविद्यालय का नाम महर्षि दयानन्द यूनिवर्सिटी रखा गया है। यह स्वामी जी के नाम पर स्थापित पहला विश्वविद्यालय है। किन्तु उसमें स्वामी जी के जीवन और शिक्षा के अध्ययन के लिए कोई पृथक् विभाग अभी तक स्थापित नहीं हुआ और इसलिए अजमेर में प्रस्तावित दयानन्द विश्वविद्यालय की आवश्यकता और उपयोगिता अभी तक बनी हुई है।

दयानन्द चेयर

कुरुक्षेत्र तथा पंजाब विश्वविद्यालय में दयानन्द चेयर के रूप में उन के जीवन और शिक्षा पर अनुसन्धान और अध्ययन करने लिए पृथक् विभाग चल रहे हैं यह प्रसन्नता कि बात है। इस वर्ष दयानन्द स्नातकोत्तर कॉलेज अजमेर में भी राजस्थान सरकार की स्वीकृति से वैदिक अनुसंधान और अध्ययन के केन्द्र के रूप में दयानन्द शोध पीठ (दयानन्द चेयर) की स्थापना की गई है।

अजमेर की प्रसिद्ध आर्य समाज की पुरानी शिक्षण संस्था के अन्तर्गत इस प्रकार का यह पहला केन्द्र होगा। अन्य पीठ के केन्द्र अभी तक द्वारा विश्वविद्यालय संचालित है। इसलिए उनके पीछे ऋषि दयानन्द के प्रति आस्था की आवश्यक परम्परा न होना स्वाभाविक है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वभौम आर्यसमाज शिक्षण संस्था परिषद्

शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का इतना बड़ा और महत्वपूर्ण योगदान होने पर भी उनका कोई केन्द्रीय संगठन नहीं बन पाया था। इस कमी को सन् 1962 में सार्वभौम आर्य शिक्षण संस्था परिषद् की स्थापना करके पूरा किया गया।

देश और विदेशों में आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की संख्या एक हजार से भी अधिक है जिनका संचालन आर्यसमाजों अथवा पृथक् पृथक् सभाओं व समितियों द्वारा किया जा रहा है। आवश्यकता इस बात की थी कि इन सब संस्थाओं का यह सुदृढ़ एवं प्रभावशाली संगठन बन सके। स्व. मेहरचन्द जी महाजन के मार्गदर्शन एवं प्रोत्साहन में इस योजना को कार्यरूप देने के लिए सन् 1962 में इस परिषद् की स्थापना की गई उसके विभिन्न केन्द्रों पर पाँच नियमित अधिवेशन किये गये। "सार्वभौम आर्यसमाज शिक्षण संस्था परिषद्" "International Council of Arya Samaj Educational Instituitons" नामक इस संस्था का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रथम सम्मेलन

दिनांक 3 व 4 नवम्बर 1962 को हंसराज कॉलेज दिल्ली में इस परिषद् का प्रथम सम्मेलन आयोजित किया गया। जिसकी अध्यक्षता दिल्ली विश्वविद्याल। के तत्कालीन उपकुलपति सर चिन्तामणि देशमुख ने की। देश के विभिन्न प्रांतों से डी. ए. वी. संस्थाओं के लगभग 250 प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। प्रस्तावित संगठन का सर्वश्री डा. मेहरचन्द महाजन, श्री चिन्तामन देशमुख, श्री महात्मा आनन्द स्वामी आदि आर्य नेताओं व शिक्षाविदों ने स्वागत किया। इस सम्मेलन में विशेष रूप से परिषद् का संविधान बनाने, अजमेर नगर में दयानन्द विश्व विद्यालय की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थापना करने के प्रस्तावों को पारित किया गया। इसके अतिरिक्त इन आर्य शिक्षण संस्थाओं में एक समान धर्मशिक्षा की व्यवस्था पर भी विचार किया गया। मध्य प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने इस प्रकार के संगठन की अनिवार्यता और उसके लिए उपयुक्त विधान बनाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया जिसे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया। सम्मेलन में जिन अन्य प्रमुख व्यक्तियों ने भाग लिया उनमें पंजाब विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति श्री सूरजभान जी, उज्जैन विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री जी.एल. दत्ता, गुरुकुल कांगड़ी के उपकुलपति श्री सत्यव्रत विद्यालंकार, कानपुर डी. ए. वी. कालेज के प्रधान श्री वीरेन्द्र स्वरूप जी, संसद सदस्य श्री प्रकाश वीर शास्त्री, दिल्ली के मेयर श्री लाला हंसराज जी गुप्त, राज्य सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामनिवास मिर्धा तथा पटना विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा. डी. राम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

परिषद् का संविधान

परिषद् के सदस्यों ने इस संगठन के संविधान का प्रारूप बनाने का अधिकार अजमेर डी.ए.वी. शाला के प्राचार्य श्री दत्तात्रेय वाब्ले को सौंपा था। उनके द्वारा प्रस्तुत संविधान के संक्षिप्त प्रारूप को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इस संविधान में संगठन के नामकरण के अतिरिक्त उनके कार्यों तथा उद्देश्यों का भी सुस्पष्ट निर्देश किया गया। साथ ही यह भी स्पष्ट किया गया था कि यह परिषद् आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के आंतरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करेगी आर्यसमाज की प्रत्येक शिक्षण संस्था परिषद् की सदस्य बन सकेगी। इस परिषद् के अध्यक्ष श्री डा. मेहरचंद महाजन तथा महामन्त्री श्री दत्तात्रेय वाब्ले सर्वसम्मति से निर्वाचित किये गये। इसके अतिरिक्त कई प्रतिष्ठित शिक्षाविद् इसके उपाध्यक्ष और 21 कार्यकारिणी के सदस्य चुने गये जिनमें दक्षिण अफ्रीका, मारिशस, फिजी आदि के भी प्रतिनिधि सम्मिलित थे।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिषद् के अन्य अधिवेशन

परिषद् का द्वितीय अधिवेशन 12, 13 जनवरी सन् 1964 को डी ए.वी. कॉलेज कानपुर में आयोजित किया गया जिसमें देश के सभी प्रान्तों की आर्य शिक्षण संस्थाओं से सम्बन्धित लगभग 300 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष कानपुर डी.ए.वी. कॉलेज के प्रधान डा. वीरेन्द्र स्वरूप जी थे तथा इसकी अध्यक्षता श्री डा. मेहरचन्द महाजन ने की। अजमेर में जहाँ ऋषि दयानन्द का निर्वाण हुआ वहीं दयानन्द विश्वविद्यालय की संस्थापना का संकल्प पुनः दोहराया गया। साथ ही सैनिक व पब्लिक स्कूलों की स्थापना तथा पंजाब की आर्य शिक्षण संस्थाओं की समस्याओं के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये गये। धर्म शिक्षा सम्बन्धी वर्तमान व्यवस्था पर असन्तोष व्यक्त करते हुए इन संस्थाओं में एक जैसी धर्म शिक्षा देने एवं तद्नुसार पाठविधि बनाने का भी निश्चय किया गया।

परिषद् का तृतीय अधिवेशन 12 अप्रैल, 1965 में गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय हरिद्वार में सम्पन्न हुआ। स्वागत समिति के अध्यक्ष श्री सत्यव्रत विद्यालंकार ने समागत प्रतिनिधियों का स्वागत करते हुए धार्मिक शिक्षा की अनिवार्यता पर बल दिया तथा आर्य शिक्षण संस्थाओं में संस्कृत विषय के अध्ययन अध्यापन को अत्यावश्यक बताया। सम्मेलन के अन्य प्रस्तावों में दयानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना का समर्थन तथा सरकारी कामकाज में हिन्दी भाषा के प्रयोग आदि महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर बल दिया गया। एक प्रस्ताव पारित कर, उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा प्रसारित, उन नियमों का विरोध किया गया जिनके द्वारा आर्य शिक्षण संस्थाओं के आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया गया।

परिषद् का चतुर्थ, अधिवेशन 8, 9 जनवरी 1968 को दयानन्द कॉलेज, अजमेर के प्रांगण में डा. मेहरचन्द महाजन की अध्यक्षता में आयोजित किया गया। परिषद् के अवैतनिक मन्त्री श्री दत्तात्रेय वाब्ले ने दयानन्द विश्व-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालय की योजना को प्रस्तुत करते हुए यह सूचना दी कि देश में इस योजना का सर्वत्र स्वागत हुआ है। अनेक राज्यपालों, मुख्यमन्त्रियों, केन्द्रीय तथा राज्यमन्त्रियों, संसद सदस्यों एवं विधायकों ने इसके समर्थन में लिखित अपील प्रकाशित की है। हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तिकाओं में इस योजना की आवश्यक जानकारी दी गई है। तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्वर्गीय लाल बहादुर शास्त्री ने भी 16 मार्च 1965 को एक रेडियो प्रसारण में अजमेर में दयानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रश्न पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की घोषणा की थी, परन्तु दुर्भाग्य से उनकी मृत्यु के उपरान्त यह प्रश्न राजनैतिक उलझन में उलझ कर रह गया। इस सम्मेलन का सबसे महत्वपूर्ण निश्चय धर्म शिक्षा सम्बन्धी पूर्वपारित प्रस्तावों को कार्यान्वित करने से सम्बन्धित था। इस प्रस्ताव के अनुसार एक उपसमिति का गठन किया गया जिसे धर्म शिक्षा की पुस्तकों एवं पाठ्यक्रम सम्बन्धी योजना तैयार करने को कहा गया। सम्मेलन के इस अवसर पर पुनः आगामी तीन वर्षों के लिए डा. मेहरचन्द महाजन को अध्यक्ष तथा आचार्य श्री वाब्ले को महामन्त्री चुन लिया गया। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी के उपकुलपति श्री सत्यव्रत विद्यालंकार, डी. ए. वी. कॉलेज के प्रधान श्री वीरेन्द्र स्वरूप जी, पंजाब विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री सूरज भान जी को उपाध्यक्ष तथा हंसराज कॉलेज दिल्ली के आचार्य श्री शान्ति नारायण जी को कोषाध्यक्ष पद पर निर्वाचित किया गया।

परिषद् का पांचवां अधिवेशन डी. ए. वी. हायर सैकण्डरी स्कूल चंडीगढ़ में दिनांक 10, 11 अक्टूबर 1968 को सम्पन्न हुआ। सम्मेलन का उद्घाटन पंजाब विश्वविद्यालय के उपकुलपति श्री सूरजभान जी ने किया तथा अध्यक्षता डा. मेहरचन्द महाजन ने की। इस सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष श्री जस्टिस टेकचन्द थे। सदस्यों द्वारा पारित प्रस्तावों में दयानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना, धर्म शिक्षा सम्बन्धी पाठ्यक्रम, शिक्षा एवं परीक्षा विषयक सुधार, संस्कृत व हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुशंसा आदि के अतिरिक्त जिन अन्य बिन्दुओं को निर्णयार्थ लिया गया उनमें शिक्षा क्षेत्र में विद्यार्थियों की बढ़ती हुई अनुशासनहीनता एवं स्वेच्छा-चारिता पर चिन्ता व्यक्त की गई और अध्यापक को समाज में उचित सम्मान दिये जाने का आग्रह किया गया। अन्य प्रस्तावों के द्वारा गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं के सरकारीकरण या उनके आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप का विरोध किया गया। आर्य शिक्षण संस्थाओं के प्रबन्धकों से यह भी अपेक्षा की गई कि इन संस्थाओं में नियमित रूप से सामूहिक सन्ध्या व हवन करने तथा धार्मिक पर्वों को आयोजित करने में सक्रियता बरती जावे।

परिषद् की आवश्यकता

यह लिखते हुए खेद होता है कि इस समस्त कार्यक्रम के प्रेरणा-स्रोत डा. मेहरचन्द महाजन के सन् 1968 में निधन हो जाने के कारण परिषद् का कार्य एकदम शिथिल हो गया। संस्थापक मंत्री आचार्यवाब्ले जी के आग्रह पर यह निश्चय किया गया है कि इस परिषद् का भावी उत्तर-दायित्त्व डी. ए. वी. कॉलेज समिति चित्रगुप्त रोड दिल्ली को सौंप दिया जावे। तदनुसार स्वर्गीय श्री सूरजभान की अध्यक्षता में इस कार्यकारिणी के कई सम्मेलन दिल्ली में आयोजित किये गये, परन्तु आर्य समाज की शिक्षण सस्थाओं के सक्रिय योगदान के अभाव में एवं उनकी उदासीनता के कारण परिषद् की गतिविधियों में निष्क्रियता उत्पन्न हो गई। यद्यपि चण्डीगढ़ के बाद आगामी छठा अधिवेशन आगरा में किए जाने का निश्चय किया गया था परन्तु अभी तक कोई अधिवेशन आयोजित न हो सका।

आशा है कि परिषद् जैसे महत्वपूर्ण संगठन की उपयोगिता और आवश्यकता को ध्यान में रखकर उसे पुनः सक्रिय करने का प्रयत्न किया जावेगा। देश में स्थित सभी आर्य शिक्षण संस्थाओं के समक्ष आज सबसे बड़ा प्रश्न हमारे संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत दिये गये उन अधिकारों

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्राप्त करना है जो अन्य धार्मिक संगठनों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं को प्राप्त हैं।

आर्य शिक्षण संस्थाओं का भविष्य

आर्यसमाज की ये शिक्षण संस्थाएं ही आज एकमात्र वह माध्यम हैं जिसके द्वारा हम ऋषि दयानन्द का संदेश और उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म का शिक्षित युवक-युवतियों में प्रचार व प्रसार कर सकते हैं। नई पीढ़ी से सम्पर्क का यही एक मार्ग है अन्य धर्मावलम्बियों और विशेष कर ईसाई मिशनरियों की शिक्षण संस्थाएं पहले से ही प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अपने धर्म प्रचार के लिए उनका उपयोग करती रही हैं। हमारे संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत उन्हें जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं उनके कारण उन्हें अपनी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना और संचालन में और अधिक स्वतन्त्रता दी गई है। इतना ही नहीं सरकारी नियंत्रण से मुक्त होने पर भी उन्हें दिए जाने वाले सरकारी अनुदान में कोई कमी नहीं की जा सकती। इन संस्थाओं में आज भी अधिकांश विद्यार्थी हिन्दू ही होते हैं जिन्हें अपने धर्म व संस्कृति की शिक्षा देने के लिए इस प्रकार की पृथक् शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज की डी.ए.वी. शिक्षण संस्थाएँ ही यह कार्य कर सकती हैं, बशर्ते कि उन्हें भी वही स्वतन्त्रता और अनुदान आदि की सुविधा प्राप्त हो जो अहिन्दू शिक्षण संस्थाओं को प्राप्त हैं। इस सम्बन्ध में कानून की स्थिति अभी स्पष्ट नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने 1971 में डी. ए. वी. कॉलेज जालन्धर बनाम पंजाब सरकार नामक केस के निर्णय में आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 के अन्तर्गत दी गई सुविधाओं का अधिकार है यह स्वीकार किया है किन्तु 1976 में दिल्ली हाई कोर्ट ने आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का ही एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय घोषित करके यह निर्णय दिया कि बहुसंख्यक हिन्दुओं के किसी सम्प्रदाय को धारा 30 में दिये गए विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हो सकते।

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यदि स्वतन्त्र भारत में आर्यसमाज जैसी राष्ट्रीय संस्था को भी अपनी शिक्षण संस्थाओं के संचालन में अन्य धर्मों के समान स्वतन्त्रता नहीं है तो समाज व देश के लिए उनकी आवश्यकता व उपयोगिता सन्देहजनक होगी। आचार्य दत्तात्रेय वाब्ले ने इस समस्या का विशेष अध्ययन करने के बाद अंग्रेजी में The Arya Samaj Hindu without Hinduism (दी आर्यसमाज हिन्दू विदआऊट हिन्दूज्म) नामक पुस्तक लिखी है जो प्रसिद्ध प्रकाशक विकास दिल्ली द्वारा प्रकाशित हो चुकी है। उसके प्रथम भाग में आर्यसमाज के वास्तविक स्वरूप का विवेचन करने के बाद दूसरे भाग में संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत आर्यसमाज की कानूनी स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। इस सम्बन्ध में न्यायालयों के अभी तक के निर्णयों की समीक्षा करने के बाद यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि डी. ए. वी. आदि आर्य शिक्षण संस्थाओं को भी इस धारा के अन्तर्गत दिये गये अधिकार प्राप्त होने चाहिये। इन संस्थाओं के संगठन के सामने यह महत्वपूर्ण प्रश्न विद्यमान है और साथ ही यह प्रश्न भी है कि इन अधिकारों के प्राप्त होने पर भी हमारी ये शिक्षण संस्थाएँ उनका लाभ उठाकर, जिस उद्देश्य से इन संस्थाओं की संस्थापना की गयी थी, उसे नवीन परिस्थिति में किस प्रकार प्रभावकारी तरीके से पूरा कर सकती हैं। इन प्रश्नों का उत्तर भी इस परिषद् जैसे संगठन के माध्यम से दिया जा सकता है और दिया जाना चाहिए, इसलिए इस परिषद् को पुनः सक्रिय करने की आवश्यकता है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 4

दयानन्द का धार्मिक दर्शन

ऋषि दयानन्द की धार्मिक मान्यताओं का स्पष्ट दार्शनिक आधार है, अन्य अनेक धर्मों की ऐसी स्थिति नहीं है। उनके संस्थापकों के बाद उनके अनुयायियों ने इन संस्थापकों और धर्माचार्यों की शिक्षाओं को संग्रहित करके अथवा उनका विवेचन करके उन्हें दार्शनिक आधार देने का प्रयत्न किया है। ईसा मसीह अथवा मोहम्मद साहब ने अपनी शिक्षाओं को स्वयं लेखबद्ध नहीं किया था और न ही उनका दार्शनिक विवेचन ही किया था। बाईबिल की नवीन पुस्तिका (न्यू टेस्टामैन्ट) का ईसा की मृत्यु के अनेक वर्षों बाद संकलन किया गया और कुरान तथा इस्लाम के अन्य धर्म ग्रन्थों की भी मोहम्मद साहब के उपदेशों, आदेशों तथा कार्यों के आधार पर रचना की गई। गुरु ग्रन्थ साहब में अनेक गुरुओं तथा हिन्दू सन्तों की वाणियों का सार संग्रहित है और वह गुरु नानक के देहान्त के 50 वर्ष बाद पांचवें गुरु अर्जुनदेव द्वारा संकलित किया गया। दूसरी ओर ऋषि दयानन्द की धार्मिक शिक्षाएँ और मान्यताएं स्वयं उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से अंकित हैं, जिन्हें उन्होंने स्वय अपने जीवन काल में प्रसारित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने आर्यों के पवित्र ग्रन्थ वेदों का स्वयं भाष्य करके यह भी सिद्ध किया कि उनकी मान्यताएं वेदानुकूल हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दार्शनिक परम्परा

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भूतपूर्व विज्ञान के प्रोफेसर डॉ. सत्य प्रकाश, जो अब संन्यासी हैं, उन्होंने अपनी अंग्रेजी की पुस्तक "फिलासफी ऑफ दयानन्द" अर्थात् दयानन्द का दर्शन नामक पुस्तक में स्वामीजी की धार्मिक मान्यताओं का विवेचन किया है। भारत में प्राचीन काल से ही दार्शनिक विचारधाराओं के विवेचन की एक परम्परा रही है। उनमें न्याय, वैशेषिक योग, सांख्य, वेदान्त और मीमांसा यह छह प्रसिद्ध दर्शन माने जाते हैं। उन सब में आध्यात्मिक विषयों का गम्भीर विवेचन है। किन्तु उनमें से किसी को भी हम हिन्दू धर्म का एकमात्र आधार नहीं कह सकते। वास्तव में वे दर्शन किसी एक धार्मिक सिद्धान्त के समर्थक नहीं थे। उन्होंने ईश्वर, जीव, प्रकृति जैसे गहन प्रश्नों पर बिना किसी पूर्वाग्रह के अपने स्वतंत्र विचार व्यक्त किये हैं। इसलिये भारतीय दर्शन को हम हिन्दू दर्शन नहीं कह सकते। उसकी तुलना हम ग्रीक या पश्चिमी दर्शन से कर सकते हैं उन्हें ईसाई दर्शन नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर दयानन्द का दर्शन आर्य समाज के वैदिक धर्म का दर्शन है, यह निर्विवाद है, और इसीलिए उनके अनुयायी अर्थात् आर्य समाजी वेदों के आधार पर रचित स्वामीजी के सत्यार्थप्रकाश को धर्म-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। स्वामी दयानन्द कोरे दार्शनिक ही नहीं थे और न ही तथाकथित वर्तमान उन दार्शनिकों के समान थे जो केवल काल्पनिक दुनिया में रहकर जीवन की समस्याओं से उदासीन रहने में अपनी विशेषता समझते हैं। ये दार्शनिक सम्भवतः यह भी अपेक्षा नहीं करते कि उनके विश्वासों और विचारों को कार्यान्वित किया जाये। इस दृष्टि से दयानन्द को हम एक व्यावहारिक दार्शनिक कह सकते हैं। और यही कारण है कि न केवल उनका व्यक्तिगत चरित्र आदर्श था बल्कि उनके विचार और उपदेश सर्वथा स्पष्ट और व्यावहारिक थे। वे केवल बौद्धिक विवाद या अव्यावहारिक उपदेशों से सन्तुष्ट न रहकर उन आदर्शों को अपने जीवन और व्यवहार में कार्यान्वित करते थे। उनके लिये यह विचार दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम नहीं था।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो प्रेरक घटनाएँ

दो घटनाओं ने उनके जीवन और भविष्य को एक नई दिशा में मोड़ दिया। पहली घटना बालक मूल शंकर के रूप में उन्होंने शिवरात्रि के दिन जो रात्रि जागरण किया उसमें घटित हुई। उनके पिता ने जो एक निष्ठावान् शैव ब्राह्मण थे उन्हें शिवरात्रि का यह जागरण करने के लिये यह कहकर प्रेरित किया था कि उन्हें भगवान् शिव के दर्शन होंगे। रात में जब अन्य सब भक्त धीरे-धीरे नींद की गोद में जाकर खर्राटे लेने लगे तब भी यह बालक मूल शंकर उत्सुकता से शिव के दर्शन की प्रतीक्षा में उस सुनसान और स्तब्ध रात में अकेला जागता रहा। अचानक उसने देखा कि शिव की पवित्र मूर्ति पर चूहे खेल रहे हैं और उस पर चढ़ाई हुई भेंट-सामग्री खा रहे हैं। इस दृश्य को देखकर न केवल वह बालक आश्चर्यचकित ही रह गया बल्कि उसके हृदय में एक शंका और उत्सुकता ने भी घर कर लिया। वह सोचने लगा कि देवों के देव महादेव इन छोटे से चूहों द्वारा किये जा रहे उनके अपमान और अनादर का भी प्रतिकार क्यों नहीं करते। यह तो शक्तिशाली भगवान् का बड़ा उपहास है। उन्होंने अपने पिता को जगाकर यह दृश्य दिखाया और अपनी शंका का उत्तर मांगा किन्तु अर्ध निद्रा के वशीभूत पिता ने उन्हें केवल यह कह कर टाल दिया कि यह तो असली महादेव की मूर्ति मात्र है, स्वयं महादेव नहीं। उसी दिन से दयानन्द के मन में असली महादेव की तलाश का बीज अंकुरित हो उठा।

दूसरी घटना उनके चाचा की मृत्यु थी जिनसे उनका बड़ा स्नेह था और मृत्यु के इस तथा अन्य दृश्यों को देखने के बाद उनके मन में जीवन और मृत्यु की पहेली ने घर कर लिया। इस प्रकार दयानन्द ने भी महात्मा बुद्ध के समान गृहत्याग का निश्चय किया और अन्त में एक बार वापस लाये जाने के पश्चात् वे सदा के लिये घर छोड़कर जीवन-मृत्यु और ईश्वर की तात्विक समस्याओं की खोज में निकल पड़े।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब ऐसी समस्यायें हैं जो न केवल साधारण स्त्री-पुरुषों के लिये सदा से ही भय और जिज्ञासा के कारण रहे हैं बल्कि दयानन्द के समान बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों और शंकराचार्य जैसे दार्शनिक की खोज और मनन के भी विषय रहे हैं। मूल शंकर के पिता ने यह सोचकर कि विवाह के बन्धन में पड़कर सम्भवतः उनका यह युवक पुत्र इस प्रकार के वैराग्य से मुक्त हो सकेगा किन्तु दयानन्द का मस्तिष्क इन आध्यात्मिक पहेलियों में इतना गहन और तीव्रता से प्रभावित हो गया था कि वे विवाह आदि सांसारिक बन्धनों में न फंसने का दृढ़ निश्चय कर चुके थे। अपनी इसी खोज के परिणामस्वरूप वे मथुरा में रहने वाले नेत्रहीन किन्तु संस्कृत के प्रसिद्ध और प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी विरजानन्द की कुटी में पहुँच गये। उन्होंने दयानन्द को अपना शिष्य स्वीकार करके उन्हें इस शर्त पर वेद और संस्कृत पढ़ाना स्वीकार किया कि वे अपने जीवन सच्चे वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार में अर्पित कर देंगे और असत्य तथा अंधविश्वासों का खण्डन करते रहेंगे। गुरु को दिये हुए अपने इस वचन के अनुसार दयानन्द ने जीवन भर झूठ और पाखंड का खण्डन और वेद धर्म का प्रचार करने में अपने आपको समर्पित कर दिया। उन्हें इस कार्य में अनेक विघ्न-बाधाओं तथा कड़े विरोध का सामना करना पड़ा। यहाँ तक कि कई बार उनकी हत्या करने का प्रयत्न किया गया और अन्त में जोधपुर में उनके विरोधियों के षड्यन्त्र के परिणाम-स्वरूप उन्हें विष दिया गया। इस प्रकार उन्होंने अपने महान् लक्ष्य की पूर्ति में अपने जीवन की आहुति दे दी।

दर्शन समन्वय

डॉ॰ स्वामी सत्य प्रकाश ने लिखा है कि दयानन्द ने भारतीय छह दर्शन का गहन अध्ययन किया था और उनकी सबसे बड़ी देन उन सबका

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समन्वय है। साधारणतः यह समझा जाता है कि यह छह दर्शन परस्पर विरोधी विचारों का प्रतिपादन करते हैं। किन्तु स्वामी दयानन्द ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वे विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक है और ईश्वर, जीव और प्रकृति तथा अन्य आध्यात्मिक प्रश्नों के केवल विभिन्न अंगों का विवेचन करते हैं किन्तु उन सबका उद्देश्य इन जटिल विषय का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से निरूपण करना है।[3] इस प्रकार दयानन्द ने वेद भाष्य के आधार पर जो धार्मिक दर्शन आर्य समाज को दिया है उसे हम भारत के वर्तमान पुनर्जागरण का दर्शन कह सकते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन ने अपनी इण्डियन फिलासफी नामक पुस्तक में इसीलिये भारत के दो वर्तमान दर्शनिकों अर्थात् अरविन्द घोष और दयानन्द को इस पुनर्जागरण का श्रेय दिया है। स्वामीजी ने जिन दार्शनिक प्रश्नों का विवेचन किया है उनमें आत्मा, परमात्मा, प्रकृति जैसे तात्विक प्रश्नों पर तर्कसम्मत अनुसन्धान किया है और साथ ही नैतिक और अनैतिक तथा सुख-दुख जैसी समस्याओं पर गम्भीर चिन्तन किया जो प्रायः समस्त दार्शनिक विद्वानों के विचारणीय विषय रहे हैं।

ज्ञान और कर्म

स्वामी सत्य प्रकाश ने आगे लिखा है कि दयानन्द ज्ञान और कर्म के समन्वय के समर्थक थे और बिना कर्म के केवल ज्ञान को वे निरर्थक समझते थे। इतना ही नहीं इस लोक और परलोक के बारे में उन्होंने महर्षि कणाद के धर्म की व्याख्या का समर्थन करते हुए कहा है कि वास्तविक धर्म वही है जो न केवल परलोक में मोक्ष प्राप्ति का साधन हो अपितु उसके द्वारा इस लोक में भी मनुष्य का अभ्युदय और कल्याण हो। इसमें सन्देह नहीं कि दयानन्द का दर्शन वेद पर आधारित है किन्तु यह भी सर्वविदित है कि दयानन्द ने वेदों का जो मौलिक भाष्य किया है उसके परिणामस्वरूप हमें

3. स्वामी सत्यप्रकाश, फिलोसफी ऑफ दयानन्द, पृष्ठ 16

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयानन्द का एक नवीन दर्शन प्राप्त हुआ है । जिसका परिचय हमें उनके अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश और विशेष कर उसके अन्त में दिये गये स्वमन्त-व्यामन्तव्य से मिलता है । इसमें उन्होंने आत्मा, परमात्मा, सुख-दु:ख, जीवन-मरण, मोक्ष, प्रकृति आदि जिन गहन विषयों की सरल और सर्वथा नवीन परिभाषा की है वह इस कथन की पुष्टि करते हैं । इसलिये डा. राधा कृष्णन ने शंकर, रामानुज, माधवाचार्य जैसे महान् भारतीय विचारकों के सम्बन्ध में जो निम्नलिखित निष्कर्ष निकाला है वह दयानन्द के सम्बन्ध में भी सही उतरता है। वे कहते हैं कि "यह महान् व्यक्ति प्राचीन विचारों के समीक्षक मात्र ही नहीं थे अपितु ऐसा वे अपनी नम्रता के कारण कहते रहे हैं। उन सब ने वास्तव में अपने नवीन दर्शन का प्रतिपादन किया है। प्राचीन विचारों और मान्यताओं का भाष्य करते समय उन्होंने जिन बातों का विवेचन किया है उनका यद्यपि पुराने मौलिक विचारों से सम्बन्ध है किन्तु उनकी समीक्षा करते समय उन्होंने केवल उनका स्पष्टीकरण मात्र ही नहीं किया अपितु उन्हें एक नवीन अर्थ भी किया ।"

दयानन्द की मौलिकता

जैसा हम कह चुके हैं कि दयानन्द ने वेदों का जो भाष्य किया वह उनके पहले के सब अन्य भाष्यकारों से इतना स्वतन्त्र और भिन्न है कि सर राधाकृष्णन की उपरोक्त सम्मति के अनुसार उसे दयानन्द का अपना मौलिक वेदभाष्य कहना गलत नहीं होगा । योगी अरविन्द घोष के एक प्रशंसनीय अपवाद को छोड़कर प्राय: सारे आधुनिक वेद के विद्वान् दयानन्द के भाष्य से सहमत हैं जो स्वामीजी के भाष्य की मौलिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है । दूसरी ओर स्वयं दयानन्द ने सायण, महिधर और उभट जैसे वेदों के प्रचीन भाष्यकारों की न केवल समीक्षा ही की है बल्कि उनकी कड़ी आलोचना भी की है, क्योंकि इन भाष्यकारों ने वेदों के नाम पर नर और पशु बलि और सती जैसी अमानवीय प्रथाओं तक का समर्थन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किया है। मूर्तिपूजा, छुआ-छूत, जात-पांत, बाल-विवाह और स्त्रियों और महिलाओं के प्रति असमान व्यवहार को भी यह भाष्यकार वेद विहित मानते हैं। दयानन्द की 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' उनके वेद भाष्य की कुञ्जी है जिसमें उन्होंने संस्कृत और वेद के व्याकरण के उन नियमों और सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया है जिनके आधार पर उन्होंने वेद का भाष्य किया है और उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि सायण आदि के भाष्य और उनके पश्चिमी अनुयायियों ने जो भाष्य किया है वह किस प्रकार से अशुद्ध है। स्वामी दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए हम देख चुके हैं कि उन पर वेद के बारे में इस नवीन दृष्टिकोण की स्पष्ट छाप है। उदाहरण के लिये ईश्वर और उसके गुण आत्मा और उसकी विवेषतायें सृष्टि रचना, मनुष्य की कर्म करने में स्वतन्त्रता, ऐकेश्वरवाद, माया, ब्रह्म, वेदान्त की समालोचना। सांख्य मुनि की नास्तिक विचारधारा का विरोध, योग, यम, नियम, मोक्ष, नर्क-स्वर्ग, सुख-दुख, भाग्य और पुरुषार्थ आदि के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जो चिन्तन किया है वह भी इस बात का साक्षी है। उन्होंने व्यक्ति और समाज के परस्पर सम्बन्ध का जो विवेचन किया है वह आधुनिक विचारधारा के सर्वथा अनुकूल है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने धार्मिक दर्शन को एक स्पष्ट और निश्चित स्वरूप देकर उसकी तुलना न केवल पुराने पौराणिक विचारों बल्कि अन्य वर्तमान धार्मिक विचारकों से करके उनमें जो समानता और भिन्नता है उसका विश्लेषण किया है। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी धार्मिक शिक्षाओं और मान्यताओं को प्रसारित करने के लिए आर्य समाज के रूप में एक संगठन की भी स्थापना की। अन्य धार्मिक संगठनों से भिन्न आर्य समाज का आधार प्रजातन्त्रात्मक रखकर उन्होंने इसे एक आधुनिक और प्रगतिशील धार्मिक संस्था बनाने का प्रयत्न किया जिसमें अन्य ऐसे संगठन के समान कोई गुरु, महन्त या वंशानुगत अध्यक्ष नहीं है। इतना होने पर भी वर्तमान धार्मिक आन्दोलनों में आर्य समाज ही एक ऐसा आन्दोलन है जो स्वयं उसके संस्थापक द्वारा प्रारम्भ किया गया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 5

स्वामी दयानन्द की धार्मिक शिक्षायें

आर्यसमाज की यह मान्यता है कि वह उस प्राचीन धर्म को स्वीकार करता है जो ऋषि दयानन्द द्वारा किये गये वेद के भाष्य पर आधारित है।

स्वामी दयानन्द की विशिष्ट योग्यता

एक धर्मोद्धारक के रूप में स्वामी दयानन्द की क्या विशेष योग्यता और अधिकार है यह एक स्वाभाविक प्रश्न है। जहाँ तक आर्यसमाज का सम्बन्ध है उसकी दृष्टि में स्वामीजी अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य, निर्मल नैतिक चरित्र तथा मनुष्य मात्र के हितचिन्तक होने के कारण एक महापुरुष ही नहीं अपितु महर्षि समझे जाते हैं। उनके समकालीन प्रेक्षक भी उन्हें अपने समय का एक महान् व्यक्ति समझते हैं और उनके दुर्दम्य साहस, असाधारण विद्वत्ता और आश्चर्यजनक दूरदर्शिता पर आश्चर्य प्रकट करते हैं।

प्रशंसात्मक श्रद्धांजलियां

फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक रोमे रोलाँ के शब्दों में शंकराचार्य के बाद इतना बड़ा वेदों का पंडित कोई नहीं हुआ जिसने भारत के निर्बल शरीर में अपनी निश्चितता और महान् स्फूर्तिरूपी शेर के रक्त का संचार किया है। दयानन्द के शब्द एक साहसी व्यक्ति की आवाज के रूप में गूंजते रहे।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने उन लोगों (अर्थात् हिन्दुओं को) की जिनकी निष्क्रियता और कायरता उनके भाग्यवादी विचारों का परिणाम था यह बताया कि उनकी आत्मा भाग्य के बन्धनों से मुक्त है और अपने भविष्य का वे स्वयं अपने पुरुषार्थ से निर्माण कर सकते हैं।

श्री अरविन्द घोष ने उन्हें आध्यात्मिक व्यावहारिकता का असाधारण प्रतीक बताकर उनकी अद्भुत क्षमता का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र हम दे चुके हैं।

कवि सम्राट् रविन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी आदरपूर्ण श्रद्धान्जलि अर्पित करते हुए लिखा है कि स्वामी दयानन्द उत्तर भारत के एक ऐसे मार्ग निर्माता थे जिन्होंने भारत के पतन के काल में उठे मत-पन्थों और रीति-रिवाजों के जंगल और झाड़-झंकड़ में से एक ऐसे मार्ग का निर्माण किया जिसके द्वारा हिन्दू एक ऐसा सरल जीवन बिता सकते हैं जिसके माध्यम से न केवल मनुष्य की ही सेवा हो सकती है बल्कि ईश्वर की भी बुद्धिपूर्वक भक्ति की जा सकती है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ. जैसवाल के शब्दों में—19 वीं सदी में दयानन्द का प्रादुर्भाव इतिहासवेत्ताओं के लिए आश्चर्य में डालने वाली घटना है, किन्तु हिन्दू सभ्यता में जीवन के ऐसे कभी नष्ट न होने वाले तत्व निहित हैं जो इतिहासकारों की समझ के बाहर हैं। वर्तमान सुधरा हुआ और नवजीवित हिन्दू धर्म केवल दयानन्द की ही देन है। दयानन्द में जहां भगवान बुद्ध की मान्यता थी वहाँ शंकर का सुरक्षात्मक संदेश भी उनमें निहित था। दयानन्द ने हिन्दू आत्मा को वैसी स्वतन्त्रता दी जैसी लूथर ने योरोप निवासियों को, और यह स्वाधीनता उन्होंने भीतर अर्थात् स्वय हिन्दू शास्त्रों से प्रदान की। इतना ही नहीं उन्होंने बुद्ध से राममोहन तक के पूर्व सुधारकों की तुलना में एक और बड़ा कार्य किया जो वे लोग नहीं कर सके थे अर्थात् दयानन्द ने जात-पाँत को राष्ट्रीय दृष्टि से भी निराधार सिद्ध करके दिखाया। भारतीय कांग्रेस के तथा आर्य समाज के

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक महान् नेता लाजपतराय ने सन् 1915 में लन्दन से प्रकाशित अपनी अंग्रेजी पुस्तक "दी आर्य समाज" में ऋषि दयानन्द और उनके द्वारा स्थापित आन्दोलन का बड़ा सुन्दर वर्णन दिया है। इस पुस्तक की प्रस्तावना इंगलैण्ड के प्रसिद्ध समाजवादी चिन्तक प्रोफेसर सिडनी वब ने लिखी थी उन्होंने आर्यसमाज को न केवल भारत का सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन ही बताया बल्कि उसके एक नवीन धर्म होने का समर्थन करते हुए लिखा है कि प्रत्येक नवीन धर्म के समान इसके भी दो प्रमुख तत्व रहे हैं। एक उसके संस्थापक का आकर्षक प्रभाव और दूसरा उसके अनुयायियों द्वारा संस्थापक की शिक्षाओं का व्यवहार में पालन।

जैसा हम बता चुके हैं कि स्वामीजी के प्रारम्भिक अनुयायी अपने को हिन्दू मानना तो दूर हिन्दू कहने तक के वैसे ही विरोधी थे जैसे स्वयं ऋषि दयानन्द। ऋषि दयानन्द ने किस प्रकार वेदों का पुनरुद्धार किया यह सिद्ध करने के लिए लाला लालपतराय ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द ने अभी तक निशिद्ध स्त्रियों और गैर ब्राह्मणों के लिए वेद के अध्ययन का अधिकार देकर और साधारण लोगों की भाषा में वेद का अनुवाद करके जो क्रान्तिकारी कार्य किया उसने एक ही प्रहार में हिन्दुओं की सदियों की वेड़ियों को तोड़ दिया। हिन्दू धर्म में ब्राह्मणो के दैवी अधिकार का खण्डन करते हुए लाजपतराय ने बताया है कि किस प्रकार दयानन्द, जिनका जन्म स्वयं एक ब्राह्मण परिवार में हुआ, उन्होंने ब्राह्मणों के एकाधिकार को खुली चुनौती दी और उनके जन्मसिद्ध अधिकार को अस्वीकार करके यह घोषणा की कि कोई भी व्यक्ति चाहे वह शुद्र या अछूत कुल में ही जन्मा हो, ब्राह्मण के सारे कार्य जैसे यज्ञ और वैदिक संस्कार आदि कराने का अधिकारी बन सकता है यदि वह संस्कृत और वेदों का अध्ययन करे जिस पर ब्राह्मणों ने अभी तक उन्हें वंचित कर रखा था। थ्योसोफिकल सोसायटी की संस्थापिका मेडम ब्लेवस्टली ने ठीक ही कहा है कि-शंकराचार्य के बाद दयानन्द जैसा संस्कृत का ऐसा महान् विद्वान्, गहन दार्शनिक और आश्चर्यजनक वक्ता तथा अन्धविश्वासों का निर्भय समीक्षक दूसरा नहीं हुआ जैसा दयानन्द।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभावजनक व्यक्तित्व

दयानन्द का जन्म गुजरात काठियावाड़ में एक कट्टर ब्राह्मण परिवार में हुआ था। काठियावाड़ी लोग साधारतः लम्बे और हृष्ट-पुष्ट होते हैं किन्तु स्वामीजी उनमें भी एक विशालकाय पुरुष थे। उनके समकालीन लोगों ने उन्हें इसीलिये एक शारीरिक और बौद्धिक महाबली (जायन्ट) कहा है। उनके लम्बे कद, गोरे रंग तथा हृष्ट-पुष्ट शरीर के कारण वह एक सुन्दर व्यक्तित्व के धनी थे। एक योरोपियन मिशनरी टी. जे. स्काट ने उन्हें देखकर उनका निम्नलिखित वर्णन किया है अर्थात् 'दयानन्द की आध्यात्मिक और बौद्धिक कीर्ति सुनकर मैं उनसे मिलने गया और मैंने देखा कि वे एक भीम-काय काठी, पुष्ट अंग-प्रत्यंग और अंडाकार चेहरे के भव्य और सद्भावना पूर्ण चेहरे के व्यक्ति थे। उनसे बातचीत करने के बाद अनुभव हुआ कि वह ऊंचे मस्तिष्क के व्यक्ति भी हैं जिन्होंने हिन्दुओं की प्राचीन विद्या का गहन अध्ययन किया हुआ है।[9]

उनके विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द केवल संस्कृत और हिन्दी के उत्तम वक्ता और वैदिक धर्म के अनथक प्रचारक ही नहीं थे बल्कि वे एक महान् लेखक भी थे। वेदभाष्य और सत्यार्थप्रकाश जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने अपने अंतिम जीवन काल के केवल 15 वर्षों में 25 पुस्तकों की रचना की। स्वामीजी की रचनाओं के अतिरिक्त उनके जीवन और कार्यों तथा आर्य समाज के सम्बन्ध में विशाल साहित्य उपलब्ध है जिनकी सूची आर्य साहित्य समुच्चय के प्रस्तावित तीन भागों में प्रकाशित की जा रही है। उसका अभी तक केवल पहला भाग सार्वदेशिक सभा की ओर से प्रकाशित हुआ है।

---

9. एनसाईक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, हेस्टिंग्ज, भाग 2, पेज 57।

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दयानन्द शोधपीठ चन्डीगढ़ तथा दयानन्द वैदिक शोध केन्द्र अजमेर में भी स्वामीजी के ग्रन्थों का विवरण तथा विषय सूची प्रकाशित करने का कार्य हो रहा है।

धार्मिक मान्यताएं

ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित जिन धार्मिक सिद्धान्तों और संस्कारों को आर्य समाज मानता है उसकी जानकारी आर्य समाज के 10 नियमों सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कार विधि इनतीन सूत्रों से मिल जाती है। आर्य समाज के प्रथम तीन नियम आधुनिक संगठित धर्म की दो मुख्य शर्तों अर्थात् ईश्वर विश्वास और धर्म पुस्तक इन दोनों को पूरी करते हैं। पहले नियम में ईश्वर के प्रति इन शब्दों में विश्वास व्यक्त किया गया है कि—"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।" ईश्वर में विश्वास सब धर्मों का प्रमुख आधार है किन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में विशेष कर उसके स्वरूप और कार्यों के बारे में मतभेद होने के कारण प्रत्येक धर्म अन्य धर्म से पृथक् और अलग समझा जाता है।

स्वामी दयानन्द ने दूसरे नियम में ईश्वर की व्याख्या करते हुये उसकी शक्तियों और कार्यों का निम्न प्रकार से वर्णन किया है ;—

"ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टि-कर्त्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।"

इस प्रकार जहाँ ईश्वर के एक होने की घोषणा की गई है वहां उसके गुणों के विवरण से भी यह स्पष्ट किया गया है कि ईश्वर केवल एक ही हो सकता है। इतना ही नहीं उसके मुकाबले में किसी और दैवी शक्ति या शैतान के अस्तित्व को भी अस्वीकार किया गया है और बताया गया है कि उसका कोई शरीर या आंख से दिखाई देने वाला आकार नहीं है अर्थात् वह निराकार है। केवल ऐसे ही ईश्वर की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उपासना मान्य है। ईश्वर के इन विशेष गुणों के कारण ही आर्य समाज की ईश्वर सम्बन्धी कल्पना अन्य धर्मों और विशेषकर सनातनी हिन्दू धर्म के ईश्वर से सर्वथा भिन्न है। इसलिए उसकी मूर्ति, चित्र या और कोई आकृति बनाने का विषेध किया गया है। स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं की एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने ईश्वर के प्रतीक के रूप में किसी मूर्ति आदि की पूजा के अपने विरोध के बारे में कोई समझौता नहीं किया। इस दृष्टि से आर्य समाज इस्लाम के नाम पर कबरों, मकबरों, दरगाहों की जो पूजा होती है और हज के नाम पर मुसलमान यात्री मक्का स्थित संगेअसबत आदि स्थानों की जो पूजा करते हैं, वे यह सब एक प्रकार की मूर्तिपूजा के ही प्रकार हैं। इसी प्रकार किसी पैगम्बर, अवतार, दैवी गुरु अथवा मनुष्य और ईश्वर के बीच में किसी मध्यस्थ की मान्यता वास्तव में विशुद्ध ऐकेश्वरवाद के विपरीत है। दूसरी ओर स्वामी दयानन्द की कल्पना का ईश्वर न एक तभी सत्ता है और न उसे चाहे जो करने का अनियंत्रित अधिकार ही है। उनके अनुसार मनुष्य का भाग्य भी ईश्वर के अधीन नहीं है। उनकी सम्मति में मनुष्य कर्म करने में सर्वथा स्वतन्त्र है और यह एक ऐसी विशेषता है जो सम्भवतः अन्य किसी धर्म में दिखाई नहीं देती है। ऋषि दयानन्द का ईश्वर एक प्रकार से केवल एक संवैधानिक राजा या सम्राट् के समान है जो आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करके मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माण करने का पूरा अधिकार देता है।

ईश्वरीय ज्ञान वेद

तीसरे नियम में वेदों को आर्य समाज की धर्म पुस्तक के रूप में स्वीकार करते हुये यह घोषणा की गई है कि—"वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक हैं। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।" स्वामी जी वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे किन्तु सनातनीय हिन्दुओं के समान उनको केवल पवित्र ग्रन्थ मानकर उन पर फूल आदि चढ़ा कर उसकी पूजा करने के विरुद्ध थे। हिन्दू वेदों का स्वयं अध्ययन करने के स्थान में उन्हें

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
केवल संस्कृत के पंडितों का एकाधिकार समझ कर जिस प्रकार सिख गुरु ग्रन्थ साहब को अन्तिम गुरु समझ कर उसकी पूजा करते हैं उसी प्रकार वेदों के सामने केवल हाथ जोड़ कर अपना कर्तव्य पूरा कर लेते हैं। स्वामीजी केवल वेदों को ही अधिकृत धर्म ग्रन्थ मानते हैं और भागवत् आदि पुराण ग्रन्थों को जिन्हें हिन्दू अपने धर्म ग्रन्थ मानते हैं उन्हें स्वीकार नहीं करते। हिन्दू और आर्य समाज की वेदों के प्रति आस्था की यह समानता भी केवल ऊपरी और अवास्तविक है, क्योंकि आर्य समाज की दृष्टि से वेदों का वही अर्थ प्रामाणिक है जो ऋषि दयानन्द ने किया है दूसरी ओर सनातन धर्म के विद्वान् और पडित स्वामी जी के वेद भाष्य को सर्वथा अस्वीकार करते हैं। यहां तक कि "सनातन धर्म कल्पतरू" तथा "दयानन्द तिमिर भास्कर" जैसे हिन्दू ग्रन्थों में स्वामीजी पर यहां तक आरोप लगाया है कि उन्होंने वेदों के अर्थ को तोड़-मरोड़ कर एक नवीन धर्म की स्थापना की है। इसी प्रकार स्व. पं. मदन मोहन मालवीय के निर्देशन में प्रकाशित "सनातन धर्मोद्धार" नामक ग्रन्थ में स्वामी दयानन्द को "वेद विनाशक" तक कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि दयानन्द के हिन्दू धर्म में प्रचलित प्राय: सब धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों का इसी आधार पर खण्डन किया है कि वे सब वेद-विरुद्ध हैं और दूसरी ओर अपने द्वारा प्रतिपादित क्रान्तिकारी धार्मिक मन्तव्यों और सुधारों को वेदानुकूल सिद्ध किया है।

दयानन्द का वेदभाष्य

ऐसी स्थिति में उनके वेद भाष्य पर यह आरोप लगाया जाना स्वाभाविक ही था कि उन्होंने वेदों के मनमाने अर्थ करके अपने इन धार्मिक और सामाजिक मन्तव्यों को वेद के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह आरोप कितना निराधार है यह अरविन्द घोष जैसे अधिकृत विद्वानों ने स्पष्ट कर दिया है। वास्तविक बात तो यह है कि दयानन्द ने ब्राह्मणों द्वारा वेदों के नाम पर प्रसारित अन्धविश्वासों और कर्मकान्डों को वेद-विरुद्ध सिद्ध करके वेदों को उनका वास्तविक गौरवपूर्ण स्थान देकर उनका उद्धार किया है। स्वामीजी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वय संस्कृत के एक महान् पंडित थे। इसलिए वेदों के नाम पर होने वाली नर और पशु बली आदि के कारण जैन और बौद्ध विद्वानों ने जहां वेदों का त्याग कर दिया वहां स्वामीजी ने स्वयं वेदों का गहन अध्ययन करके उनके नाम पर की जाने वाली मूर्तिपूजा, बहूदेवतावाद, जात-पांत और नरबली आदि को वेद विरुद्ध-सिद्ध करके वेदों की ईश्वरीय पवित्रता को पुनः सुरक्षित करने का महान् कार्य किया।

दयानन्द के वेद भाष्य की पश्चिमी और पूर्वी दोनों विद्वानों ने समीक्षा की है किन्तु उनके अलग-अलग उद्देश्य हैं और कारण हैं। जहां पूर्वी अर्थात् सनातनी हिन्दू विद्वान् यह स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि हिन्दू धर्म की जात-पांत छूआछूत, बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियां और बहुदेवतावाद तथा मूर्तिपूजा जैसे धार्मिक विश्वास वेद-विरुद्ध है वहां दूसरी ओर पश्चिमी विद्वानों के लिये यह स्वीकार करना कठिन था कि वेदों जैसे उनके अनुसार प्रारम्भिक या जंगली युग की पुस्तक में ऐकेश्वरवाद जैसे आधुनिक विचार हो सकते हैं।

योगी अरविन्द की सम्मति

योगी अरविन्द स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के बड़े समर्थक थे। वे लिखते हैं कि—"पाश्चात्य विद्वानों ने सायणाचार्य का अनुसरण करके वेदों को केवल प्राकृतिक देवताओं की उपासना के कर्मकाण्ड की पुस्तक मान लिया था किन्तु दयानन्द ने अपनी दिव्य दृष्टि से सदियों के इस भ्रम को भेद कर इस समयातीत ईश्वरीय ज्ञान को मनुष्य मात्र के लिए सुलभ कर दिया। चाहे जो हो **हमें दोनों बातों में से एक को चुनना होगा क्योंकि हम वेदों को केवल श्रद्धा और अन्धविश्वास के आवरण में लपेट कर अपने आपको धोखे में नहीं रख सकते।** यदि वेद वे हैं जैसा सायनाचार्य मानते हैं तो हमें उन्हें केवल कर्मकाण्ड और पुरानी कथाओं के ग्रन्थ समझ कर त्याग देना होगा क्योंकि इस युग में ऐसे वेद न जीवित सत्य के द्योतक हो सकते हैं और न ही विचारशील मस्तिष्क के लिए प्रेरणा दे सकते हैं। इसी

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रकार यदि वेद के केवल वे ही अर्थ हैं जो योरोपियन विद्वान् करते हैं तो भी हमें इन्हें अर्धसभ्य तथा आदिम निवासियों की पूजा सम्बन्धी अवशेष मान कर त्याग देना होगा । किन्तु यदि वेद सचमुच ईश्वरीय ज्ञान का भण्डार है तो उन्हें जानना और सुनना हमारे लिये अत्यन्त महत्त्व की की बात है। इसी प्रकार यह प्रश्न भी मौलिक है कि वेद के मन्त्रों की जो व्याख्या दयानन्द ने की है वह सही है अथवा जो पश्चिमी विद्वानों ने की वह सही है ? दयानन्द के विचार में वेद दैवी सत्य पर आधारित हैं और इस दृष्टि से यहूदी बायबिल और पारसी जिन्दावस्था के समान और उनसे भी अधिक ईश्वरीय नियम के ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार वेदों में विज्ञान और धर्म दोनों के सत्य मौजूद हैं। दयानन्द की यह मान्यता भी केवल कल्पना नहीं मानी जा सकती है। मेरा तो यहाँ तक विश्वास है कि वेदों में वे अन्य वैज्ञानिक सत्य भी है जिन्हें आधुनिक संसार नहीं जानता और इस प्रकार दयानन्द ने वैदिक ज्ञान को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बल्कि कम करके ही बताया है। वेदो का अर्थ करने के सम्बन्ध में मेरा विश्वास है कि उनका अन्तिम और पूर्ण चाहे जो अर्थ निकले दयानन्द द्वारा उनकी सही दिशा खोजने के लिये उनका सदा सम्मान किया जायेगा । पुरानी अज्ञानता के अन्धकार और सदियों की भ्रमपूर्ण धारणाओं के बीच उन्हीं की दिव्य दृष्टि थी कि जो इस अराजकता को भेदकर सत्य तक पहुँची और जिसने वास्तविकता पर हमारा ध्यान केन्द्रित किया । वेदों के जो कपाट लम्बे समय के कारण बन्द हो चुके थे और जिन्होंने इस प्रेरणा स्रोत को सीलबन्द कर दिया था उनकी चाबी दयानन्द ने प्राप्त की ।'

धर्मों की स्थापना

एक संगठित धर्म के लिए तीसरी आवश्यकता उसके किसी संस्थापक की मानी जाती है। किन्तु आर्य समाज की यह विशेषता है कि वह किसी मनुष्य को अपने धर्म का संस्थापक नहीं मानता । वह किसी पैगम्बर या ईश्वर के दूत में विश्वास नहीं करता और न ही मनुष्य और ईश्वर के बीच में किसी मध्यस्थ की आवश्यकता समझता है। वह मनुष्य को अपने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग्य का स्वतन्त्र नियामक मानता है। जब वेद के रूप में ईश्वर ने मनुष्य मात्र के लिये अपना ज्ञान इस प्रकार स्वयं सुलभ कर दिया है तो किसी अन्य सत्ता और विशेषकर किसी मनुष्य द्वारा धर्म की स्थापना करने की न कोई आवश्यकता है और न उपयोगिता है। इसलिये, आर्यसमाज स्वामी दयानन्द को भूले हुए प्राचीन वैदिक धर्म का पुनः प्रसारित करने वाला धर्मोद्धारक मात्र मानता है। किन्तु यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वे आर्य समाज के तो संस्थापक थे और यह भी सही है कि उनकी मृत्यु के बाद उनकी धार्मिक मान्यताओं और सिद्धान्तों को भी आर्य समाज ने इसी लिए स्वीकार कर लिया है कि वे वेदों पर आधारित हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, जो आर्य समाज का सर्वोच्च संगठन है, उसने भी अब अधिकृत रूप से यह स्थिति स्वीकार कर ली है।

धार्मिक सिद्धान्त

स्वामी दयानन्द की मान्यतायें जो अब आर्य समाज ने अपने धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर ली हैं, वे सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्त-व्यामन्तव्य शीर्षक में स्पष्ट की गई हैं। हम आर्य समाज के प्रथम तीन नियमों का उल्लेख करते समय दयानन्द के ईश्वर सम्बन्धी विचार और ईश्वरीय ज्ञान के रूप में वेदों की मान्यता पर प्रकाश डाल चुके हैं। सत्यार्थ प्रकाश के पहले तथा सातवें समुल्लासों अर्थात् अध्यायों में भी स्वामीजी ने ईश्वर और वेद के सम्बन्ध में अपने विचारों का विस्तार से विवेचन किया है। स्वमन्तव्यामन्तव्य तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला में उन्होंने अनेक प्रचलित धार्मिक प्रथाओं और सिद्धान्तों की जो परिभाषायें दी हैं वे इतनी मौलिक और तर्कपूर्ण हैं कि उन्हें हम आर्य समाज की ही देन कह सकते हैं जिनके कारण वह अन्य धार्मिक संगठनों से भिन्न सिद्ध होता है।

त्रैतवाद

भारत की दार्शनिक परम्पराओं में ईश्वर, जीव और प्रकृति के सम्बन्ध में तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं। एक अद्वैतवाद अर्थात् जो ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता को स्वीकार नहीं करता और प्रकृति तथा जीव को ईश्वर के ही भिन्न रूप में मानता है। इसे वेदान्त भी कहते हैं। दूसरे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर और जीव दो सत्तायें हैं और प्रकृति का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। इसे द्वैतवाद कहा जाता है और तीसरा सिद्धान्त त्रैतवाद का है जिसके अनुसार ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों का पृथक् और स्वतन्त्र अस्तित्त्व है। स्वामी दयानन्द इसी त्रैतवाद के सबसे बड़े आधुनिक प्रस्तोता और दार्शनिक समझे जाते हैं। त्रैतावाद के सिद्धान्त के अनुसार ईश्वर सत्, चित्त और आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द है। जीव सत् और चित्त अर्थात् चेतन है और प्रकृति केवल सत् है अर्थात् उसका सदा से अस्तित्व रहा है। इन दार्शनिक शब्दों का साधारण भाषा में अर्थ करना हो तो यह कहा जा सकता है कि प्रकृति जड़ अर्थात् निर्जीव है जबकि जीव चेतन अर्थात् सजीव है। किन्तु ईश्वर जीव और प्रकृति तीनों अनादि और अनन्त हैं अर्थात् न कभी उनका प्रारम्भ और जन्म हुआ और न कभी उनका अन्त होगा। इस प्रकार जीव और प्रकृति में जहां चेतनता का अन्तर है वहां वे दोनों अनादि और अनन्त होने के आधार पर समान हैं किन्तु ईश्वर में एक तीसरा गुण आनन्द है जो न प्रकृति में है और न जीव में। किन्तु जीव और प्रकृति के समान ईश्वर भी सत् अर्थात् चिरस्थाई तत्व है। जीव के साथ भी उसकी एक समानता है अर्थात् वे दोनों चित अर्थात् चेतन स्वरूप हैं। द्वैत, अद्वैत और त्रैतवाद इन तीनों में द्वैत और अद्वैत के समर्थकों के सामने अनेक ऐसी बौद्धिक समस्यायें और प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं जिनका वे समाधान नहीं कर पाते किन्तु त्रैतावाद का आधार सर्वथा बौद्धिक और एक प्रकार से आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं के निकट है। त्रैतवाद के अनुसार ईश्वर ने न जीव को उत्पन्न किया और न ही प्रकृति को। वह सृष्टिकर्त्ता केवल इसी अर्थ में है कि उसने इन पृथक् द्रव्यों का ज्ञान और युक्तिपूर्वक समन्वय करके उन्हें नाना रूप में प्रस्तुत किया है। यदि यह कहा जाये कि ईश्वर ने प्रकृति अर्थात् सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, वनस्पति, समुद्र आदि का निर्माण किया है तो इस प्रश्न का क्या उत्तर है कि ऐसा उसने क्यों और कहाँ से अर्थात् किस सामग्री द्वारा किया। इसी प्रकार प्रत्येक प्राकृतिक अच्छी बुरी घटना जैसे भूचाल, ज्वालामुखी आदि के कारण होने वाले विनाश के लिए भी ईश्वर उत्तरदायी समझा जायेगा। यही स्थिति

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीव के सम्बन्ध में भी है। यदि जीव या मनुष्य को ईश्वर ने बनाया जैसा ईसाई, मुसलमान आदि आधुनिक धर्म मानते हैं तो भी उपरोक्त दोनों प्रश्नों का समाधान कारक उत्तर नहीं मिल सकता और साथ ही जीवों के सब कर्मों और दुःख तथा कष्टों की जिम्मेदारी भी ईश्वर की ही समझी जायेगी। त्रैतावाद के अनुसार तीनों का स्वतन्त्र और अनादि अस्तित्त्व होने के कारण जीव को अपने-अपने कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ेगा। इसलिए ईश्वर को उनके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार ईश्वर उस संवैधानिक राजा के समान है जो केवल जीव और प्रकृति के नियमों का पालन करने के लिए अधिकृत है। स्वामीजी ने इसलिए ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानते हुए भी उसका अर्थ यह किया है कि वह वही कार्य कर सकता है जो उसके गुणों के अनुसार प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत आते हैं। अतः सर्वशक्तिमान् का अर्थ यह नहीं है कि वह किसी एक तन्त्रीय तानाशाह के अनुसार जो मर्जी आये उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक सब कर सकता है, निर्दोष को दण्ड और दोषी को इनाम दे सकता है। यही कारण है कि जीव या आत्मा को अमर मानने वाले धर्म भी इसका कोई उत्तर नहीं दे सकते कि यदि पूर्वजन्म के कर्म न हों तो कोई व्यक्ति सुखी और दूसरा बिना किसी अपराध के दोजख या नर्क में क्यों जाता है ?

सृष्टि की उत्पत्ति

सत्यार्थप्रकाश के आठवें समुल्लास में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वामीजी ने विस्तृत विवेचन किया है। उसमें भी त्रैतवाद के इस सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। आर्योद्देश्यरत्नमाला में सृष्टि की व्याख्या करते हुये स्वामीजी लिखते हैं कि—जो कर्त्ता की रचना से कारण द्रव्य किसी संयोग विशेष से अनेक प्रकार से कार्यरूप होकर वर्तमान में व्यवहार करने योग्य होती है, वह सृष्टि कहाती है—कारण और कार्य के सिद्धान्तों को समझाते हुए वे कहते हैं कि—जिनको ग्रहण करके बाला किसी कार्य व चीज को बना सकता है, अर्थात् जिसके बिना कोई चीज बन नहीं सकती, वह-कारण-कहाता है, सो तीन प्रकार का है—ईश्वर केवल निमित्त कारण है अर्थात् प्रकृति का

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
निर्माता न होकर उसको केवल व्यवस्था रूप देने वाला है और प्रकृति स्वयं उपादान कारण है। इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि घड़े (घट) के निर्माण में मिट्टी के समान प्रकृति उपादान कारण है और ईश्वर के समान कुम्हार निमित्त कारण है। स्वामीजी मुक्ति या मोक्ष को किसी स्थान विशेष से सम्बन्धित नहीं समझते किन्तु जीव का सर्व दुखों से छूटकर बन्धन रहित होना ही मोक्ष मानते हैं। दूसरे शब्दों में स्वामीजी के अनुसार न जीव कभी स्वयं ईश्वर बन सकता है और न ही उसमें सर्वदा के लिये विलीन ही हो सकता है। जैसा साधारणतः वेदान्त आदि की मान्यता है। उनके अनुसार जीव का अपना अनन्त और अमर अस्तित्व है और वह ईश्वर के सानिद्य में केवल आनन्द को प्राप्त होता है। देव या देवताओं के सम्बन्ध में भी स्वामीजी का कहना है कि वे मनुष्यों से भिन्न कोई प्राणी नहीं है बल्कि जो सत्पुरुष तथा विद्वान है उन्हें देव समझना चाहिए। असुर वे हैं जो दुष्ट मूर्ख या अशिक्षित है। इसी प्रकार राक्षस वे हैं जो पाप आदि दुराचरण करते हैं और पिशाच वे हैं जो सब प्रकार की गन्दगी में रहते हैं। दूसरे शब्दों में राक्षस, भूत, प्रेत आदि सम्बन्धी जो मान्यतायें हिन्दू तथा अन्य धर्म में प्रचलित हैं उन्हें स्वामी जी स्वीकार नहीं करते। तीर्थ का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं कि—तीर्थ—जिससे दुःखसागर से पार उतरे जो सत्य भाषण, विद्या, सत्संग, यमादि योगाभ्यास, पुरुषार्थ, विद्यादानादि शुभ कर्म हैं उन्हीं को तीर्थ समझता हूँ इतर जलस्थलादि को नहीं—इस मान्यता के अनुसार इस प्रचलित विश्वास का निषेध किया गया है कि किसी स्थान विशेष जैसे काशी या पुष्कर का नाम तीर्थ है जहां जाने से न मुक्ति या मोक्ष मिलता है और न ही गंगा आदि किसी नदी में स्नान करने से मुक्ति प्राप्त होती है। स्वामीजी इन स्थानों को पवित्र नहीं अपितु भौगोलिक महत्व का स्थान मानते हैं और केवल कर्मकाण्ड के स्थान में नैतिक जीवन को ही कल्याण या मोक्ष का साधन समझते हैं।

देव पूजा का अर्थ करते हुये वे लिखते हैं कि—विद्वानों, माता-पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना देव पूजा-कहलाती है, इससे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विपरीत अदेव पूजा है इनकी जीवित मूर्तियों की पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ इस प्रकार स्वामीजी पाषाण या मूर्ति की ईश्वर के रूप में पूजा करने के कट्टर विरोधी थे। निराकार ईश्वर की अन्य कोई शक्ल-सूरत बनाकर उसकी पूजा करना न केवल व्यक्तिगत जीवन के लिये मानसिक दृष्टि से हानिकारक है बल्कि वह हमारे सामाजिक पतन और देश की पराधीनता का भी प्रमुख कारण है। सत्यार्थप्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में उन्होंने मूर्ति पूजा की इन सब हानियों और बुराइयों का विस्तार से विवेचन किया है।

आर्य का अर्थ

आर्य का उन्होंने जो अर्थ किया है, वह एक गुणवाचक है अर्थात् प्रत्येक श्रेष्ठ, सदाचारी व्यक्ति आर्य है और दुष्ट व्यक्ति दस्यु है। इस प्रकार आर्य कोई जाति विशेष का द्योतक नहीं है। दक्षिण के द्रविड़ और अफ्रिका के नीग्रो भी इस परिभाषा के अनुसार आर्य हो सकते हैं। स्वर्ग और नर्क की भी उन्होंने इसी प्रकार विशेष व्याख्या की है। उनके शब्दों में—स्वर्ग नाम सुख विशेष और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है और नर्क विशेषप्रकार के दुःख और उसकी सामग्री को कहते हैं। इसलिये अन्य धर्मों के विश्वास के अनुसार न स्वर्ग पृथ्वी से ऊपर कोई स्थान है जहां ऐश्वर्य और भोग की उपलब्धि होती है और न ही नर्क पृथ्वी से नीचे किसी जगह का नाम है जहां जीव को दण्ड या अनेक प्रकार की यातनायें दी जाती हैं। इन सब को स्वामीजी अन्ध विश्वास मानते हैं और आत्मिक सुख, दुःख को ही स्वर्ग और नर्क समझते हैं। स्वामीजी द्वारा की गई कुछ अन्य परिभाषाएं इस प्रकार हैं :—

वर्णाश्रम–

गुण कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

राजा

उसी को कहते हैं जो शुभ गुण, कर्म स्वभाव से प्रकाशमान,

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षपातरहित न्याय धर्म की सेवा, प्रजाओं में पितृवत् वर्त्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।

पुराण—

जो ब्रह्मादि के बनाई ऐतरेयादि ब्राह्मण पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ अन्य भागवतादि को नहीं।

गुरु—

जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी गुरु कहाता है।

जन्म—

जो शरीर धारण कर प्रकट होना सो जन्म मानता हूं मृत्यु जैसे शरीर के संयोग का नाम जन्म है वैसे शरीर के वियोग को मृत्यु कहते हैं।

प्रार्थना—

अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं उनके लिए ईश्वर से याचना करना।

उपासना—

जैसे ईश्वर के गुण, कर्म स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना ईश्वर को सर्वव्यापक अपने को व्याप्य जानकर ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

पुण्य—

जिसका स्वरूप विद्यादि शुभ गुणों का दान और सत्य भाषणादि सत्याचार का करना है, उसको पुण्य कहते हैं।

सत्यभाषण—

जैसा कुछ अपने आत्मा में हो और असम्भवादि दोषों से रहित करके सदा वैसा ही बोले, उसको सत्यभाषण कहते हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

स्तुति Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो ईश्वर व किसी दूसरे पदार्थ के गुण, ज्ञान, कथन, श्रवण और सत्य-भाषण करना है, वह स्तुति कहाती है।

जाति

जो असाधारण लक्षण से युक्त है और जो अनेक व्यक्तियों में एक रूप में प्राप्त हो, जो ईश्वरकृत अर्थात् मनुष्य, गाय, अश्व और वृक्षादि समूह हैं, वे जाति शब्दार्थ से लिखे जाते हैं।

आर्य

जो श्रेष्ठ स्वभाव, धर्मात्मा, परोपकारी, सत्विद्यादि गुणयुक्त हैं उनको आर्य कहते हैं।

वर्ण

जो गुण और कर्मों के योग से ग्रहण किया जाता है, वह वर्ण शब्दार्थ से लिया जाता है।

नमस्ते

नमस्ते का अर्थ है मैं तुम्हारा मान करता हूं।

जाति प्रथा का निषेध

उपरोक्त धार्मिक सिद्धान्तों और मान्यताओं के प्रतिपादन के साथ ही स्वामीजी ने अनेक ऐसी धार्मिक प्रथाओं, कुरीतियों का भी निषेध किया है जिन्हें वे असत्य, असामाजिक तथा बुद्धि विरोधी और यहां तक कि ईश्वर विरोधी तक मानते थे। उदाहरण के लिये हिन्दुओं में प्रचलित श्राद्ध, तर्पण आदि जिसके द्वारा ब्राह्मणों को खिलाया हुआ भोजन मृतक पित्रों को पहुँच जाता है, ऐसा विश्वास किया जाता है, स्वामीजी के अनुसार वास्तविक श्राद्ध का अर्थ अपने जीवित माता-पिता के प्रति श्रद्धा रखना और उनका आदर सत्कार करना है ताकि वे इसी जीवन में प्रसन्न और सुखी रहें। स्वामी जी हिन्दुओं में प्रचलित बहुविवाह के बड़े विरोधी थे और पतिव्रत के समान वे

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्नीव्रत के भी समर्थक थे जिस प्रकार पत्नी से यह आशा की जाती है कि वह पति की सेवा करे और उसके प्रति वफादार रहे उसी प्रकार पति का भी कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी को सहधर्मिणी समझकर उसके साथ भी समान व्यवहार करे। वे बालविवाह के सर्वथा विरुद्ध थे। उन्होंने लड़के लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु क्रमशः 16 और 25 वर्ष निर्धारित की है जब कि आज हिन्दू कोड कानून में उससे कम आयु में विवाह की आज्ञा है किन्तु व्यवहार में तो प्रति वर्ष इस बालविवाह विरोधी कानून के बावजूद भी लाखों की संख्या में छोटे बच्चे-बच्चियों के विवाह होते हैं। राजस्थान में तो आखातीज के अवसर पर कुछ जातियों में शिशु काल में ही वर-वधुओं को उनके मां-बाप अपनी गोद में बैठाकर विवाह के बन्धन में बांध देते हैं। वे विधवा विवाह के भी समर्थक थे और सति प्रथा के घोर विरोधी थे। उनकी मौलिकता और विशेषता यह थी कि उन्होंने इन सब धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का निषेध उन्हीं वेदों के आधार पर किया जिनको पौराणिक हिन्दू इन सबका समर्थक मानते हैं। उदाहरण के लिये वेद के जिस तथा-कथित मन्त्र के आधार पर सति प्रथा का समर्थन किया जाता था, स्वामीजी ने उसी का सही अर्थ बताकर उसका विरोध किया। इस मन्त्र में 'अग्रे' अर्थात् आगे के स्थान में 'अग्ने' अर्थात् अग्नि के अर्थ में प्रयोग करके यह कहा गया कि मरने के बाद उसकी पत्नी को अग्नि में प्रवेश करना चाहिये जब कि स्वामीजी ने स्पष्ट किया कि इस मंत्र में पति के शव के आगे पत्नी को चलने का विधान है। यह एक उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार स्वामीजी ने वेदों का मौलिक और अधिकृत भाष्य किया और उसी के आधार पर अपने द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों का समर्थन तथा सनातनी अर्थात् पौराणिक हिन्दू धर्म में प्रचलित वेदविरुद्ध मान्यताओं का खन्डन किया।

स्वामी जी न किसी नदी या कुण्ड को धार्मिक या पवित्र स्थान मानते थे और न ही किसी समाधि, कब्र आदि को। इसलिए उन पर किसी प्रकार के चढ़ावे का भी उन्होंने निषेध किया है। चन्द्र और सूर्य ग्रहण के अवसरों पर उपवास और स्नान, जागरण आदि को भी वे व्यर्थ समझते थे क्योंकि

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
यह सब प्राकृतिक घटनायें हैं जिनका हमारे उपवास और स्नान से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। स्वास्थ्य की दृष्टि से उपवास आदि दूसरी बात है।

उनके अनुसार मृत्यु के बाद दाह संस्कार अन्तिम क्रिया है उसके पश्चात् पिण्ड दान, मृत्यु भोज, तीर्थ यात्रा आदि को भी वे व्यर्थ समझते थे। अस्थियों को नदी या अन्य जलाशयों में प्रवाहित करने का भी उन्होंने निषेध किया है क्योंकि इसके कारण शुद्ध जल भी गन्दा और पीने के अयोग्य हो जाता है। काशी में मनिकर्णिका घाट से गंगा में प्रवाहित किये जाने वाले आधे जले शवों को जिन्होंने तैरते देखा है उन्हें स्वामीजी की इस कथन की सत्यता स्पष्ट होगी। वैज्ञानिक परीक्षण से भी यह सिद्ध हुआ है कि गंगोत्री से आगे गंगा जल अब अनेक रोग के कीटाणुओं के कारण पीने योग्य तक नहीं है।

स्त्री की समानता

स्वामी जी न केवल स्त्रियों को पुरुषों के समान मानते थे अपितु कई दृष्टि से उन्हें उनसे श्रेष्ठ समझते थे। आधुनिक भारत में वही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने लड़कियों को भी वेद के अध्ययन और यहां तक कि यज्ञोपवीत धारण करने और पुरोहित तथा उपदेशिका आदि बनाने का अधिकार दिया। छुआछूत को वे मनुष्य जाति के लिए एक कलंक समझते थे और जन्म के आधार पर जाति प्रथा के कट्टर विरोधी थे। इसीलिए उन ब्राह्मणों को 'पोप' कहते थे जो अपने जन्म के आधार पर अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहते थे। ईसाई धर्म में जिस प्रकार रोम में रहने वाले पोप पैसा लेकर यह प्रमाण पत्र (इन्डलजैन्सेज) देते थे कि उसे लेकर जो व्यक्ति मरने के बाद कबर में गाड़ा जाता है उसे नरक की यातना से मुक्ति मिल जाती है। आज आर्यसमाज में अनेक ऐसे पण्डित, पुरोहित और उपदेशक हैं जिनका जन्म तथाकथित अछूत परिवारों में हुआ है किन्तु वे आज आर्य समाज के मन्दिरों में उपदेश, प्रार्थना, यज्ञ और विवाह आदि संस्कार कराते हैं। उनमें कुछ जन्मजात मुसलमान और ईसाई भी हैं जिन्हें आर्यसमाज ने शुद्ध किया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धि अर्थात् अहिन्दुओं का धर्मान्तरण

हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी सामाजिक निर्बलता उसकी जात-पांत की प्रथा है और इसी के साथ जुड़ी हुई एक समस्या अहिन्दुओं को हिन्दू धर्म में प्रवेश की है। पहले तो हिन्दू धर्म अन्यों के धर्मान्तरण में विश्वास ही नहीं करता क्योंकि उनके अनुसार हिन्दू वही है या हो सकता है जो हिन्दू पैदा हुआ हो यद्यपि उसे यह आजादी है कि वह अपना धर्म छोड़कर ईसाई या मुसलमान आदि अन्य धर्म स्वीकार कर सकता है। दूसरी निर्बलता यह है कि चूंकि हिन्दुओं का कोई एक संगठित धर्म नहीं है और वह स्वयं अनेक विरोधी विचारों और विश्वासों का एक अजायबघर है इसलिए रपट पड़े तो हर गंगा इस विचारोक्ति के अनुसार उनके साधारण समर्थक ही नहीं प्रमुख अनुयायी भी यह कहते हैं कि हिन्दू धर्म इतना उदार है कि वह अन्य सब धर्मों को समान या सत्य समझता है इसलिए अन्य धर्मों के अनुयायियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने की क्या आवश्यकता है। यदि भूले-भटके कोई अहिन्दू हिन्दू धर्म स्वीकार भी कर ले तो उसके सामने सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह हिन्दुओं की किस जाति में अपना या अपनी सन्तान का विवाह आदि कर सकेगा। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का राजनैतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी महत्त्व इसलिये है कि जहां अपनी जन्मभूमि भारत में ही हिन्दुओं की संख्या निरन्तर कम होती जा रही है वहां अन्य देशों में उनके स्थानीय अनुयायी हिन्दू नहीं बनते जब कि दूसरी ओर इस्लाम और ईसाई धर्म के अनुयायी न केवल भारत में बढ़ रहे हैं अपितु संसार के प्रत्येक देश, जाति और नस्ल के लोग इन्हें स्वीकार कर चुके हैं।

स्वामी दयानन्द की आधुनिक हिन्दुओं को एक बहुत बड़ी देन यह है कि उन्होंने न केवल वैदिक धर्म के रूप में हिन्दू धर्म को एक संगठित और आधुनिक धर्म बनाने का ही प्रयत्न किया बल्कि धर्मान्तरित हिन्दू ही नहीं बल्कि जन्मजात अहिन्दुओं के लिये भी शुद्धि का प्रावधान करके उसके दरवाजे सब के लिये खोल दिये। आज भी आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा अहिन्दू हिन्दू समाज में प्रवेश करता है। दुर्भाग्य से हिन्दू धर्म की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
असंगतियां और विशेष कर जात-पांत के कारण आर्यसमाज का यह आन्दोलन जितना चाहिये उतना सफल नहीं हो सका। स्वयं आर्यसमाज में भी हिन्दुओं की जात-पांत ने प्रवेश करके उसे निर्बल करना प्रारम्भ कर दिया है। छुआछूत की वर्तमान समस्या के निराकरण का कार्य भी सफल और प्रभावी ढंग से आर्यसमाज ने ही प्रारम्भ किया था। उस समय तक गाँधी जी का हरिजनोद्धार आन्दोलन प्रारम्भ नहीं हुआ था और न ही वर्तमान संविधान के द्वारा उसको सैद्धान्तिक मान्यता दी गई थी। स्वामीजी छुआछूत के इस अभिशाप को जड़मूल से ही मिटाने के पक्ष में थे। दूसरे शब्दों में उन्होंने तथाकथित अछूत परिवार में जन्मे प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दिया कि वह अपनी जन्मगत जाति से सदा के लिये मुक्त होकर चाहे तो स्वयं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के समान सवर्ण या द्विज बन सकता है और इस प्रकार किसी के सदा हरिजन या अछूत बने रहने का प्रश्न ही नहीं होता। वैदिक वर्ण व्यवस्था में शूद्र भी अछूत नहीं होता। एक निरक्षर मूर्ख ब्राह्मण भी शूद्र समझा जाता है। स्वाधीनता के बाद छुआ-छूत के इस कलंक को दूर करने के लिये केवल आर्थिक और राजनैतिक प्रयत्न किये गये जिन के द्वारा उन्हें कुछ विशेष सुविधायें दी गयीं जिनका परिणाम ठीक उल्टा हो रहा है अर्थात अछूत और हरिजन समुदाय सर्वदा के लिये अछूत और हरीजन बन गये यहां तक कि आर्यसमाज के माध्यम से जो हरिजन या अछूत ब्राह्मण बन गये थे वे भी इन विशेष प्रलोभनों के कारण पुनः अपने आप को अनुसूचित जाति का घोषित करने लगे।

शिक्षित हिन्दू चाहे उनके साथ सामाजिक जीवन में छुआछूत न करें किन्तु कट्टर से कट्टर कांग्रेसी या राजनैतिक नेता भी उनके साथ आज भी रोटी-बेटी और विशेषकर बेटी का व्यवहार नहीं करता। इसलिये आज पुनः मीनाक्षीपुरम् जैसी सामूहिक धर्मान्तरण की घटनाओं के कारण यह प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दू धर्म में रहकर कोई अछूत या हरिजन अपने इस कलंक से छूट सकता है। हिन्दू समाज के लिये भी यह एक चुनौती है इसलिये मेरी यह मान्यता है कि जब तक आर्य समाज भी हिन्दू धर्म का ही एक अंग

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

या सम्प्रदाय बना रहेगा तब तक वह भी जात-पांत की और न छुआछूत की
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
समस्या को हल करने में समर्थ होगा। उसका शुद्धि आन्दोलन भी इसीलिये सफल नहीं हो सकता कि उसने अहिन्दुओं को आर्य बनाने के स्थान में हिन्दू बनाने का प्रयत्न किया और इस प्रकार जात-पांत और छुआ-छूत से न इन शुद्ध किये गये अहिन्दुओं को छुट्टी मिल सकी और न ही उन अछूत और दलित वर्गों को जिन्हें आर्यसमाज ने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बनाने का प्रयत्न किया।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय ६

धर्म : उनके संस्थापक और सुधारक

यह कहा जाता कि है आर्यसमाज, हिन्दू धर्म का केवल एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय है, एक पृथक् धर्म नहीं। बलपूर्वक वह भी कहा जाता है कि स्वामी दयानन्द ने कभी यह दावा नहीं किया कि मैं किसी नये धर्म की स्थापना कर रहा हूँ। फलतः आर्यसमाज को हिन्दू धर्म से पृथक् कदापि नहीं समझा जा सकता।

धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन

संसार के महान् धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन श्री गंगाप्रसाद ने किया था। वे मेरठ कॉलेज में अंग्रेजी और तर्कशास्त्र के प्राध्यापक तथा बाद में टेहरी-गढ़वाल राज्य के मुख्य न्यायाधीश रहे थे। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक (फाउंटेन हैड ऑफ रिलीजन) में विद्वान् लेखक ने धर्मों के उद्‌भव के विषय में प्रचलित अनेक मिथ्या धारणाओं का निराकरण किया है। पुस्तक की भूमिका में उन्होंने कहा है, "विश्व के महान् धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन सिद्ध करता है कि नये धर्मों का मूल प्राचीनतर धर्मों में और प्राचीनतर धर्मों का मूल उनसे और प्राचीन धर्मों में खोजा जा सकता है।" तब विभिन्न धर्म किस प्रकार आस्तित्व में आ गये, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उक्त लेखक ने कहा है, जब भी किसी धर्म के किसी सत्य को पुजारी वर्ग ने अपनी अज्ञानता या स्वार्थपरता के कारण दबा दिया अथवा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह सत्य दृष्टि से ओझल हो गया, तब कोई महापुरुष प्रकट हुआ, जिसने पुनः विलुप्त सत्य पर बल दिया, सत्य को ढकने या अंशतः अस्पष्ट कर देने वाले आवरण को हटाया और उसे अपनी पहली चमक-दमक के साथ चमकाया। इस प्रकार प्रत्येक धर्म किसी प्राचीन धर्म के सुधारने का एक नवीन प्रयत्न का परिणाम मात्र है।

इस्लाम, यहूदी धर्म पर आधारित

इस्लाम, ईसाई, बौद्ध, यहूदी, पारसी तथा वैदिक धर्मों की काल-क्रमगणना करते हुये विद्वान् लेखक ने तर्क तथा अभिलिखित प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि प्रत्येक तथाकथित धर्म का मूल उसके निकटतम पूर्ववर्ती धर्म में खोजा जा सकता है। इस्लाम और ईसाई तथा यहूदी धर्मों का गहरा सम्बन्ध उनके अनुयायी भी स्वीकार करते हैं। उदाहरणार्थ, इस्लाम अब्राहम, मूसा और ईसा को अपने पैगम्बर मानता है। हाँ, वह यह अवश्य कहता है कि इस परम्परा में मुहम्मद अन्तिम थे। लेखक ने डा. सेल द्वारा लिखित कुरान शरीफ के प्रसिद्ध अनुवाद तथा इसमें दिये गये अनेक उदाहरण देकर प्रकट किया है कि मुहम्मद साहब ने अपने प्रायः सभी सिद्धान्त यहूदी धर्म से ग्रहण किये थे। तुलनात्मक धर्मों के एक और विद्वान् मैक्समूलर ने ईसाइयत के अधिकृत प्रवक्ता सन्त ऑगस्टाइन का उद्धरण देकर यह दिखाया है कि ईसाइयत भी कोई नया स्वतन्त्र धर्म नहीं है। मैक्समूलर ने अपने 'चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशाप' नामक ग्रन्थ में लिखा है, "सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक कोई भी पूर्णतया नया धर्म कभी उत्पन्न नहीं हुआ है।" यदि हम एक बार स्पष्ट रूप से यह समझ लें तो सन्त ऑगस्टाइन का यह कथन समझ में आजाएगा कि—"जिसे अब ईसाई धर्म कहा जाता है, वह प्राचीन लोगों में विद्यमान था और मानव के प्रारम्भ से ईसा के देहधारण तक कभी अविद्यमान नहीं रहा। ईसा के देहधारण के समय से वह सत्य धर्म, जो पहले से ही विद्यमान था, ईसाई धर्म कहा जाने लगा।"

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई धर्म और यहूदी

यह सभी स्वीकार करते हैं कि ईसाई धर्म का आधार यहूदी धर्म है। यही कारण है कि पुराने अहदनामे (ओल्ड टेस्टामेन्ट) को ईसाई और यहूदी दोनों अपनी धर्मपुस्तक के रूप में स्वीकार करते हैं। ईसा स्वयं यहूदी थे और उन्होंने स्वयं यह बात अपने प्रसिद्ध "सर्मन आन दी माउन्ट" में यह कहकर स्वीकार की है कि "यह मत सोचो कि मैं पुराने पैगम्बर के नियमों को तोड़ने आया हूं।" यह दावा किया जाता है कि ईसाइयत नैतिक नियमों को दृष्टि से यहूदी धर्म से भिन्न है और ईसाइयत के नैतिक सिद्धान्त यहूदी पैगम्बर के नैतिक सिद्धान्तों से अधिक ऊँचे और अच्छे हैं। किन्तु श्री रमेशचन्द दत्त अपनी 'प्राचीन भारत' नामक पुस्तक में ईसाई धर्म के इन नैतिक सिद्धान्तों का स्रोत बौद्ध धर्म को बताते हैं। वे कहते हैं, "प्राचीन धर्मों में आचार एवं नैतिक दृष्टि से ईसाई धर्म निःसन्देह उस बौद्ध धर्म पर आधारित है जिसका उपदेश फिलिस्तान में ईसा के जन्म के समय बौद्धों द्वारा दिया गया था।"

फलतः प्रोफेसर मैक्समूलर ने बिलकुल सही कहा है कि सृष्टि के आरम्भ से अब तक कोई बिलकुल नया धर्म उत्पन्न नहीं हुआ है। उन्होंने थियोसॉफिकल सोसायटी की संस्थापक मैडम ब्लैवेठस्को के इस विचार को भी उद्धृत किया है कि 'एकाधिक बड़े विद्वानों ने कहा है कि आर्य, सैमेटिक अथवा तूरानियन आदि किसी भी जाति में कोई भी ऐसा धर्म संस्थापक कभी नहीं हुआ जिसने किसी नये धर्म का आविष्कार किया हो या किसी नये सत्य को प्रकट किया हो ये सब संस्थापक केवल सन्देशवाहक थे न कि प्रथम धर्मशिक्षक।'

पुस्तकालय

बौद्ध धर्म

यह सर्वविदित है कि गौतम बुद्ध का नया धर्म स्थापित करना अभिप्रेत नहीं था। वे केवल वैदिक धर्म में उत्पन्न बुराइयों को हटाना चाहते थे।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
यही काम आधुनिक युग में स्वामी दयानन्द ने किया। गौतम बुद्ध ने वेदों के नाम पर ब्राह्मणों द्वारा आरम्भ की हुई पशु-हिंसा और उस जातिवाद के विरुद्ध विद्रोह किया जिसका परिणाम शूद्रों पर अत्याचार के रूप में प्रकट हुआ। इस विषय में श्री रमेशचन्द्र दत्त का एक और उद्धरण प्रस्तुत है, "यह समझना कि गौतम बुद्ध ने जानबूझ कर अपने आपको एक नवीन धर्म-प्रवर्त्तक के रूप में प्रस्तुत किया, ऐतिहासिक दृष्टि से एकदम गलत होगा। इसके विपरीत, उनका अंतिम समय तक यह विश्वास था कि मैं केवल धर्म के उस प्राचीन तथा पवित्र रूप की घोषणा कर रहा हूं जो हिन्दुओं, ब्राह्मणों, श्रमणों तथा अन्यों में प्रचलित था, परन्तु जो बाद में दूषित हो गया।" रमेशचन्द्र दत्त के अनुसार, "हिन्दुओं में घुमक्कड़ साधुओं के बहुत से सम्प्रदाय थे उन सम्प्रदायों को भिक्खु अथवा श्रमण कहा जाता था। गौतम बुद्ध ने केवल श्रमणों के एक सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था। उस सम्प्रदाय को शाक्यपुत्रीय श्रमण कहा जाता था।"

दयानन्द और आर्यसमाज

स्वामी दयानन्द की स्थिति आर्यसमाज में कम या अधिक वही है, जो ईसा अथवा गौतम बुद्ध की ईसाई धर्म या बौद्ध धर्म में आरंभ में थी। उन्होंने कभी भी किसी नये धर्म के प्रवर्त्तन का दावा नहीं किया। वे तो केवल पुराने धर्मों का संशोधन करना चाहते थे। स्वामी दयानन्द ने भी यह कहा था कि किसी नये धर्म की स्थापना मेरा उद्देश्य नहीं है, फिर भी इस्लाम, ईसाइयत तथा बौद्ध धर्म की भाँति आज आर्यसमाज भी सनातन धर्म से बिल्कुल पृथक् एक सुनिश्चित भिन्न धर्म है। इसलिए केवल यह तथ्य कि—आर्यसमाज हिन्दू धर्म में से ही निकला है और वह हिन्दू धर्म को आर्यों के मौलिक एवं पवित्र वैदिक धर्म के रूप में पुनः परिवर्तित करने के लिए इसे संशोधित करना चाहता है, इस वास्तविकता को नकारने के लिए युक्ति के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है कि आर्यसमाजी सनातनी हिन्दुओं से, जहाँ तक धार्मिक विश्वासों का सम्बन्ध है, वहाँ तक एकदम पृथक् हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हम पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदों की प्रामाणिकता स्वीकारने जैसी उपरि समानता आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय नहीं बना सकती, क्योंकि आर्यसमाज हिन्दू धर्म के आधारभूत विश्वासों तथा व्यवहारों से मतभेद रखता है और उन्हें वेद विरुद्ध मानता है।

वेदों का अर्थ

स्वामी दयानन्द के अनुसार, सनातन हिन्दू धर्म सही अर्थ में वेदों को स्वीकार नहीं करता, क्योंकि इसका मुख्य आधार पुराण हैं, जो वेदों के बिलकुल प्रतिकूल हैं। वे उपनिषदों, ब्राह्मणों, सूत्रों अथवा गीता तक को वेदों का भाग नहीं मानते थे। वे केवल मन्त्रों अथवा संहिताओं को वास्तविक वेद मानते थे। सनातनी हिन्दू वेदों का प्रमाण केवल अपने अवैदिक विश्वासों और व्यवहारों को आदरणीयता एवं पवित्रता प्रदान करने के लिए देते हैं। सर विलियम हंटर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक- इण्डियन एम्पायर—में आर्यसमाज के इस विचार का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं, "वैदिक तथा वैदिकोत्तर साहित्य का पर्दा दृश्यपटल पर ईसा के पूर्व पंचम शताब्दी से पहले गिर जाता है। जब ईसा की दशम शताब्दी के लगभग वह पर्दा पुराणों में चित्रित मध्यकालीन भारत के घरेलू तथा धार्मिक जीवन के रूप में प्रकट होता है तब बड़ा भारी परिवर्तन हो चुकता है। सनातनी हिन्दू दुर्भाग्यवश अपनी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मध्यकालीन मान्यताओं के समर्थन में वेदों के प्रमाणों का दावा करने की आदत के शिकार हैं। वस्तुतः ये मध्यकालीन संस्थाएं व मान्यताएँ आधुनिक हिन्दू धर्म की आधार हैं, अनार्यत्व के अन्धकार तथा आर्यत्व के प्रकाश के मिश्रण की उपज हैं।" आगे वे फिर कहते हैं, "इसी प्रकार जब यह बात अच्छी तरह समझ ली जाती है कि हिन्दू धर्म के अन्य अन्धकारपूर्ण पहलू भी वेदों पर आधारित न होकर आर्य सभ्यता तथा अनार्य बर्बरता के बीच हुए मानवीय समझौते पर आधारित हैं तब भारतीय सुधारक का आधा काम पूरा हो जाता है। यह बिल्कुल सही और उचित है कि हमारे समय के भारतीय धार्मिक आन्दोलन मध्यकालीन हिन्दू धर्म की प्रामाणिकता को अस्वीकार करके फिर से वेदों की प्रामाणिकता की घोषणा करते हैं।"

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

·Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार सर विलियम हंटर आर्यसमाज की स्थिति का समर्थन करते हैं और उनका यह कथन कि 'हमारे समय के महान् धार्मिक आन्दोलन मध्यकालीन हिन्दू धर्म को अस्वीकार करके वेदों की प्रामाणिकता की घोषणा करते हैं,' सर्वथा ऋषि दयानन्द पर घटित होता है।

पारसी

यह कहा जा सकता है कि पारसी धर्म और वैदिक धर्म सिद्धान्तों और भाषायी दोनों दृष्टि से उल्लेखनीय रूप में समान हैं। पारसियों ने अपने धर्मग्रन्थों में अपने आप को आर्य ही कहा है। एक पारसी विद्वान् जी. एन. सीरवी स्वीकार करते हैं कि जरथुस्थ, बुद्ध के समान ही एक आर्य सुधारक थे जिनका उद्देश्य वैदिक धर्म को बाद में उत्पन्न हुई भ्रष्टता से मुक्त करना था। एक दूसरे प्रसिद्ध पारसी विद्वान् डा. एस. ए. कापड़िया अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जरथुस्थु की शिक्षाएं' में इसी प्रकार की सम्मति प्रकट करते हुए कहते हैं कि "जरथुस्थु का उद्देश्य केवल प्राचीन आर्य धर्म की पवित्रता अथवा आर्यों के प्राचीन एकेश्वरवादी धर्म को वापस लाना था।" इन तथ्यों के होते हुए जब पारसी धर्म को हिन्दू धर्म का अंग नहीं समझा जाता है तब आर्यसमाज वेदों में श्रद्धा रखने मात्र से हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार यदि सिख धर्म हिन्दू धर्म के साथ और भी अधिक समानता रखते हुए भी एक पृथक् धर्म माना जाता है, तो पौराणिक हिन्दू धर्म का खुलकर विरोध करने वाला आर्यसमाज हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय कैसे कहा जा जकता है ?

समस्त धर्मों का समान उद्गम

सब धर्मों का तर्कयुक्त तथा लिखित प्रमाणों पर आधारित तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् श्री गंगाप्रसाद यह निष्कर्ष निकालते हैं कि "हमने धर्म की मुख्य धारा का अनुगमन उन विभिन्न छोटी धाराओं के सहारे-सहारे किया है, जो मिलकर या अलग-अलग बह रही है। कुरान और बाइबिल हमें 'जिंदाअवस्था' और बाद में वेदों तक ले जाते हैं। वहां से हम और आगे नहीं बढ़ सकते और वहाँ हमें वह धारा सीधे आकाश से उतरने वाली सनातन अर्थात् सबसे पहली ज्योति दिखाई पड़ती है।"

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तब क्या हमारे लिए यह कहना उचित नहीं है कि वेद समस्त धर्मों के आदि स्रोत हैं ?" यह संकेत करना उचित होगा कि उक्त पुस्तक का एक ईसाई समालोचक भी यह स्वीकार करता है कि समस्त आर्य धर्मों का अर्थात् (पारसी, बौद्ध तथा वैदिक धर्म का) मूल स्रोत एक ही यानी वेद है। यद्यपि ईसाई व इस्लाम जैसे सेमेटिक धर्मों को वह वेद पर आधारित नहीं मानता किन्तु ऐसे समालोचक भी उन तथ्यों का संतोषजनक खण्डन नहीं कर सके हैं जिनके आधार पर श्री गंगाप्रसाद जी ने सब धर्मों का मूल स्रोत वेद को बताया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 6 (अ)

देश, धर्म और हिन्दू समाज को आर्य समाज की देन

7 अप्रेल, 1875 को बम्बई में ऋषि दयानन्द ने पहली आर्य समाज स्थापित की थी उसे आज 110 वर्ष से अधिक समय हो गया है। यद्यपि धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों के इतिहास में यह समय अधिक नहीं है, किन्तु इन वर्षों में आर्य समाज ने जो सफलतायें और उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं वे कई दृष्टियों से आश्चर्यजनक कही जा सकती हैं।

उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि उसके द्वारा की गई विचार क्रांति है। संसार की क्रान्तियों का मुख्य आधार विचारों की क्रान्ति रहा है। प्राय: सब इतिहास वेत्ता आर्य समाज के संस्थापक ऋषि दयानन्द को उन्नीसवीं सदी का महान् क्रान्तिकारी विचारक मानते हैं। उनकी प्रेरणा से आर्य समाज ने गत सौ वर्षों में धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक, राष्ट्रीय और राजनैतिक आदि प्रायः सब क्षेत्रों में नयी आकाँक्षाये, नयी दिशायें नयी आशायें और नयी सम्भावनायें उत्पन्न की हैं।

इसी प्रकार धार्मिक जगत में भी उसने एक धार्मिक क्रान्ति को जन्म दिया है। आज के वैज्ञानिक युग में ईश्वर और धर्म के प्रति अविश्वास का कारण उनके नाम पर प्रतिपादित अन्धविश्वास और प्रचलित निरर्थक रीति-रिवाज हैं। आर्यसमाज के रूप में ऋषि दयानन्द ने हमें एक ऐसा जीवन-दर्शन दिया है जो हमारी आध्यत्मिक जिज्ञासा, मनोवैज्ञानिक अकांशा, तथा जीवन की व्यावहारिक आवश्यकता को सन्तुष्ट करता है और साथ ही शाश्वत सत्यों के आधार पर प्रगति का मार्ग भी खुला रखता है। उनके

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
द्वारा प्रतिपादित यह जीवन दर्शन या धर्म, सरल और सीधा सादा, सबके समान रूप से साध्य और तर्कविहीन विश्वासों और कर्मकाण्डों से मुक्त है। उसकी छ: विशेषतायें निम्न प्रकार हैं :—

1. ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं बल्कि एक निराकार शक्ति है।
2. आत्मा अनादि और अमर है किन्तु कर्म करने में वह सर्वथा स्वतन्त्र है, स्वस्थ तथा सम्पन्न शरीर उसका आवश्यक साधन है।
3. स्थूल जगत या प्रकृति का भी अस्तित्व पृथक् और अनादि है।
4. कर्म और उसका परिणाम पुनर्जन्म है किन्तु उनका आधार भाग्य या केवल ईश्वर इच्छा न होकर पुरुषार्थ और कर्म की स्वतन्त्रता है।
5. सब प्रकार की समानता पर आधारित व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण एक दूसरे के पूरक हैं।
6. ईश्वर और मनुष्य के बीच में किसी पैगम्बर, गुरु या मसीहा अथवा दूत की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं हैं।

आर्य समाज द्वारा की गई सामाजिक क्रान्ति उसकी तीसरी बड़ी देन है। आज का सुधरा हुआ हिन्दू समाज आर्यसमाज की ही देन है। जन्मगत जात-पांत, छुआछूत, बाल-विवाह, पर्दा दहेज आदि का विरोध तथा खान-पान और चौके-चूल्हे के साधनों के विरुद्ध सैद्धान्तिक प्रचार और व्यावहारिक आन्दोलन आर्य समाज का ही कार्य है। अन्तर्जातीय विवाह, विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा, विदेश यात्रा आदि पर लगे प्रतिबन्धों की जड़े आर्य समाज ने ही खोखली की हैं।

हिन्दु तब और अब : आर्य समाज की एक बड़ी सेवा यह है कि उसने हिन्दू धर्म और हिन्दू समाज को उसकी अनेक कमजोरियों से मुक्त करके न केवल संगठित और सुनिश्चित करने का ही प्रयत्न किया अपितु उसके दरवाजे ईसाई, मुसलमान आदि अहिन्दुओं के लिये भी खोलकर उसे वास्त-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विक अर्थों में व्यापक और उदार बनाने का यत्न किया। अपने स्वधर्मी भाइयों को साँप और विच्छू के समान अछूत समझने वाला और ईसाई, मुसलमान आदि परधर्मियों को म्लेच्छ कहकर उनका छुआ हुआ पानी तक पीने से घबराने वाला हिन्दू अपने धर्म, संस्कृति और स्वाधीनता की रक्षा करने में असमर्थ था।

Docile and submissive Hindu अर्थात् 'गाय जैसा गरीब और सबसे शरण माँगने वाला हिन्दू' कहकर उसका जो लोग उपहास करते थे आर्यसमाज के कारण वह Militant and aggressive Hindu अर्थात् साहसी और आक्रमक हिन्दू समझा जाने लगा। "दी पीपुल ऑफ इण्डिया" के प्रसिद्ध लेखक सर जाने सीली को इसीलिये यह स्वीकार करना पड़ा कि "जो हिन्दू धर्म अपनी दार्शनिक समझौते तथा स्वरूप विहिन अनिश्चितता की ठण्डी राख के कारण राष्ट्रीय एकता की आग उत्पन्न करने में असमर्थ था उसे दयानन्द ने एक निश्चित स्वरूप देकर उसमें साहस और पौरुष उत्पन्न करने का प्रयत्न किया।"

स्वराज्य और स्वदेशी : भारत में राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में अंग्रेजी शिक्षा के साथ, सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों का प्रमुख योगदान रहा है, किन्तु राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज के विपरीत आर्यसमाज का यह सुधार आन्दोलन सर्वथा भारतीय और राष्ट्रीय था। 1885 में कांग्रेस के जन्म से दस वर्ष पूर्व 1875 में स्वराज्य का पहला उद्घोष करने वाले स्वामी दयानन्द थे। अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होने निर्भयता पूर्वक यहां तक लिखा है कि माता-पिता के समान होने पर भी विदेशी राज्य स्वदेशी राज्य की बराबरी नहीं कर सकता। पाश्चात्य विचारकों का "Good government is no substitute for self government" अर्थात् "सूराज्य, स्वराज्य का विकल्प नहीं है।" इस आधुनिक सिद्धान्त की स्वामी जी ने इतने पहले घोषणा करदी थी। इसी प्रकार बंग-भंग से बहुत पूर्व स्वामी जी ने सदा स्वदेशी वस्तुओं का स्वयं व्यवहार करके तथा दूसरों को भी ऐसा ही आग्रह करके स्वदेशी आन्दोलन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को जन्म दिया। अंग्रेजी सरकार आर्य समाज को एक राजद्रोही आन्दोलन समझती थी जैसा सर वेलेन्टाईन शिरोल ने 'इंडियन अनरेस्ट' में स्वीकार किया है। स्वाधीनता के आन्दोलन और गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलनों में लाला लाजपतराय और स्वामी श्रद्धानन्द जैसे आर्य नेता और हजारों आर्य समाजी जेल गये। क्रान्तिकारियों में भाई परमानन्द, भगतसिंह और रामप्रसाद बिस्मिल आदि फांसी की सजा पाने वाले अनेक शहीद आर्यसमाज से सम्बन्धित थे। Everyman के विश्व कोश के पृष्ठ 451 पर तो आर्यसमाज को स्पष्ट रूप से एक ऐसा राजद्रोही संगठन कहा है जिसका उद्देश्य देश की आजादी था।

नमस्ते : आर्य समाज द्वारा देश की भावनात्मक एकता के प्रयत्न का एक छोटा प्रतीक 'नमस्ते' है। पहले यही आर्यसमाजियों की पहचान थी। दूसरे लोग यहाँ तक कि हिन्दू भी इससे चिढ़ते थे। आज यह सर्व सम्मत भारतीय सम्बोधन बन गया है।

शिक्षा प्रसार : शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का योगदान सर्व परिचित और प्रसिद्ध है। सरकार के बाद सबसे अधिक शिक्षण संस्थायें आर्यसमाज की हैं। उसके डी. ए. वी. स्कूल और कॉलेज संस्कृत कन्या पाठशालायें और गुरुकुल सारे उत्तरी हिन्दुस्तान में तथा हैदराबाद और महाराष्ट्र के अतिरिक्त मारीशस, पूर्वी व दक्षिणी अफ्रीका और फ़िजी आदि विदेशों में फैले हुए हैं। इनकी संख्या एक हजार से अधिक है जिनमें दस लाख के करीब विद्यार्थी हैं। जिन पर वार्षिक तीन करोड़ से अधिक रुपया व्यय होता हैं। शिक्षा प्रसार के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा तथा राष्ट्रीय वातावरण इन संस्थानों की विशेषता है।

अछूतोद्धार : छुआछूत हिन्दू समाज का कलंक है। आर्यसमाज ने इसे मिटाने के लिये सबसे अधिक संघर्ष किया और बलिदान तक दिये हैं। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में उन्हें सवर्णों से अधिक सुविधायें दी जाती रही है, वेद और संस्कृत पढ़ने का ही नहीं, पढ़ाने का भी अधिकार उन्हें आर्यसमाज

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने ही दिया। कई आर्यसमाजों में हरिजन कुलोत्पन्न पण्डित, पुरोहित आज भी विवाह, यज्ञोपवीत और हवन आदि संस्कार कराते हैं। मेरा विवाह भी जाट कुल में उत्पन्न पण्डित जी ने कराया था।

विदेशों में प्रचार : एक सर्वेक्षण के अनुसार जहाँ सारे भारत में चार हजार (4000) आर्य समाजें हैं, जिन में से एक हजार ग्रामीण क्षेत्रों में हैं वहाँ मारीशस, फिजी, अफ्रीका आदि में भी 200 से अधिक आर्य समाजें तथा आर्य स्कूल, कॉलेज व पाठशालायें हैं। लाखों प्रवासी भारतीयों में आज हिन्दू धर्म, संस्कृति और हिन्दी भाषा का प्रचार इन्हीं आर्य संस्थाओं के कारण हुवा है।

राष्ट्रभाषा हिन्दी : स्वयं गुजराती होते हुए भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित करने की सबसे पहले स्वामी दयानन्द ने ही दूरदर्शिता दिखायी। अहिन्दी प्रान्तों में भी आर्य समाज का सारा कार्य और प्रकाशन हिन्दी में किया जाता है। आर्य शिक्षण संस्थाओं में सर्वत्र हिन्दी अनिवार्य है। हिन्दी साहित्य के विकास में भी आर्य विद्वानों का प्रमुख स्थान रहा है।

वेद और संस्कृत : वेदों के हिन्दी में सरल भाष्य और उनके प्रचार का कार्य आर्य समाज का प्रमुख उद्देश्य रहा हैं। इसी प्रकार सस्कृत के अध्ययन और यहाँ तक कि उसे शिक्षा का मुख्य विषय और माध्यम बनाने के लिए आर्य समाज ने प्राचीन गुरुकुल प्रणाली को पुनः प्रचलित किया। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह है कि वेद, शास्त्र और संस्कृत के नाम पर हमारी धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों का समर्थन किये जाने के कारण जहाँ सस्कृत को कभी प्रतिक्रियावाद का गढ़ समझा जाता था वहां आर्य समाज ने वेद और संस्कृत शास्त्रों के प्रमाण देकर और उनका आधुनिक अर्थ करके आज उन्हें ही धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति का साधन बना दिया है।

महिला समानता : स्वामी जी केवल स्त्रियों की समानता के ही समर्थक नहीं थे अपितु मातृ-शक्ति कहकर उन्हें कई क्षेत्रों में पुरुषों से श्रेष्ठ मानते थे। स्त्रियों को न पढ़ाने की पुरानी हिन्दू मान्यता के विपरीत आर्य समाज

CC-0 In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने उनकी शिक्षा के लिए जितने स्कूल पाठशालाएँ और गुरुकुल तक खोले उतने स्वाधीनता से पूर्व सरकार द्वारा भी नहीं खोले गये थे। वेद और संस्कृत के अध्ययन का महिलाओं को भी अधिकार है, ये आर्यसमाज की मान्यता रही है। स्त्रियों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार केवल आर्य समाज ही देता है। पर्दा, दहेज, बहुविवाह, बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन और अन्तर्जातीय विवाह तथा विधवा विवाह का समर्थन सबसे पहले और सबसे अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से आर्य समाज ने ही किया।

विश्वव्यापी लक्ष्य : यद्यपि आर्य समाज का कार्य क्षेत्र मुख्य रूप से भारत और हिन्दू समाज रहा है किन्तु उसने 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का लक्ष्य अपने सामने रखा है। उसके छठे नियम में संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है यह घोषणा की गई है। प्रथम तीन नियमों में ईश्वर और वेद के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का उल्लेख है, किन्तु बाकी के सात नियम इतने व्यापक और उदार है कि उन्हें आसानी से विश्वव्यापी मान्यता दी जा सकती है। और कोई धर्म उनसे असहमति व्यक्त नहीं कर सकता। दसों नियम केवल 22 पंक्तियों में आ जाते हैं। नवें नियम में 'सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझने' तथा दसवें नियम में 'व्यक्तिगत मामलों में स्वतन्त्रता और सर्वहितकारी सामाजिक मामलों में परतन्त्रता'' के सिद्धान्त व्यक्ति और समाज के समन्वय और एक आदर्श समाजवाद की आधार शिला बन सकते हैं स्वयं स्वामी जी ने बार बार लिखा है कि 'सत्य के ग्रहण और असत्य के लिये मैं सदा तत्पर हूं।' चौथे नियम में यही आदेश उनके अनुयायियों को दिया गया है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ का नाम उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' रखा और 'सत्यमेव जयते' ये उनका सर्वप्रिय जयघोष था, इसे अब हमारे संविधान में भारत का आदर्श स्वीकार कर लिया गया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय–6 (ब)

मूर्तिपूजा का अभिशाप

भारत में और विशेषकर हिन्दुओं में मूर्तिपूजा उनके मध्यकालीन ह्रास और पतनोन्मुखकाल का अवशेष है। इस अभिशाप तथा उससे सम्बन्धित अंधविश्वासों से ऋषि दयानन्द ने देश को मुक्त करने का जो प्रयास किया वह भी उनकी एक महान देन है।

पौराणिक युग में प्रारम्भ हुई मूर्तिपूजा और उसकी अनेक हानियों ने हिन्दुओं और परिणामस्वरूप भारत को जिस पतन के मार्ग पर खड़ा किया उसका इतिहास भी तभी से प्रारम्भ होता है। देवी देवताओं के मन्दिरों ने न केवल मूर्तिभंजक इस्लाम के आक्रमणों को निमंत्रित किया बल्कि उनसे सम्बन्धित अंधविश्वासों और काल्पनिक चमत्कारों ने इन आक्रमणकारियों की विजय को भी निश्चित कर दिया। मथुरा, काशी और अंत में सोमनाथ की इन तथाकथित चमत्कारी मूर्तियों के टुकड़े करने वाले महमूद गज़नी को मंदिरों में संचित अपार धन राशि तो मिली ही साथ में उसके मुट्ठी भर सह धर्मियों को 33 करोड़ देवी-देवताओं के इस विशाल देश पर सदियों तक राज्य करने का वरदान भी मिला। संभवतः वेदों के एक मात्र निराकार ईश्वर के सैंकड़ों साकार प्रतिस्पर्धी बना कर उनकी अनेक कृत विकृत मूर्तियों द्वारा ईश्वर का उपहास करने का ही हमारे देशवासियों को यह घोर दंड मिला और साथ ही अपने इन नादान भक्तों की नास्तिकता सिद्ध करने वाले आक्रमणकारियों को राज्य और सम्पत्ति का पुरस्कार भी प्राप्त हुआ।

काशी शास्त्रार्थ और मूर्तिपूजा

ऋषि दयानन्द द्वारा आज से 111 वर्ष पूर्व मूर्तिपूजा के गढ़ काशी में किया गया शास्त्रार्थ धार्मिक जगत में एक बड़ी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, मूर्तिपूजा के विरोध में उनसे पूर्व भी अनेक सुधारकों और संतों ने आवाज उठाई थी, किन्तु "**न तस्य प्रतिमा अस्ति**" इस मंत्रद्वारा यजुर्वेद में मूर्तिपूजा का निषेध किया गया है दयानन्द की यह घोषणा काशी के पण्डितों के लिए चकित कर देने वाली एक चुनौती थी। इससे पूर्व किसी वैदिक विद्वान ने ऐसा कहने का साहस नहीं किया था और न आज तक कोई वेद का पंडित वेदों में मूर्तिपूजा सिद्ध कर सका है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संतो द्वारा मूर्तिपूजा का विरोध

तर्क और वेदों का प्रमाण तो मूर्तिपूजा के विरुद्ध है ही किन्तु हमारे देश के प्राय: समस्त ईश्वर भक्त संतो ने भी उसका कड़ा विरोध किया है। गुरु नानक ने कहा था कि:—

"जो पत्थर को माने देव।
उसकी विरथा जावे सेव॥"

संत कबीर की यह उक्ति प्रसिद्ध है:—

"पत्थर पूजेहरि मिले तो मैं पूजूं पहाड़।
पत्थर से चाकी भली जो पीस खाय संसार॥"

महाराष्ट्र के प्रसिद्ध योगी ज्ञानेश्वर के अनुसार ईश्वर स्वयं कहते हैं कि: –

"मज अक्रिय सी कर्म
विदेहासि देह धर्म"

अर्थात कर्म से मुक्त ईश्वर को कर्म धारी और देह विहीन ईश्वर को देह धारी बनाना मूर्खो का काम है। संत तुकाराम तो यहां तक कहते हैं कि

"ज्याला टाकिने फोड़ती, त्याच्या पुढ़े हाथ जोड़ती
ज्याचा शौच कूप घडवति त्याला देव म्हणति॥"

अर्थात जिन मूर्तियों को हम टांकियों से तोड़कर बनाते हैं और जिन पत्थरों के हम शौचालय बनाते हैं उन्हीं को ईश्वर मानकर कैसे पूजते हैं? शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास जी कहते हैं:—

"धातु पाषाण मृतिका चित्र लेख काष्ट देखा,
तेथेदेव कैचा मूर्ख भ्रान्ति पड़ली।

अर्थात हे मूर्ख सोने चांदी, पत्थर लकड़ी और मिट्टी की मूर्तियों में या दीवार के बने चित्रों में ईश्वर देखना तेरा भ्रम है। मूर्तिपूजा के समर्थक कहते हैं कि मूर्ति के उपासक उसे ईश्वर नहीं मानते केवल साधारण व्यक्तियों के लिए ईश्वर भक्ति का साधन मात्र समझते हैं इस तर्क का भी इन्हीं संतों ने स्वयं खंडन किया है। गुरु रामदास कहते हैं कि:—

"आत्मा सोडूनि अनात्म्यास ध्यानी धरती, परितों
धरिता ही धरवेना, ध्यानी येती व्यक्ति नाना, उगेची
कष्टविति मना, कासावीस करुनी, मूर्तिध्यान करिता सायसि
केथे एकच एक दिसे, भास नये तेचि भासे विलक्षण।"

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

अर्थात आत्मिक ध्यान छोड़कर अन्य साधनों से ईश्वर का ध्यान सम्भव Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
नहीं है। मूर्ति द्वारा उसका ध्यान करने के प्रयत्न में हम जो नहीं है उसी को कल्पना में देखते हैं और इस प्रकार अपने मन को भटका कर कष्ट उठाते हैं। संत तुकाराम इसे मूर्खों का आविष्कार कहते हैं उनके अनुसार:—

दगडाचे देव पूर्वी नव्हते जनहे अज्ञान भाले जेव्हा
हे अज्ञानी दगड़ा मानिले।"

अर्थात पहले देवों की पत्थर की मूर्तियाँ नहीं होती थी, किन्तु जब जनता में अज्ञान फैला तब इन अज्ञानियों ने पत्थरों को मानना शुरु किया। नानक, कबीर, ज्ञानेश्वर, तुकाराम और रामदास प्रसिद्ध ईश्वर भक्त संत थे इस लिए इस विषय में उनके अनुभव और विचार विशेष महत्व के हैं। उनकी तुलना में साधारण तो क्या बड़े से बड़े विद्वानों के तर्क भी निरर्थक है क्योंकि ये संत विद्वान न होने पर भी ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में अधिकृत विशेषज्ञ थे। आज भी सभ्य संसार में मूर्तिपूजा एक दकियानुसी प्रथा समझी जाती है जिसका सबसे अधिक विकृत और विस्तृत प्रचार भारत में ही है।

धार्मिक जगत में प्रोटेस्टेन्ट ईसाई, मुसलमान और आर्यसमाजी आदि मूर्ति पूजा विरोधी धर्मो के अनुयायियों की संख्या करोडों से अधिक है। अतः यदि बिना मूर्ति के संसार के ये बहुसंख्यक लोग ईश्वर की उपासना और ध्यान कर सकते है तो क्या हिन्दू धर्म के अनुयायी ही बौद्धिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे इतने घटिया है कि उन्हें ईश्वर भक्ति के मार्ग पर चलना सीखने के लिए छोटे बच्चों के समान लकड़ी और पत्थरों के इन रेगनों की आवश्यकता है?

ऋषि दयानन्द और मूर्तिपूजा

आधुनिक भारत के राजाराम मोहन राय आदि जिन धार्मिक और सामाजिक सुधारकों ने मूर्तिपूजा का निषेध किया है उनमें ऋषि दयानन्द का एक विशेष स्थान है। स्वामीजी ने धार्मिक दृष्टि से ही नहीं अपितु राष्ट्रीय आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से भी मूर्तिपूजा की अनेक हानियां बताई हैं। उदाहरण के लिए मूर्ति और मन्दिरों में जिस अपार धन और राशि का अपव्यय होता है उसे लोगों की दरिद्रता और अन्य कठिनाईयों को दूर करने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में उपयोग किया जा सकता है। मूर्ति और मन्दिरों के नाम पर अनेक अनाचार, लड़ाई, झगड़े होते हैं। मूर्तियों को ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का साधन समझने के कारण लोग भाग्यवादी और पुरुषार्थ विहीन बन जाते हैं। नाना प्रकार की शक्लों, नामों और भिन्न भिन्न प्रतिफलों की मूर्तियों के कारण धार्मिक एकता नष्ट होकर परस्पर विरोधी मत और सामाजिक अनेकता उत्पन्न होती है जिससे देश को बड़ी हानि होती है। मूर्तियों के चमत्कारों के भरोसे विजय के स्थान में आक्रमणकारियों से पराजय मिलती है जिसके परिणामस्वरूप देश की स्वतन्त्रता, धन और राज्य सब पर शत्रुओं का अधिकार हो जाता है। पत्थर व उसकी कृत विकृत शक्लों को यदि कोई हमारे नाम से पुकारे तो हम इसे अपना अपमान समझकर क्रोधित हो जाते हैं तो भला पूज्य ईश्वर के बदले ऐसी मूर्तियों को ईश्वर के नाम से पुकारना या सम्बोधित करना कितना अपमान जनक है। मन्दिरों और मूर्तियों के दर्शनों के लिए लम्बी लम्बी यात्राएँ करके जहां अनेक दुःख और कष्ट होते हैं तथा धन व समय नष्ट होता है वहां यदि हम अपना समय और ये साधन दूसरों की भलाई और उपकार में लगाएं तो कितना लाभ होगा। मन्दिरों में चढ़ाये धन का बहुधा पुजारियों द्वारा मद्यमांस के सेवन तथा लड़ाई झगड़े और यहां तक कि व्यभिचार जैसे दुष्कर्मों में उपयोग होता है। माता, पिता आदि जीवित मूर्तियों के स्थान में निर्जीव मूर्तियों की सेवा और सत्कार करना एक प्रकार की कृतघ्नता है। मन्दिरों में मूर्तियों की चोरी और तोड़, फोड़ के कारण आत्मग्लानी तथा अनावश्यक दुःख और कष्ट भोगना पड़ता है। अनेक मन्दिरों में देव दासियों पुजारिनों तथा अन्य स्त्रीयों की कुसंगति से व्यभिचार फैलता है। मन्दिर के पुजारी जिन सुगन्धित पदार्थों और सुन्दर फूलों को तोड़कर मूर्तियों पर चढ़ाते हैं वे पुष्प तथा अन्य पदार्थ शीघ्र नष्ट ही नहीं होते वलिक पानी के साथ नालियों में सड़कर रोग और दुर्गन्ध उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार मिट्टी में मिलकर जल वायु दोनों दूषित हो जाते हैं और कभी-कभी उनमें कीड़े आदि उत्पन्न होकर रोग फैलते हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 7

आर्यसमाज, उसका संगठन और कर्मकाण्ड

धार्मिक स्वतन्त्रता

हमारे संविधान की धारा 25 में धार्मिक स्वतन्त्रता एक मौलिक अधिकार के रूप में दी गई है। उसमें न केवल विचार और विश्वासों की ही स्वतन्त्रता है अपितु अपने धार्मिक विश्वासों का प्रचार और उन पर व्यवहार करने की स्वतन्त्रता का भी प्रावधान है। इसीलिए उच्चतम न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि संविधान की धारा 25 और 26 केवल विश्वासों और विचारों तक ही सीमित नहीं है, उनमें उन सब बातों का भी समावेश होता है जो धार्मिक मान्यताओं से सम्बन्धित हैं जैसे उपासना के तरीके, समारोह, कर्मकाण्ड तथा अन्य रीति-रिवाज जो किसी धर्म के आवश्यक अंग हैं।

धार्मिक मान्यतायें

जहां तक आर्यसमाज का सम्बन्ध है उसकी अपनी सुनिश्चित धार्मिक मान्यतायें और सिद्धान्त हैं और साथ ही उतने ही स्पष्ट और निश्चित कर्मकाण्ड, समारोह और उपासना पद्धति भी है जितनी मनुष्य जीवन के लिये एक पूर्ण धार्मिक दर्शन होने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार आर्यसमाज का अपना भिन्न और पृथक् धार्मिक अस्तित्व है। यदि वह केवल एक सुधार आन्दोलन होता तो अन्य आन्दोलनों के समान उसका अस्तित्व केवल सामयिक और अस्थायी होता और तात्कालिक उद्देश्य की पूर्ति के बाद समाप्त हो जाता जैसा देश का स्वाधीनता आन्दोलन स्वराज्य प्राप्ति के बाद समाप्त हो गया।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकमान्य तिलक ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गीतारहस्य के अन्त में हिन्दू धर्म शास्त्रों का विवेचन करते हुये लिखा है कि—पुराणों की उत्पत्ति तब हुई जब वेदों का प्राचीन और शुद्ध धर्म बदलकर उसमें अनेक देवी-देवताओं की उपासना प्रारम्भ हुई। वेदों में मूर्तिपूजा के लिये कोई स्थान नहीं था। ऋषि दयानन्द ने इसीलिये वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म के स्थान में प्राचीन वेदों के धर्म की पुनः स्थापना करने का बीड़ा उठाया था। आर्यसमाज के माध्यम से यह परिवर्तन हो सकेगा ऐसी उनकी अपेक्षा थी किन्तु आर्य समाज अपने इस मुख्य उद्देश्य में पूरी तरह से सफल नहीं हो सका। उसे जो सफलता या लोकप्रियता मिली वह केवल एक सुधार आन्दोलन के रूप में और वह भी एक सीमित दायरे तक ही। हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों का निराकरण आर्य समाज की दृष्टि से उसके वास्तविक लक्ष्यों की पूर्ति में एक साधन मात्र था। जैसे खेत में बीज बोने से पहले उसमें उगे हुये झाड़-झंकड़ और कांटों की सफाई आवश्यक होती है। इस निनाई के कार्य में आर्य समाज को सफलता अवश्य मिली है किन्तु वैदिक धर्म के पुनः स्थापना का कार्य सीमित क्षेत्र में ही हो सका है। पौराणिक हिन्दू धर्म के पुरानी रीति-रिवाज नई जड़ें पकड़ने लगा है और उनकी अन्य शाखा प्रशाखाएें भी फूटने लगी हैं। इस सब के परिणामस्वरूप आज आर्य समाज एक सीमित और अल्पसंख्यक धार्मिक संस्था रह गई है। जैसा धर्मों के इतिहास का विवेचन करते समय हमने देखा है कि यह कोई नवीन या असाधारण घटना-क्रम नहीं है। लोकमान्य तिलक ने गीतारहस्य* में यह लिखा है कि न्यू टेस्टामेन्ट पर आधारित वर्तमान ईसाई धर्म पुराने टेस्टामेन्ट पर आधारित प्राचीन यहूदी धर्म का ही सुधरा हुआ रूप है। यह बात आर्य समाज के लिये भी लागू होती है। आज यहूदी अल्पमत में होने पर भी यह स्वीकार नहीं करते कि ईसाई धर्म उनके प्राचीन धर्म का सुधरा हुआ रूप है। वास्तव में स्वामी दयानन्द के अनुसार वर्तमान हिन्दू धर्म ही, प्राचीन वैदिक धर्म का

*गीतारहस्य, लोक मान्यतिलक, हिन्दी संस्करण 1910 परिशिष्ट 7

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकृत और बिगड़ा हुआ संस्करण है । माने जो हो यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार आज यहूदी और ईसाई धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं उसी प्रकार धार्मिक दृष्टि से आर्यसमाज सनातनी हिन्दू धर्म से पृथक् और भिन्न है । जिस प्रकार एक ही बाईबिल या धर्मग्रन्थ के ओल्ड अर्थात् पुराने और नवीन टेस्टामेन्ट यहुदियों को ईसाइयों से पृथक् करते हैं उसी प्रकार वेद के सर्वथा भिन्न अर्थ आर्य समाज को हिन्दू धर्म से पृथक् करते हैं ।

कर्मकाण्ड

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि अपनी धार्मिक मान्यताओं और सिद्धान्तों के कारण आर्यसमाज उस पौराणिक हिन्दू धर्म से किस प्रकार भिन्न है । हिन्दू धर्म की जो परिभाषा, लोकमान्य तिलक, महात्मा गान्धी, तथा न्यायमूर्ति गजेन्द्र गड़कर जैसे अधिकृत हिन्दू विचारकों ने की है, उसके आधार पर भी इन दोनों के संस्कार तथा कर्मकाण्ड और उपासना के तरीके भी भिन्न हैं । आर्यसमाज के धार्मिक साहित्य में जहां वेद और सत्यार्थप्रकाश हैं उसी प्रकार दयानन्द का वेदभाष्य और संस्कारविधि आदि भी हैं जो इस भिन्नता के प्रमाण हैं ।

उपासना पद्धति

स्वामी दयानन्द ने स्वयं अपने अनुयायियों के लिए एक निश्चित उपासना पद्धति भी निर्धारित कर दी है । प्रातः और सायंकाल संध्या, उपासना तथा यज्ञ अर्थात् हवन करना प्रत्येक आर्यसमाजी का कर्तव्य है । सन्ध्या तथा हवन के लिये जो वैदिक मन्त्र और उनकी विधि निर्धारित की गई है उन्हें इसी नाम की पुस्तिकाओं द्वारा प्रकाशित किया गया है । सन्ध्या और हवन प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने घर में कर सकता है । उसके लिये न किसी विशेष पूजास्थान या मन्दिर में जाने की आवश्यकता है और न किसी पुजारी या पण्डित की सहायता की । महिलाओं को भी इन्हीं वैदिक मन्त्रों द्वारा सन्ध्या तथा यज्ञ करने का उतना ही अधिकार है जितना पुरुषों को । इन पुस्तिकाओं में दी गई पद्धतियों द्वारा वे स्वयं उन्हें पूरा कर सकती हैं । स्वामीजी के अनुसार ईश्वर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्तुती और उपासना पाठों से मुक्ति के साधन नहीं है उनका उद्देश्य ईश्वर के गुणों का स्मरण करके अपने जीवन में उनके अनुसार कर्म करना है। स्वामीजी ने इसे योगाभ्यास भी कहा है। योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना है इस प्रकार योग के आधार पर हम ईश्वर के साथ अपनी निकटता अनुभव कर सकते हैं। उसके लिये किसी मन्दिर या मूर्ति की आवश्यकता नहीं है। इन व्यक्तिगत उपासना पद्धतियों के अतिरिक्त आर्य समाज की समष्टिवादी विशेषता के प्रतीक के रूप में सामूहिक सत्संगों का भी प्रावधान किया गया है, जिसमें सब लोग मिलकर प्रार्थना, उपासना और वैदिक मन्त्रों द्वारा यज्ञ करते हैं, इन सत्संगों में वेद, सत्यार्थप्रकाश, स्वामीजी के जीवनचरित्र आदि की कथा का नियमित कार्यक्रम होता है।

वार्षिक समारोह

इन दैनिक तथा साप्ताहिक कार्यक्रमों के अतिरिक्त वार्षिकोत्सव के रूप में में विशेष समारोह आयोजन किये जाते हैं जिनमें 3 दिन से लेकर एक सप्ताह तक सामूहिक सन्ध्या, प्रार्थना और यज्ञ आदि के साथ धार्मिक प्रवचनों का आयोजन किया जाता है। आर्यसमाज के विद्वान्, सार्वजनिक सभाओं में उपदेश और व्याख्यान देते हैं। भजनोपदेशक संगीत द्वारा भी यही कार्य करते हैं। इन अवसरों पर अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और शारीरिक विकास और उन्नति के कार्यक्रम भी आयोजित किये जाते हैं। आर्यसमाज में मनाये जाने वाले विशेष पर्वों और उत्सवों के लिये भी एक निश्चित पर्वपद्धति निर्धारित है जिनमें ऋषिबोधोत्सव, ऋषि निर्वाण उत्सव तथा आर्यसमाज स्थापना दिवस आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

संस्कार

मनुष्य जीवन में जन्म, विवाह, मृत्यु आदि ऐसे अवसरों पर किये जाने वाले 16 संस्कार स्वामी दयानन्द ने अपने द्वारा रचित संस्कारविधि में विस्तारपूर्वक लिखे हैं। इनमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और संन्यास आश्रम में प्रवेश के समय संस्कारों का भी विवरण है। आर्यसमाज में जीवन भर की अवधि में केवल यही सोलह संस्कार किये जाते हैं जिनमें तीन बालक के जन्म से पहले

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और एक मृत्यु के बाद करने का विधान है। और ये सब संस्कार इसी प्रकार के हिन्दू संस्कारों की तुलना में अत्यन्त संक्षिप्त सीधे-साधे और अनावश्यक रीति-रिवाजों, मुहुर्त आदि से मुक्त हैं। उनको करने और कराने के लिये किसी जन्मजात ब्राह्मण या पुजारी की भी आवश्यकता नहीं है। उनके लिये निर्धारित विधि को जानने वाला कोई भी स्त्री या पुरुष उन्हें सम्पन्न करा सकता है। आर्यसमाज न जन्मगत जाति व्यवस्था और न ही स्त्रियों की असमानता में विश्वास करता है। यही कारण है कि आर्यसमाज में स्त्रियों और अनेक जन्मजात अछूत या शूद्र समझे जाने वाले व्यक्ति भी यज्ञ, विवाह उपनयन आदि के संस्कार कराते हैं जिन्हें पंडितों और पुरोहितों के रूप में स्वीकार किया जाता है जैसे जन्म के ब्राह्मणों को।

हिन्दू रीति-रिवाजों का त्याग

जहां आर्यसमाज के अपने निर्धारित और स्पष्ट संस्कार हैं वहीं उनमें हिन्दुओं में प्रचलित अनेक विश्वासों और परेशान करने वाले तथा लम्बे समय तक चलने वाले रीति-रिवाजों का निषेध है। इसी प्रकार मुहुर्त, सकुन और अपशकुन या किसी चमत्कार या दैवी पुरुषों के लिए भी कोई स्थान नहीं है। आधुनिक भारत में आर्यसमाज ही एक ऐसा पहला धार्मिक संगठन है जिसने विदेश यात्रा, विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह भोज तथा पर लगे परम्परागत प्रतिबन्धों का सफल विरोध किया है। ये सब बन्धन ऐसे हैं जिनके तोड़ने पर पहले आर्यसमाजी हिन्दू जाति से बहिष्कृत तक किये जाते थे। हिन्दू धर्म से इन्हीं भिन्नताओं के कारण आर्यसमाजियों को नास्तिक कहा जाता रहा है जो निराधार और भ्रमपूर्ण आरोप है। यह आरोप वस्तुतः उल्टा चोर कोतवाल को डाटे का एक उदाहरण है। ईश्वर के नाम पर प्रचलित व्यर्थ के रीति-रिवाजों का आर्यसमाज विरोध करता है इसीलिये जो लोग ये ईश्वर विरोधी कार्य करते हैं वे ही अपनी नास्तिकता को छुपाने के लिए आर्यसमाज को ही नास्तिक कह कर बदनाम करते हैं। हिन्दुओं में प्रचलित मूर्तिपूजा और ईश्वर उपासना के तरीके ईश्वर के प्रति कितने उपहास्यास्पद

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है यह आर्यसमाज में प्रचलित अजब हैरान हूँ भगवान नामक प्रसिद्ध गीत से स्पष्ट हो सकता है जो इस प्रकार है :—

—: भजन :—

अजब हैरान हूँ भगवन्, तुम्हे क्योंकर रिझाऊं मैं।
कोई वस्तु नहीं ऐसी जिसे सेवा में लाऊं मैं॥
करें किस तौर आह्वान कि तुम मौजुद हो हर जा।
निरादर है बुलाने में अगर घन्टी बजाऊं मैं॥
तुम्ही हो मूर्ति में भी, तुम्ही व्यापक हो फूलों में।
भला भगवान् पर भगवान् को क्योंकर चढाऊं मैं॥
लगाना भोग कुछ तुमको, यह एक अपमान करना है।
खिलाता है जो सब जग को, उसे क्योंकर खिलाऊं मैं॥
तुम्हारी ज्योति से रोशन है सूरज, चांद और तारे।
महा अन्धेर है कि तुम्हे दीपक दिखाऊं मैं॥
भुजायें हैं न गर्दन है, न सीना है न पेशानी।
तुम हो निर्लेप नारायण, कहाँ चन्दन लगाऊं मैं॥
बड़े नादान हैं वे जन, जो गढ़ते आपकी मूरत।
बनाते विश्व को तुम हो, तुम्हें क्यों कर बनाऊं मैं॥

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर को विशुद्ध और वास्तविक ईश्वर के रूप में यदि कोई मानता है तो वह आर्य समाज ही है। अन्य सम्प्रदाय और विशेष कर हिन्दू धर्म के अनुयायियों ने ईश्वर की जो मनगढ़न्त कल्पनाएं की हैं और उनके अनुसार ईश्वर के सांप, हाथी, बन्दर, सूअर, तक जैसी विकृत आकृतियां बनाकर उसका अपमान किया है वही वास्तव में नास्तिकता का प्रमाण है। जैसा किसी का व्यंग्य चित्र बनाकर हम उसका मजाक करते हैं इसी प्रकार यह ईश्वर का भी मजाक है। ईश्वर की इन कृत विकृत मूर्तियों और चित्रों का ही यह परिणाम है कि उसकी उपासना या पूजा में भी हम वही सब करते हैं जो हम अपनी कामना, इच्छा और वासना तक की पूर्ति के लिए करना चाहते हैं। यहाँ तक मदिरापान, मांसभक्षण और व्यभिचार तक को ईश्वर उपासना के नाम पर किया

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जाता है। ऋषि दयानन्द ने इन सब का निषेध करके एक प्रकार से स्वयं ईश्वर को उसके इन नादान भक्तों के अनादर से मुक्त किया है।

अन्तर्जातीय तथा विधवा विवाह

आर्यसमाज बहु पत्नी और बहुपतिवाद दोनों के विरुद्ध है। स्वामी जी ने स्त्रियों के लिये जैसे पतिव्रत वैसे ही पुरुषों के लिये पत्नीव्रत आवश्यक बताया है। इसी प्रकार स्त्रियों के साथ होने वाले अन्य दुर्व्यवहार और अन्याय का भी आर्यसमाज विरोधी है। पर्दा और बाल विवाह जैसी कुरीतियों का स्वामी जी ने स्वयं शास्त्रों के आधार पर निषेध किया है। वर्तमान हिन्दू कोड तथा कानून द्वारा बाल विवाह का निषेध करने से बहुत पहले ही आर्यसमाज ने अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ कर दिये थे और उन्हें कानून सम्मत बनाने के लिये आर्यसमाज के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता और मध्य प्रदेश विधान सभा के अध्यक्ष श्री घनश्याम सिंह गुप्त ने संसद सदस्य निर्वाचित होते ही आर्य मेरेज कानून बनवा दिया था जिसके अनुसार आर्य समाजियों के अन्तर्जातीय विवाह वैध समझे जाने लगे। आज भी जो लोग धार्मिक रीति से अन्तर्जातीय विवाह करना चाहते हैं वे सब आर्यसमाज के माध्यम से ही ऐसे विवाह सम्पन्न कराते हैं। सर्वविदित है कि सबसे पहले आर्यसमाज ने ही हिन्दू कट्टरता और अन्धविश्वास के गढ़ पर कई सफल आक्रमण किये। उदाहरण के लिये गायत्री की तथाकथित गोपनीयता के स्थान में सबको सार्वजनिक रूप से गायत्री मन्त्र बोलने का अधिकार दिया। इसी प्रकार स्त्री और शूद्रों तक को यज्ञोपवित धारण कराया। जिन्हें पहले वैदिक मन्त्र सुनने तक का अधिकार नहीं था। आर्यसमाज के मन्दिर इन सब के लिये सदा खुले रहे हैं। हरिजनों और लड़कियों के लिये पहले केवल ईसाई मिश्नरी स्कूल थे आर्यसमाज ने इनके लिये भी अपने स्कूल और पाठशालाएँ खोल दी हैं।

धर्म-शिक्षा

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की एक विशेषता यह रही है कि उनमें पढ़ने वाले लड़के-लड़कियों को नियमित रूप से धार्मिक शिक्षा दी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

जाती है। जैसा हम देख चुके हैं कि आर्यसमाज के दस नियमों में
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
से प्रथम तीन के अतिरिक्त अन्य सात नियमों का सम्बन्ध इसी जीवन में व्यक्ति और समाज कल्याण से सम्बन्धित हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि समाज की सेवा और मनुष्य मात्र की भलाई आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित धर्म के आवश्यक अंग हैं। समाज के आठवें नियम के अनुसार शिक्षा प्रसार भी इसका एक धार्मिक कर्त्तव्य है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर आर्य विद्वानों ने धर्म शिक्षा की पुस्तकें लिखीं जो इन संस्थाओं में पढाई जाती हैं। धर्म शिक्षा की इन पुस्तकमालाओं में छोटे बच्चों से लेकर कॉलेज स्तर तक के लड़के-लड़कियों के लिये उपयुक्त पाठ हैं। पंजाब और उत्तर प्रदेश के अतिरिक्त आर्यसमाज शिक्षा सभा अजमेर ने भी आचार्य श्री दत्तात्रेय आर्य के सम्पादकत्व में इस प्रकार की एक पुस्तक माला प्रकाशित की है जिसमें वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रख कर वैदिक धर्म के मंडनात्मक सिद्धान्तों का वर्णन है और साथ ही अन्य धर्म और उनके संस्थापकों के हवाले से वैदिक धर्म के अनेक मन्तव्यों का विवेचन किया गया है। उदाहरण के लिये मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में मौहम्मद साहब, मानव सेवा आदि के सम्बन्ध में ईसामसीह के उपदेश दिये गये हैं।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों का आधार उनके द्वारा किया गया वेदभाष्य है। वेदभाष्य तथा सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सहित लगभग 25 छोटी-मोटी पुस्तकें उन्होंने इतने अल्पकाल में लिखी हैं कि वह उन जैसे आश्चर्यजनक प्रतिभा के महापुरुष के लिये ही सम्भव हो सकता था। स्वामी जी ने अपने घर और परिवार को त्याग कर सच्चे ईश्वर की तलाश के लिए जब अपनी जीवन यात्रा प्रारम्भ की तो उनकी आयु 21 वर्ष की थी। उस समय उनके पिता उन्हें विवाह बन्धन में बान्धने की तैयारी कर रहे थे। घर त्याग के बाद अगले 20 वर्ष वे हिमालय की कन्दराओं में और गंगा के लम्बे तट पर अनेक स्थानों पर योगियों तथा गुरुओं की तलाश में घूमते रहे और बाद में उनका समय वेदों के गहन अध्ययन तथा हिन्दुओं और अन्य

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सब धर्म की पुस्तकें पढ़ने में व्यतीत हुआ । इतना ही नहीं वे इस काल में भी देश भर में वैदिक धर्म की शिक्षाओं का प्रचार करने, संस्कृत तथा गुरुकुल आदि की स्थापना और अन्य कार्यों को संगठित करने के उद्देश्य से निरन्तर भ्रमण करते रहे । इन सब व्यस्तताओं के उपरान्त भी उन्होंने इतना गहन और विस्तृत साहित्य किस प्रकार लिखा यह सचमुच आश्चर्यजनक उपलब्धि है । उनके जीवन चरित्र से विदित होता है कि अपनी यात्राओं के समय भी एक छोटा-मोटा पुस्तकालय उनके साथ रहता था । राजस्थान के वर्तमान राजाओं द्वारा उनकी यात्रा की व्यवस्था में जहाँ उनके बैठने के लिये रथ आदि का प्रबन्ध किया जाता था वहाँ उनके पीछे बैल गाड़ियों में उनका पुस्तकालय भी रहता था । उनके द्वारा रचित ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका वैदिक साहित्य की एक अधिकृत और क्रान्तिकारी रचना है । जिसमें उन्होंने वेदों का अर्थ किस प्रकार किया जाये और किस प्रकार न किया जाये, इसका विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया है । इस महान् ग्रन्थ में भारतीय और विदेशी दोनों वेदभाष्य कर्त्ताओं को स्तम्भित और आश्चर्य-चकित कर दिया है ।

समाजसेवा

उपरोक्त धार्मिक क्रान्ति के अतिरिक्त आर्यसमाज ने सदा इस बात पर भी बल दिया है कि इसी जीवन में मनुष्य के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति, खुशहाली भी उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी परलोक में मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति । स्वामीजी ने इसलिए धर्म की उस प्राचीन परिभाषा की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया जिसके अनुसार–यतो अभ्युदय: निश्श्रेयस सिद्धि: स धर्मः-अर्थात् जिसके द्वारा इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष मिले वही धर्म है । यही कारण है कि आर्यसमाज द्वारा सैंकड़ों समाज सेवी संस्थाओं की स्थापना देश भर में की गई । इनमें अनाथाश्रम, विधवा आश्रम, वानप्रस्थाश्रम, दातव्य औषधालय और हरिजनोद्धार समितियां सम्मिलित हैं ।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज का संगठन

ईसाई और मुसलमानों के समान हिन्दू धर्म का कोई संगठन नहीं है। ईसाई धर्म का प्रमुख पोप और मुसलमानों का खलीफा उनकी मिल्लत का सर्वोच्च व्यक्ति होता है। ईसाई चर्च के राष्ट्रीय, प्रान्तीय और स्थानीय संगठन संसार भर के ईसाइयों को एक सूत्र और अनुशासन में बनाये रखते हैं। हिन्दू धर्म की इस निर्बलता को ध्यान में रखकर ही सम्भवतः स्वामीजी ने वैदिक धर्म को संगठित रूप देने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की। देश में आज लगभग 5 हजार स्थानीय आर्यसमाजें हैं जिनमें से बहुत-सी ग्रामीण और देहाती क्षेत्रों में हैं। बड़े-बड़े नगरों में और कुछ ग्रामीण स्थानों में भी आर्यसमाज के अपने भवन या मन्दिर हैं जिनमें कोई मूर्ति नहीं रखी जाती। उपदेश आदि के लिए वेदी या हवन के लिए एक कुंड या यज्ञशाला होती है। इन स्थानीय आर्यसमाजों के ऊपर राज्य या प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभायें हैं। भारत के वर्तमान 22 राज्यों में से 18 में ऐसी आर्य प्रतिनिधि सभायें स्थापित हैं। इन सबके ऊपर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा है जो आर्यजगत् का सर्वोच्च संगठन है। विदेशों में भी मोरिशश, सूरिनाम, फिजी, दक्षिण अफ्रीका, बैंकॉक, युगांडा, केनिया, अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में भी आर्यसमाजे हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्यसमाज के जहां धार्मिक सिद्धान्त या मन्तव्य सुनिश्चित हैं और पूरी तरह परिभाषित हैं, वहां उसका अपना एक पृथक् और दृढ़ संगठन भी है। उसके संस्कार, रीति-रिवाज न्यूनतम और सीधे-सादे सब के लिए सुलभ और सब के द्वारा करने योग्य हैं। इस दृष्टि से ईसाई और इस्लाम धर्म के समान आर्यसमाजें भी एक स्पष्ट और संगठित धर्म का प्रतिपादक है इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती।

⊙ ⊙

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 8

भारतीय पुनर्जागरण और दयानन्द

आधुनिक भारत के पुनर्जागरण और नवनिमार्ण में स्वामी दयानन्द का कितना महान् योगदान है इसका विवरण श्री जेम्स कजन्स द्वारा "दी इन्डियन रिनेसांस" नाम से प्रकाशित श्री अरविन्द घोष के लेख-संग्रह के निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट है।

श्री अरविन्द की श्रद्धांजलि

वरविन्द लिखते हैं—भारत के पुनर्जागरण की कहानी का विवरण तीन चरणों में किया जा सकता है। प्रथम चरण में योरोप निवासियों का आगमन और प्रभाव है जिसके परिणामस्वरूप अनेक पुरानी मान्यताएँ बदलने लगी हैं और उनमें परिवर्तन हुआ। दूसरे दौर में हम इस योरोपियन प्रभाव के विरुद्ध भारतीय प्रतिक्रिया को शामिल कर सकते हैं जिसके द्वारा जहाँ एक ओर कुछ व्यक्तियों ने इस प्रकाश का पूरी तरह विरोध किया वहां दूसरी ओर अन्य व्यक्तियों ने हमारी प्राचीन परम्पराओं का पुनः जोरदार समर्थन करना प्रारम्भ कर दिया। तीसरा और अन्तिम चरण जो आज भी सक्रिय है वह है नवनिर्माण या पुनर्जागरण का, उसके द्वारा भारत की आध्यात्मिक विचारधारा और उसमें निहित शाश्वत तथ्यों पर जोर दिया जाता है वहीं आधुनिक विचार धारा में जो कुछ अनिवार्य, उपयोगी और उपयुक्त है उसे भी स्वीकार किया गया है। किन्तु इन विदेशी तत्वों का भी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ऐसा भारतीयकरण करने का प्रयत्न हो रहा है कि यह समन्वित विचार-धारा भारत की प्राचीन शक्ति की ही द्योतक प्रतीत होती है।

प्रथम चरण के बारे में श्री अरविन्द कहते हैं कि—भारत के अंग्रेजी-करण की यह विचार धारा न वांछनीय है और न ही सम्भव। आज उसका चाहे जो लाभ हो और उसका कितनी ही निष्ठा से समर्थन किया जाये किन्तु उसे सही स्वीकार नहीं किया जा सकता और इसलिए यह आन्दोलन न चिरस्थाई हुआ और न हो सकता है—दूसरे दौर के बारे में वे कहते हैं कि भारतवासियों की यह प्रतिक्रिया प्राचीन मूल्यों को पुनः संतुलित करने में सहायक हुई किन्तु हमारी प्राचीन कट्टरतावादी भावना के कारण वह पनप नहीं सकी। क्योंकि उसका कड़ा विरोध होने लगा और यहां तक प्रयत्न किया गया कि प्रत्येक पुरानी भारतीय प्रथा और विचार का केवल इस आधार पर समर्थन किया जाये कि वह भारतीय है।

आर्यसमाज आन्दोलन

भारतीय नवजागरण के विकास में श्री अरविन्द घोष ने जिस तीसरे चरण का विवेचन किया है वह आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज आन्दोलन के सम्बन्ध में है जो उपरोक्त तीनों चरणों की विशेषताओं के विश्लेषण के बाद व्यक्त किया गया है जैसा अरविन्द ने लिखा है कि—"भारत में जीवन के सारे महान् आन्दोलनों का प्रारम्भ नये आध्यात्मिक विचारों और नई धार्मिक चेतना से प्रारम्भ हुआ है। इसका उससे अधिक क्या प्रमाण हो सकता है कि यह योरोपियन प्रभाव, जिसके बौद्धिक और कभी-कभी धार्मिक दोनों रूप थे और जिसका आधार 18 वीं और 19 वीं सदी की उदारता और धर्म निर्पेक्षता थी वह भारत में प्रारम्भ से ही धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ जिसने एक नवीन धर्म की नींव रख दी। पंजाब में आर्यसमाज ने प्राचीन वैदिक सत्यों को नवीन अर्थों और वर्तमान परिस्थितियों पर आधारित करने का प्रयत्न किया और रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के नाम से जो आन्दोलन सम्बन्धित है उसने प्राचीन धार्मिक लक्ष्य और आध्या-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मिक अनुभवों का समन्वय करने का प्रयत्न किया। इसी प्रकार कट्टरपन्थी हिन्दुओं का आन्दोलन जो अब अपनी शक्ति खोता जा रहा है, उसने बंगाल में कट्टर वैष्णववाद को जन्म दिया और देश के अन्य स्थानों में भी पुराने मत और पन्थों को पुनर्जीवित करने का प्रयत्न किया।" हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में श्री अरविन्द कहते हैं कि "भारत अनेक धर्मों की संगम भूमि रहा है उनमें हिन्दू धर्म विशाल होने पर भी वास्तविक अर्थों में धर्म न होकर अलग विचारों का प्रतीक और कभी-कभी अनेक आध्यात्मिक विचारों के एकीकरण करने वाला प्रयत्न प्रतीत होता है। अन्त में वे कहते हैं कि इन सब वैचारिक संघर्षों का क्या परिणाम होगा और उसमें से क्या निष्कर्ष निकलेगा यह भविष्य ही बता सकता है।

सुधरा हुआ या नवीन धर्म

सन् 1918 में श्री अरविन्द घोष ने भविष्य के बारे में जो अपेक्षा व्यक्त की उसको ध्यान में रखकर ही सम्भवतः भारत के पुनर्जागरण सम्बन्धी अपने विवेचन के उपसंहार स्वरूप उन्होंने यह भी लिखा था कि धार्मिक सुधार के प्रयत्न वास्तव में नवीन धर्मों की स्थापना के रूप में प्रकट होते हैं। आर्यसमाज के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा एक वास्तविक भविष्यवाणी सिद्ध हुई है। स्वयं श्री अरविन्द घोष ने 22 वर्ष के बाद सन् 1940 में स्वामी दयानन्द का मूल्यांकन करते समय यह तथ्य स्वीकार किया। उन्होंने आर्यसमाज को एक नव-जीवन, नवस्फूर्ति के साथ ही नवीन धर्म का महान् आन्दोलन कहा है। वे लिखते हैं कि "भावी पीढी के सम्मुख भारतीय पुन-र्जागरण के महान् आन्दोलन की श्रृंखला में एक अद्भुत और महान् पुरुष उभरकर आया।" दयानन्द के प्रादुर्भाव की उपमा एक प्राकृतिक खोज के साथ देते हुए लिखते हैं कि "मानो हम ऊंची-नीची पहाड़ियों की श्रेणियों, हरे भरे खेतों के बीच में चलते हुए अचानक एक ऐसी ऊंची पहाड़ी के दर्शन कर पाये जो अपनी दृढ़ता और शुभ्र प्रतिभा के साथ अपनी हरी-भरी चोटी से सुशोभित अकेली नीले आकाश में उठी हुई हो और उसकी घाटी में से एक जीवन और स्वास्थ्य प्रदान करने वाला उपजाऊ और तेज गति से बहने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाला झरना दिखाई दे, मेरे मन पर दयानन्द का ऐसा ही चित्र उभरकर आता है। इस महामानव के जीवन और कार्यों की कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो उसे अपने समयकालीन और समकक्ष व्यक्तियों से ऊपर उठा देती है।" इन अन्य व्यक्तियों की दयानन्द से तुलना करते हुए वे लिखते हैं "कि वे सब हमारे साथ हैं और उनके बिना हम जो हैं वह नहीं हो सकते थे। किन्तु दयानन्द की कार्य शैली उन सबसे भिन्न थी। उन्होंने केवल अप्रत्यक्ष रूप से हमारी आत्मा में प्रवेश नहीं किया बल्कि उस पर एक ऐसी अमिट छाप छोड़ी जैसी कांशे की वस्तु पर खुदी हुई आकृति है। उनके कार्य मानो उनकी आध्यात्मिक संतती हो जो सुन्दर, स्वस्थ और शक्तिपुंज के रूप में उनके जीवन की प्रतिमूर्ति है। दयानन्द निश्चित और स्पष्ट रूप से यह जानते थे कि क्या कार्य करने के लिए उनका प्रादुर्भाव हुआ है। उन्होंने एक दूर-दर्शी स्वप्नदृष्टा के रूप में स्वयं अपनी सामग्री और परिस्थितियों का निर्माण किया जैसा एक जन्मजात कुशल कारीगर करता है। ईश्वरीय कार्य-शाला में इस कारीगर के सम्बन्ध में जब मैं सोचता हूँ तो मेरी आंखों के सामने उनके जो अनेक चित्र खड़े हो जाते हैं वे सब संग्राम और संघर्ष तथा सफलता और विजय के हैं। उन्हें देखकर अचानक कह उठता हूं कि ईश्वरीय जगत् में यह एक प्रकाशपुंजमय योद्धा है जो अनेक विघ्न बाधाओं को जो जड़, प्रकृति, चेतन शक्ति के रास्ते में खड़ी करती है, उन्हें पराजित करके व्यक्ति और संस्थाओं के निर्माण करने में सफलता प्राप्त करता है वह इस प्रकार मेरी सम्मति में अध्यात्मिक व्यवहारिकता का सबल प्रतीक है। अध्यात्मिकता और व्यवहारिकता साधारणतः एक दूसरे के विरोधी समझे जाते हैं किन्तु यही दयानन्द की परिभाषा है।"

दयानन्द की विशेषता

श्री अरविन्द घोष ने दयानन्द को भारतीय पुनर्जागरण एक अपूर्व महापुरुष बताकर महादेव गोविन्द रानाडे तथा स्वामी विवेकानन्द जैसे अन्य महान् नेताओं से तुलना करते हुए उनकी जिन विशेषताओं का वर्णन किया है उसका अन्यत्र उदाहरण मिलना कठिन है। दयानन्द ने अपनी प्रतिभा-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पूर्ण कार्य शैली के परिणामस्वरूप अपने पीछे जो एक निश्चित धरोहर छोड़ी है उसे श्री अरविन्द एक स्वतन्त्र धर्म के रूप में देखते हैं।

अरविन्द के अनुसार जहां राममोहन राय उपनिषदों तक आकर रुक गये वहां दयानन्द की दृष्टि उससे बहुत आगे तक गई और परिणामस्वरूप उन्होंने हमारे उद्गम को वेदों तक पहुंचा दिया। उनका सारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय था इसलिए उनके सारे कार्य और विचार चाहे फिर वे वर्तमान परम्पराओं से कितने ही भिन्न हों आवश्यक रूप से दृढ राष्ट्रीयता पर आधारित थे।

⊙⊙

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 9

हिन्दू बनाम हिन्दू धर्म

प्राय: यह सर्वसम्मत विचार है कि हिन्दू शब्द का भौगोलिक आधार है। उसका उपयोग इस देश के सब निवासियों के लिये किया जाता था और इसीलिए इस देश का नाम हिन्दुस्तान अर्थात् हिन्दुओं का स्थान प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हिन्दू या तो धर्मवाचक शब्द नहीं है और यदि है, तो वह केवल उन लोगों के धर्म का पर्यायवाची है जिन्हें पौराणिक हिन्दू अथवा सनातनी कहा जाता है। न्यायालय के कुछ निर्णयों में भी यह बात स्वीकार की गई है कि कुछ लोग केवल ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से हिन्दू होने पर भी उपरोक्त हिन्दू धर्म के अनुयायी नहीं हैं और इस प्रकार उनका धर्म बहुमत के पौराणिक या सनातनी हिन्दुओं से भिन्न है। उदाहरण के लिये सिख, जैन, बौद्ध तथा आर्यसमाजी धार्मिक अर्थ में हिन्दू नहीं हैं यद्यपि व्यापक अर्थ में वे हिन्दुओं में सम्मिलित समझे जाते हैं।

हिन्दू का अर्थ

डॉ. सर राधाकृष्णन् ने 1957 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दी हिन्दू व्यू आफ लाइफ' के पृष्ठ 12 पर लिखा है कि प्रारम्भ में हिन्दू शब्द का धार्मिक नहीं अपितु भौगोलिक अर्थ रहा है। एक निश्चित भू-भाग में रहने वाले निवासियों के लिए उसका उपयोग किया जाता था। सर सैय्यद

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अहमद की शाह मोहम्मद द्वारा 1969 में लिखी गई जीवनी के पृष्ठ 246-47 के अनुसार सर सैय्यद कहते हैं कि—"कौम से मेरा तात्पर्य हिन्दू और मुसलमान दोनों से है और इसी अर्थ में मैं उसका उपयोग करता हूँ। मेरे लिए इस बात का कोई महत्व नहीं है कि कौन किस धर्म को मानता है, क्योंकि उसका प्रकट रूप में बहुत कम परिचय मिलता है, लेकिन जो कुछ हम देखते हैं वह यह है कि चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, वह सब एक ही देश में रहते हैं और एक ही राजा की प्रजा हैं। हमारे सुख-दुख और लाभ-हानि भी एक ही हैं, अकाल के हम दोनों एक जैसे ही शिकार होते हैं और भी कुछ तथ्य हैं जिनके आधार पर इन दोनों कौमों को जो "भारत में रहती हैं मैं हिन्दू कहता हूं अर्थात् हिन्दुस्तान में रहने वाले लोग।" "देहली विश्व-विद्यालय द्वारा 1966 में लाला लाजपत राय के लेखों और भाषणों का संग्रह प्रकाशित हुआ है उसके दूसरे भाग के पृष्ठ 244 पर इस सम्बन्ध में लालाजी का यह मन्तव्य व्यक्त किया गया है कि—"भारत के बाहर इण्डियन अर्थात् भारतीयों को हिन्दू कहा जाता है—मिस्र एक मुस्लिम बहुल देश है और वहां की सबसे प्रसिद्ध मुस्लिम यूनिवर्सिटी अल अजहर के परिसर में भारत के मुसलमानों को हिन्दू शब्द से सम्बोधित किया जाता है और जिस छात्रावास में वे रहते हैं उसे हिन्दू विभाग कहा जाता है। उत्तर और दक्षिणी अमेरिका दोनों में प्रत्येक भारतीय को हिन्दू कहते हैं। यदि हम भी इस अर्थ में हिन्दू शब्द को स्वीकार कर लें तो वह एक आदर्श स्थिति हो सकती है और इस प्रकार इस देश में रहने वाले गैर हिन्दू भी यदि अपने धार्मिक विचार छोड़े बिना तथा अपने रीति-रिवाजों को त्यागे बिना इस नाम को स्वीकार कर लें तो हमारे अनेक मतभेद दूर हो सकते हैं। इस देश का नाम हिन्दुस्तान है इसलिए जो उसे अपनी मातृभूमि स्वीकार करते हैं उन्हें हिन्दू कहना और मानना चाहिए। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं हो रहा है। इस देश में बहुत से ऐसे समूह हैं जिनका यही देश घर है किन्तु वे अपने-आप को हिन्दू कहे जाने का विरोध करते हैं और इस भेद को बनाये रखने के लिए हमारी सरकार (तत्कालीन अंग्रेजी सरकार) ने धारासभाओं के चुनाव और सरकारी नौकरियों तक में इस देश के लोगों को मुस्लिम और गैर मुस्लिम इन दो वर्गों में बांट दिया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू धर्म क्या है ?

हिन्दू शब्द के समान हिन्दुइज्म या हिन्दू धर्म की परिभाषा भी विवादास्पद है। वस्तुतः संस्कृत और हिन्दी में धर्म के अनेक व्यापक अर्थ प्रचलित हैं जो मजहब या रिलिजन के पर्यायवाची नहीं हैं। किन्तु हम हिन्दू धर्म का भी एक आधुनिक महजब या रिलीजन के अर्थ में उपयोग करते हैं जो सही नहीं है क्योंकि इस अर्थ में हिन्दू धर्म वास्तव में कोई संगठित धर्म है ही नहीं। स्वयं अनेक प्रसिद्ध हिन्दू इस बात को स्वीकार ही नहीं करते बल्कि उसे हिन्दू धर्म की एक विशेषता मानकर उस पर अभिमान करते हैं। उनके अनुसार हिन्दू धर्म एक सर्वग्राही और उदार जीवन दर्शन है जो सब धर्मों और विश्वासों के प्रति उदार है। उनके अनुसार सब धर्म समान हैं और इसीलिये हिन्दू धर्म का कोई संगठित पृथक् अस्तित्व नहीं है जैसा अन्य धर्मों का है। स्वयं महात्मा गांधी ने यह प्रश्न उठाया कि हिन्दू धर्म क्या है और उसका उत्तर देते हुये लिखा कि हिन्दू धर्म का यह एक सौभाग्य या दुर्भाग्य समझना चाहिये कि यह कोई संगठित धर्म नहीं है। (देखें नवजीवन प्रैस अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित गान्धीजी द्वारा लिखित पुस्तक हिन्दू धर्म पृष्ठ 17)। भारत के उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और प्रसिद्ध विधिवेत्ता डा. गजेन्द्र गड़कर ने (देखें ए. आई. आर. 1966 में प्रकाशित उच्चतम न्यायालय के निर्णय का पृष्ठ 1128) लिखा है कि हिन्दू धर्म की परिभाषा तो दूर उसका विवरण तक करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। हम उसे जीवन की एक शैली से अधिक कुछ नहीं कह सकते। अपनी ऊपर उद्धृत पुस्तक में डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं कि उसके बहुत से अनुयाइयों के लिये हिन्दू धर्म केवल एक नाम है जिसका कोई आधार नहीं है। वास्तव में वह एक विश्वासों का अजायबघर और रीति-रिवाजों की खिचड़ी तथा भौगोलिक नक्शे की अभिव्यक्ति मात्र है। बम्बई के प्रसिद्ध 'इलेस्टेड वीकली' के 11 नवम्बर 1974 तथा 'ओर्गनाइजर' के 28 दिसम्बर 1974 में प्रकाशित अपने लेखों में भारत के भूतपूर्व विदेश मन्त्री

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और जनसंघ नामक राष्ट्रीय संगठन के प्रमुख नेता और अब भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष अटल बिहारी बाजपेयी कहते हैं कि मुझे यह पूछा जाता है कि मैं हिन्दू क्यों हूँ ? निःसन्देह मैं हिन्दू इसलिये हूँ कि मेरा जन्म हिन्दू परिवार में हुआ है। मुझे हिन्दू होने की खुशी है। किन्तु मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि रिलिजन के प्रचलित अर्थ में हिन्दू कोई धर्म नहीं है अपितु जीवन का एक तरीका है । स्वयं महात्मा गांधी ने अपनी उपरोक्त पुस्तक के पृष्ठ 7 पर यह लिखा है कि "हिन्दू धर्म केवल सनातनी हिन्दुओं का धर्म है और मैं अपने आपको उसका अनुयायी मानते हुये भी उसकी अनेक बातों की उपेक्षा करता हूं। किन्तु यदि मैं सनातनी हिन्दू नहीं हूँ तो मैं अपने आपको उसका अनुयायी नहीं कहूँगा । इसलिये मेरे लिये यह आवश्यक है कि मैं स्पष्ट रूप से अपने सनातन हिन्दू धर्म का अर्थ करूं । मैं अपने आपको सनातनी हिन्दू इसलिये कहता हूँ कि मैं वेद, उपनिषद्, पुराण तथा अन्य हिन्दू धर्मग्रन्थों में विश्वास करता हूं और इसीलिये अवतार और पुनर्जन्म को भी मानता हूँ। अपने विशेष अर्थ में वर्णाश्रम धर्म को मानता हूं अर्थात् उसके वैदिक अर्थ में न कि उसके वर्तमान प्रचलित और विकृत अर्थ में। मैं गौरक्षा पर भी व्यापक अर्थ में विश्वास करता हूं और मूर्तिपूजा में अविश्वास नहीं करता।

सावरकर की परिभाषा

प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और देशभक्त वीर सावरकर ने 'हिन्दुत्व' नामक पुस्तक में इस बारे में बड़े सुन्दर और मौलिक विचार व्यक्त किये हैं। हिन्दू और हिन्दू धर्म का भेद बताते हुए वे पूछते हैं कि हिन्दू कौन है ? इसका सही अर्थ जानने के लिये हिन्दुइज्म या हिन्दू धर्म की व्याख्या करनी आवश्यक है। किन्तु अनेक लोग इस प्रयत्न में असफल होकर निराशा अनुभव करते हैं और इस प्रकार अनेक समुदायों को या तो वे हिन्दू नहीं मानते या फिर उनके द्वारा हिन्दू धर्म के प्रति विरोध की भावना उत्पन्न करते हैं । इनमें सिख, जैन, और देव

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
समाजी ही नहीं बल्कि हमारे देशप्रेमी और प्रगतिशील आर्यसमाजी भी हैं। सावरकर आगे लिखते हैं कि हिन्दू धर्म उन सब धार्मिक विश्वासों और भिन्न-भिन्न समुदायों के लिये लागू होना चाहिये था जो अपने को हिन्दू कहते हैं किन्तु साधारणतः यह उसी धर्म का वाचक है जिसके बहुसंख्यक हिन्दू ही अनुयायी हैं। किसी धर्म और जाति का नाम ऐसा होना चाहिये कि जो सबके लिये नहीं तो अधिकांश लोगों की समान विशेषताओं को प्रकट करता हो। ऐसा करना सुविधाजनक भी है किन्तु केवल सुविधाजनक होने के कारण हमें ऐसे किसी शब्द या परिभाषा को स्वीकार नहीं करना चाहिये जो हानिकारक हो और जिसके कारण गलतफहमी या भ्रम उत्पन्न होता हो। इस दृष्टि से हिन्दुओं का बहुमत जिन विशेषताओं के कारण प्रायः एक समझा जाता है उनका आधार स्मृति, श्रुति या पुराण है। इसलिये उसे सनातन धर्म कहना अधिक उपयुक्त है, किन्तु बहुमत के इन हिन्दुओं के अतिरिक्त दूसरे हिन्दू भी हैं जो या तो पूर्ण रूप से या आंशिक रूप में पुराणों और स्मृतियों और यहाँ तक कि वेदों तक को नहीं मानते। इसलिए यदि हिन्दुओं के धर्म का अर्थ केवल बहुमत के धर्म से लिया जाये और उन्हें ही हिन्दू कहा जाय तो दूसरे उदार और प्रगतिशील हिन्दू इसको स्वीकार नहीं करेंगे और बहुमत के इस दावे को अनुचित मानेंगे। इसलिए जो हिन्दू अल्पमत में हैं उनके धर्मों को भी स्वीकार करके हमें उनका पृथक् धार्मिक अस्तित्व स्वीकार करना होगा, अन्यथा केवल पौराणिक और कट्टर हिन्दुओं को ही हिन्दू माना जाय तो यह सुधारवादी हिन्दू व्यापक हिन्दुत्व की सीमा से पृथक् समझे जायेंगे।"

इस प्रकार सावरकर जहाँ यह स्वीकार करते हैं कि बहुमत के हिन्दुओं के धर्म से अल्पमत वाले अनेक हिन्दुओं का धर्म पृथक् और भिन्न है वहां वे यह भी चेतावनी देते हैं कि "हिन्दू धर्म जो बहुमत के हिन्दुओं का धर्म है उसको अन्य सब हिन्दुओं पर थोपने का हमें गलत प्रयत्न नहीं करना चाहिये अन्यथा हिन्दुओं में परस्पर कटुता उत्पन्न होगी। यदि हिन्दू धर्म समस्त हिन्दुओं के धर्म का द्योतक नहीं हो सकता तो हमें ऐसा आग्रह नहीं करना चाहिये और

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि बहुमत के हिन्दुओं के धर्म का नाम सनातन धर्म अर्थात् श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त धर्म है और बाकी के हिन्दुओं के अपने-अपने धर्म हैं जिन्हें सिख धर्म, आर्य धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"

लोकमान्य तिलक की परिभाषा

लोकमान्य तिलक न केवल हिन्दू धर्म के एक निष्ठावान् अनुयायी ही थे अपितु वे हिन्दू धर्म शास्त्र और संस्कृत के भी विद्वान् थे। न्यायमूर्ति गजेन्द्रगड़कर ने हिन्दू धर्म की उनकी व्याख्या इस प्रकार उद्धृत की है—

प्रामान्यबुद्धिर्वेदेषु साधनानामनेकता ।
उपास्यानामानियमः एतद् धर्मस्य लक्षणम् ॥

तिलक द्वारा रचित संस्कृत में हिन्दू धर्म की इस परिभाषा के अनुसार वेदों के प्रति प्रामाणिक आदर भाव, उपासना की विभिन्नता तथा उपास्य देवों की अनेकता यह हिन्दू धर्म के लक्षण हैं।

प्रश्न यह है कि क्या आर्यसमाज इस परिभाषा के अनुसार हिन्दू धर्म में आ सकता है ? स्पष्ट है कि तिलक की इस परिभाषा और उसकी न्यायमूर्ति गजेन्द्रगड़कर द्वारा की गई व्याख्या के अनुसार आर्यसमाज हिन्दू धर्म में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। स्वयं सावरकर ने लोकमान्य तिलक की इस व्याख्या का विवेचन करते हुए "हिन्दुत्व के पृष्ठ 107 पर लिखा है कि "तिलक की यह परिभाषा सनातन धर्म की व्याख्या है जो उन्होंने चित्रमय जगत्, (सचित्र मराठी साप्ताहिक) में अपने विद्वत्तापूर्ण लेख में की है। लोकमान्य तिलक ने उसमें स्वयं स्वीकार किया है कि इस परिभाषा के अनुसार आर्यसमाजी हिन्दू धर्म का अंग नहीं हो सकते यद्यपि वे राष्ट्रीय दृष्टि से भले ही हिन्दू हों। यह परिभाषा यद्यपि अपने-आप में बड़ी अच्छी है किन्तु वह न हिन्दुत्व की परिभाषा है और न ही व्यापक हिन्दू धर्म की। वह केवल सनातन धर्म अर्थात् श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त सम्प्रदाय की परिभाषा मात्र है।" लोकमान्य तिलक की इस परिभाषा के सम्बन्ध में ए. वी. कुलकर्णी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
द्वारा लिखी "तिलकाची गेली आठ वर्ष" नामक मराठी पुस्तक के पृष्ठ 220 के अनुसार स्वयं तिलक कहते हैं कि "मेरी इस परिभाषा का उद्देश्य यह है कि उसमें हिन्दू धर्म की समस्त जातियों, वर्णों और सम्प्रदायों का समावेश किया जा सके तथा अन्य धर्मों को उससे पृथक् समझा जा सके। दूसरे शब्दों में यह परिभाषा तर्कशास्त्र के अनुसार न अधिक संकीर्ण होनी चाहिये और न ही अधिक व्यापक।" इस्लाम और ईसाई धर्म से हिन्दू धर्म की भिन्नता दर्शाते हुए तिलक लिखते हैं कि "इन धर्मों के विपरीत हम यह मानते हैं कि ईश्वर के समय-समय पर अवतार प्रकट हुए हैं और आगे भी होंगे। यद्यपि ईश्वर को हम एक मानते हैं किन्तु हम यह स्वीकार नहीं करते कि पृथ्वी पर उसका एक ही तथा अन्तिम अवतार हुआ है। जिस प्रकार उपासना के अनेक तरीके हैं उसी प्रकार उपास्य देवता भी अनेक हैं ऐसी हिन्दू धर्म की मान्यता है। अन्य धर्म के समान हिन्दुओं का कोई निश्चित देवता नहीं है। हम यह नहीं मानते कि केवल विष्णु या शिव की उपासना से ही मुक्ति हो सकती है। हिन्दू धर्म में शैव, वैष्णव, गणपत्य आदि अनेक मत हैं जो अपने-अपने देवताओं को श्रेष्ठ मानते और उनकी उपासना के लिए ऐसी मान्यता जरूरी है।"

आर्यसमाज न अनेक देवताओं या ईश्वर के अवतारों में विश्वास करता है और न ही भिन्न-भिन्न उपासना पद्धतियों में। इसलिए लोकमान्य तिलक ने भी उसे हिन्दू धर्म की व्याख्या में शामिल नहीं किया है जैसा सावरकर ने लिखा है। "इसमें सन्देह नहीं कि आर्यसमाज भी वेदों को प्रमाण मानता है किन्तु उसकी वेदों की व्याख्या अन्य हिन्दू विद्वानों की व्याख्या से सर्वथा भिन्न है और जिसे आर्यसमाज वेदों का धर्म मानता है यह हिन्दू धर्म से सर्वथा अलग है। इस प्रकार वेदों के सम्बन्ध में दोनों के दृष्टिकोणों में इतना अन्तर है कि एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि आर्यसमाज कट्टर या पौराणिक हिन्दुओं के वेद को नहीं मानता। इस प्रकार वेदों के बारे में उनके विचारों में केवल ऊपरी समानता है वास्तविक नहीं।"

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सनातन धर्म के अन्य प्रमुख व्यक्तियों के भी आर्यसमाज के बारे में ऐसे ही विचार हैं। वे उसे एक सर्वथा नवीन धर्म मानते हैं जो प्रचलित हिन्दू धर्म के विरुद्ध है। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित तथा व्यंकेटश्वर प्रैस बम्बई द्वारा 1905 में "दयानन्द तिमिर भास्कर" नामक एक पुस्तक प्रकाशित की गई है। जैसा पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि उसमें स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सत्यार्थप्रकाश का खण्डन करते हुये लिखा है कि दयानन्द ने जो अन्धकार अर्थात् तिमिर फैलाया उसे दूर करने के लिये यह पुस्तक लिखी गई है। इस पुस्तक में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि स्वामी दयानन्द का यह कथन कि उन्होंने किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं की, भ्रमपूर्ण है। स्वामीजी की इस घोषणा का उपहास करते हुये ज्वालाप्रसाद मिश्र लिखते हैं कि—"कैसी विचित्र बात है कि एक नवीन धर्म की स्थापना करने के बाद भी इस बात से इंकार किया जाता है कि पुरानी मान्यताओं को तिलांजलि देकर नई प्रारम्भ की गई। शास्त्रों को पूर्णतया नष्ट करने का प्रयत्न किया गया। प्रतिमा पूजा, श्राद्ध, तर्पण-मन्त्र, जप, तप सबको असत्य घोषित कर दिया गया। नियोग जैसे अनाचार का समर्थन किया गया। सब जगह आर्यसमाज की शाखायें खोल दी गईं और ब्राह्मणों को पोप बताया गया। वर्ण व्यवस्था और आश्रम व्यवस्था नष्ट की गई। शुद्रों को वेद पढ़ने का रास्ता खोल दिया गया। वेदों का अपना पृथक् भाष्य किया गया इस प्रकार प्राचीन प्रथाओं और मान्यताओं को पूरी तरह उखाड़ फेंकने के लिये कोई कसर उठाकर नहीं रखी गई और इस उद्देश्य से सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदभाष्यभूमिका आदि अन्य ग्रन्थ लिखे गये। यह भी घोषित कर दिया गया कि ईश्वर पापों को क्षमा नहीं कर सकता। उसके नाम का जप करने से कोई लाभ नहीं है। जीव, मुक्ति से वापस लौटकर आता है आदि अनेक अपने सिद्धान्त प्रतिपादित कर दिये गये और इस पर भी दयानन्द का कहना है कि मैंने किसी नवीन मत की स्थापना नहीं की।"

आगे दयानन्द तिमिर भास्कर के लेखक पृष्ठ 18 पर पूछते हैं कि "क्या इस प्रकार के झूठ की कोई सीमा है? नवीन धर्म स्थापित करने के लिये

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
दयानन्द और क्या कर सकते थे ? उन्होंने अपने सत्यार्थ प्रकाश के अन्त में अपनी मान्यताओं और मन्तव्यों को शामिल कर दिया है इसलिए यह पुस्तक अर्थात् तिमिर भास्कर जो सत्यार्थ प्रकाश की पोल खोलने के लिये लिखी गई है, इन मन्तव्यों और विश्वासों का भी खण्डन करती है। परिणामस्वरूप इन मान्यताओं का भी आधार नष्ट हो जाता है क्योंकि न वे वेदों के आधार पर हैं और न ही बुद्धिमान् विचारकों को स्वीकार हो सकते हैं। अपने स्वयं के मन्तव्यों की स्वयं घोषणा करना ऐसी है जैसे अपने पुत्र को स्वयं राजा घोषित करना। यह सब निरर्थक है इसका कोई लाभ नहीं है। यह सब लोगों को गुमराह करने के लिये लिखा गया है।"

पंडित मदनमोहन मालवीय जिन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना की और जो सनातन धर्म के एक प्रमुख नेता थे उनकी सम्मति में भी धार्मिक दृष्टि से आर्यसमाज सनातन हिन्दू की परिभाषा में नहीं आता है। पंडित उमापति द्विवेदी द्वारा रचित "सनातन धर्मोद्धार" नामक पुस्तक जो मालवीय जी की स्वीकृति से प्रकाशित की गई, उसमें भी हिन्दू धर्म की जो विस्तृत मान्यतायें दी गई हैं वे स्पष्ट रूप से आर्यसमाज के सिद्धान्तों के विपरीत हैं। इतना ही नहीं स्वयं मालवीयजी ने अपनी भूमिका में लिखा है कि **सनातन धर्म के सिद्धान्तों का यह संग्रह उन सब सम्प्रदायों के लिये मान्य और स्वीकार है जो सनातन धर्म की परिभाषा में आते हैं और इस प्रकार यह पुस्तक हमारे नवयुवकों के लिये धार्मिक शिक्षा देने और हिन्दू धर्म का प्रचार करने के कार्य में उपयोगी सिद्ध होगी।** ग्रन्थ के लेखक ने स्पष्ट रूप से आर्यसमाज और उसके सिद्धान्तों का खण्डन और उसके संस्थापक ऋषि दयानन्द की कड़े शब्दों में निन्दा की है। उन्हें 'वेदविनाशक' तक कहा है और लिखा है कि स्वामीजी ने न केवल वेदों का ही विनाश किया अपितु धर्म के नाम पर अनेक और कांटे बोये हैं। धर्मोद्धार नामक अध्याय में स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों और सत्यार्थ प्रकाश की विस्तार से समालोचना की गई है। वेदविनाशक (अर्थात् स्वामी दयानन्द) और उनके समालोचक (अर्थात् लेखक पंडित उमापति द्विवेदी) के बीच एक काल्पनिक संवाद के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि स्वामी दयानन्द ने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

मूर्तिपूजा के विरुद्ध जो तर्क दिये हैं वे वेद तथा अन्य हिन्दू शास्त्रों के विरुद्ध
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हैं। एक स्थान पर द्विवेदीजी लिखते हैं कि "ईश्वर की मूर्तियां केवल पत्थर या मिट्टी मात्र हैं और पवित्र गंगा जल केवल पानी या जल है यह बात केवल मूर्ख व्यक्ति ही कह सकता है।"

देहली उच्च न्यायालय का निर्णय

देहली हाई कोर्ट ने आर्य समाज को पृथक् धार्मिक संगठन न मानकर जहां एक कानूनी और संवैधानिक भूल की है (जिसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में आर्यसमाज की अपील विचाराधीन है) वहां दूसरी ओर देहली हाई कोर्ट के न्यायाधीशों को विवश होकर यह स्वीकार करना पड़ा कि प्रत्येक हिन्दू धार्मिक दृष्टि से भी हिन्दू धर्म का अनुयायी हो यह आवश्यक नहीं है। उन्होंने हिन्दू के दो अर्थ किये हैं। एक जो केवल सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू हैं और दूसरे वे जो धार्मिक दृष्टि से हिन्दू हैं। जैन, बौद्ध और सिख आदि जो केवल सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू हैं अथवा केवल हिन्दू व्यक्तिगत कानून अर्थात् हिन्दू कोड बिल के अनुसार हिन्दू हैं। उन्हें न्यायालय ने हिन्दू धर्म को सम्प्रदाय नहीं माना है।

इसलिए यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि देहली न्यायालय ने हिन्दू के दो अर्थ स्वीकार करते हुए जैन, बौद्ध और सिखों के विपरीत धार्मिक दृष्टि से केवल आर्यसमाज को ही हिन्दू धर्म का एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय किस प्रकार घोषित किया है? जब कि आर्यसमाज के पक्ष में यह सिद्ध करने के कहीं अधिक सबल तर्क हैं कि वह सनातनी या पौराणिक हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय नहीं हो सकता जैसा हम पूर्व अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 10

आर्य या हिन्दू

सन् 1869 में काशी के पण्डितों को अकेले स्वामी दयानन्द ने जब ललकारा तब से वे एक ऐतिहासिक और क्रान्तिकारी सुधारक के रूप में उभरकर आये। ब्राह्मणवाद और मूर्तिपूजा के गढ़ काशी के शास्त्रार्थ की इस ऐतिहासिक घटना का बड़ा सुन्दर वर्णन फ्रांस के प्रसिद्ध विचारक रोमारोलां ने इस प्रकार किया है :—

"उस दिन दयानन्द ने अकेले लाखों आक्रमणकारियों की उपस्थिति में जो उन्हें परास्त करने के लिये उत्सुक थे बनारस के तीन सौ पण्डितों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी। ये पण्डित हिन्दुओं के गढ़ की रक्षक सेना का अगला दस्ता था जिसका अकेले दयानन्द ने ऐसे ही मुकाबला किया जैसा लूथर ने अपने गुमराह रोम के चर्च का किया था। दयानन्द की गगनभेदी आवाज उस दिन सर्वत्र गूंज उठी। जैसा सर्वविदित है कि काशी के शास्त्रार्थ में दयानन्द ने हिन्दू धर्म के आधार स्तम्भ मूर्तिपूजा के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और इस प्रकार उन्होंने मूर्तिपूजा के प्राचीन और सुदृढ़ किले पर ही आक्रमण किया मानो वे शेर की मान्द में घुसकर उसे ललकार रहे हों।"

इसका जो परिणाम होना था वही हुआ। काशी का समस्त पण्डित वर्ग उनका कट्टर विरोधी बन गया और यह विरोध एक संघर्ष के रूप में आर्यसमाज की विचारधारा का आधार सिद्ध हुआ। आज भी आर्यसमाज

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत में ही नहीं अपितु विश्व भर में मूर्तिपूजा का सबसे सच्चा और कट्टर विरोधी है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि हिन्दू धर्म की मूर्तिपूजा के इस विरोध का ही यह परिणाम है कि आर्यसमाज ने "हिन्दू" शब्द तक का निषेध किया। यह निर्विवाद है कि हमारा वास्तविक नाम आर्य ही था और विदेशी आक्रमणकारियों ने ही हमें हिन्दू कहना प्रारम्भ किया। यही कारण है कि वह एक अपमानजनक और हीनता का द्योतक शब्द बन गया। जैसा अरबी और फारसी भाषा तथा अन्य इस्लामी साहित्य में उसका अर्थ किया जाता है। इसे पौराणिक हिन्दू धर्म की उन सामाजिक कुरीतियों और मूर्तिपूजा आदि धार्मिक अन्धविश्वासों का परिचायक माना जाता है जिनका आर्यसमाज विरोध करता है। यही कारण है कि आर्यसमाजियों ने अपने आपको हिन्दू कहना ही नापसन्द किया। स्वयं स्वामी दयानन्द ने हिन्दू शब्द को त्यागकर आर्य नाम स्वीकार करने का उन्हें स्पष्ट आदेश दिया है।

जन गणना

प्रारम्भिक जन गणनाओं की रिपोर्टों से स्पष्ट है कि ऋषि दयानन्द के अनुयायियों ने उसमें उन्हें हिन्दू लिखने का विरोध किया परिणामस्वरूप उन्हें 'आर्य' लिखा जाने लगा। बाद की जनगणनाओं में भी उनकी गिनती हिन्दुओं में इसलिये नहीं की जाती रही कि उन्होंने हिन्दू धर्म स्वीकार कर लिया था बल्कि इसका कारण कि स्वयं हिन्दू शब्द के अर्थ में स्वीकार किया गया परिवर्तन जनगणना की प्रविष्टियाँ भी दोषपूर्ण रही हैं उसमें जहाँ अन्य धर्मों के अनुयायियों को उनके धार्मिक विश्वासों के अनुसार ईसाई, मुसलमान आदि नाम दिये गये वहां गैर धार्मिक अर्थ में जो हिन्दू थे और जो वास्तव में तथाकथित हिन्दू धर्म के अनुयायी थे, उन दोनों को हिन्दू कहा गया। जैसा स्वयं जनगणना सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है। आज कल तो प्रायः सब यह स्वीकार करते हैं कि हिन्दू कोई संगठित धर्म नहीं है जैसा हम पहले लिख चुके हैं कि बहुत से व्यक्ति

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

सांस्कृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू होते हुए भी सनातनी Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हिन्दू धर्म के अनुयायी नहीं हैं। इसी आधार पर अब आर्यसमाजी अपने आपको हिन्दू समाज का अंग मान कर भी धार्मिक दृष्टि से अपने को आर्य कहने का आग्रह करते हैं। स्वामीजी ने अपने पत्र व्यवहार में हिन्दू शब्द के समर्थन में दी गई युक्तियों का खण्डन करते हुए फारसी, अरबी तथा मुस्लिम ग्रन्थों का प्रमाण देकर बताया है कि उनमें हिन्दू शब्द का उपयोग गुलाम, काले, चोर तथा काफिर के लिये प्रयुक्त किया है। स्वामीजी द्वारा निर्मित 'वेद के विरुद्ध मत खण्डन' नामक पुस्तिका के पृष्ठ 51 पर भी स्मामीजी ने हिन्दू शब्द के प्रचलित अर्थ की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए लिखा है कि काले वर्ण वाला डाकू, पाषाणादि मूर्तियों का पूजक, सेवक, गुलाम और ईश्वर की उपासना से रहित इत्यादि हिन्दू शब्द का अर्थ है।

जैसा 'उपदेश मंजरी' नामक पुस्तिका से जाहिर है कि जब स्वामीजी द्वारा पुणे में दिये गये एक व्याख्यान में अपने मुंह से भूल से हिन्दू शब्द निकल गया तब उन्होंने तत्काल अपनी गलती स्वीकार करके उसका निराकरण कर दिया और साथ ही श्रोताओं से कहा कि आप भी आज से हिन्दू नाम का त्याग कर आर्य तथा आर्यवर्त्त का उपयोग करने में अभिमान अनुभव करें क्योंकि 'हिन्दू' शब्द का अर्थ काला, काफिर, चोर इत्यादि हैं। आगे उन्होंने कहा "भाई इस प्रकार का बुरा नाम क्यों ग्रहण करते हो आज से हिन्दू नाम का त्याग करो और आर्य तथा आर्यवर्त इन नामों का अभिमान करो। गुण भ्रष्ट तो हम लोग हुए परन्तु नाम भ्रष्ट तो हमें न होना चाहिये ऐसी आप सब से मेरी प्रार्थना है।" अपने कलकत्ते के प्रवास में उनके एक प्रशंसक ने उनका परिचय देते हुये जब कहा कि वे एक महान् हिन्दू सन्त और सुधारक हैं तो स्वामीजी ने तत्काल उसका विरोध करते हुये कहा कि मुझे हिन्दू कहना मेरा अपमान करना है। सन् 1878 में दीनापुर के एक सामाजिक कार्यकर्त्ता माधोलाल ने अपने द्वारा स्थापित हिन्दू सभा के लिये जब उनका आशीर्वाद मांगा तो उन्होंने उसे सभा का नाम

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदलकर आर्यसमाज रखने की सलाह दी जिसे माधोलालजी ने प्रसन्नता से स्वीकार कर लिया।

अन्य विद्वानों के मत

स्वामी के आदेशानुसार आर्यसमाज के अनेक प्रमुख विद्वानों तथा उपदेशकों ने अनेक छोटी-मोटी पुस्तकें लिखीं जिनके द्वारा हिन्दू के स्थान में आर्य शब्द के उपयोग का आग्रह किया गया। आर्यसमाज के एक अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् प्रचारक और प्रसिद्ध शहीद पंडित लेखराम जी द्वारा सन् 1897 में "आर्य, हिन्दू और नमस्ते" नामक एक ट्रेक्ट लिखा गया जिसमें उन्होंने अरबी, फारसी आदि इस्लामी प्रकाशनों से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि इन पुस्तकों में किस प्रकार हिन्दू शब्द के अपमान-जनक अर्थ दिये गये हैं। उदाहरण के लिये—चमने-वे-नजीर में नीचे लिखा परिसंवाद है अर्थात् किस प्रकार का हिन्दू, जो काफिर है या हिन्दू है? किस प्रकार का काफिर जो राह चलतों को लूटता है या जो लोगों की आत्माओं को लूटता है। 'कुलियात' नामक पुस्तक में विवरण है कि महबूबा के गाल पर जो काला तिल है वह ऐसा दिखाई देता है कि मानो कोई हिन्दू शिशु सूर्य की पूजा कर रहा है। "आर्यसमाज के एक अन्य प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित भद्रसेनजी ने 'हम आर्य हैं' नाम से एक पुस्तिका लिखी है जिसमें भी आर्य नाम का समर्थन करते हुये हिन्दू शब्द की समालोचना की गई है। सन् 1975 में आर्यसमाज अजमेर द्वारा "आर्यसमाज का भविष्य" शीर्षक पुस्तक में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये गये हैं। इन सब में स्वामी दयानन्द द्वारा आर्य शब्द के समर्थन में दिये गये युक्ति और प्रमाणों के आधार पर आर्यसमाजियों से आग्रह किया गया है कि वे अपने को आर्य ही लिखें और कहें।

सार्वदेशिक सभा का आदेश

आर्यसमाज का सबसे बड़ा संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा है। उसके द्वारा सन् 1941 की जनगणना के समय समस्त आर्य समाजियों को यह आदेश दिया गया कि वे फरवरी 1941 में होने वाली जन गणना में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अपने को आर्य तथा अपने धर्म को वैदिक धर्म लिखायें। हिन्दू नाम के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के विद्वानों का सदा से ही यह मत रहा है कि हिन्दू शब्द के साथ जो हीनता और कायरता की भावना जुड़ी हुई है उससे हम अपने को आर्य कहकर ही मुक्त कर सकते हैं। वस्तुतः आज भी हिन्दू धर्म अनेक देवी-देवताओं की उपासना और सती तथा बाल-विवाह, छुआ-छूत और नरबली आदि कुरीतियों और अन्धविश्वासों का पर्यायवाची समझा जाता है।

इस प्रकार आर्यसमाज के इतिहास से स्पष्ट है कि न केवल ऋषि दयानन्द बल्कि उनके प्रारम्भिक अनुयायी भी यह स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे कि वे हिन्दू हैं। आर्यसमाज का प्रारम्भिक साहित्य इसका प्रमाण है जिसमें स्पष्ट रूप से हिन्दू नाम को अस्वीकार करने का आदेश है। इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि मुस्लिम काल और उसके बाद भी हिन्दू शब्द एक प्रकार का अपशब्द और हीनतासूचक संबोधन बन गया था।

हिन्दू एकता और संगठन का समर्थन

आर्यसमाज के संस्थापक तथा उसके अनुयायियों के हिन्दू शब्द के प्रति इस दृष्टिकोण के उपरान्त भी अनेक लोगों ने कालान्तर में हिन्दू समुदाय का अंग होना स्वीकार किया, उसका कारण यह नहीं था कि वे अपने आपको हिन्दू या पौराणिक धर्म के अनुयायी स्वीकार करते थे बल्कि उसके पीछे एक राजनीतिक कारण था। अंग्रेजों ने भारत में "डिवाइड एण्ड रूल" अर्थात् फूट डालो और राज्य करो की अपनी नीति के अनुसार हिन्दुओं में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता और अंग्रेजी राज्य के विरोध का मुकाबला करने के लिये मुसलमानों को अनेक राजनैतिक तथा अन्य प्रलोभन देकर अपना समर्थक बनाने का प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप साम्प्रदायिक चुनाव और पृथक् प्रतिनिधित्व प्रारम्भ किये गये और मुसलमानों के लिये उनकी संख्या के अनुपात से कहीं अधिक स्थान धारा सभाओं में सुरक्षित किये गये। चुनाव में भी केवल मुसलमानों के मतों के आधार पर ही उनका निर्वाचन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किया जाने लगा। इसी प्रकार सरकारी नौकरियां आदि में भी उन्हें वरियता दी जाने लगी। स्पष्ट है कि यह सब बहुसंख्यक हिन्दू समाज के महत्व और अधिकारों को कम करके ही किया जा सकता था। आर्यसमाज सदा हिन्दुओं का संरक्षक और समर्थक रहा है इसलिये इस कठिनाई के समय हिन्दुओं की एकता और संगठन बनाये रखने के लिये उसे सहयोग देने को कहा गया। आर्यसमाज ने हिन्दू एकता और बहुमत बनाये रखने के लिये यह त्याग करना स्वीकार कर लिया कि वह कम से कम सामाजिक दृष्टि से हिन्दू बहुसंख्या का अंग बना रहेगा। इस प्रकार जनगणना में भी उन्हें हिन्दुओं की संख्या में गिना जाने लगा। यद्यपि ऐसा करते समय भी अपना पृथक् धर्म वैदिक लिखाने का वे आग्रह करते रहे जैसा सार्वदेशिक सभा की घोषणाओं से स्पष्ट है। अंग्रेजों ने भारत की जनसंख्या को मुसलमान और गैर मुसलमान इन श्रेणियों में बांटकर एक प्रकार से हिन्दुओं के अस्तित्व को ही नकारने का प्रयत्न किया। ऐसी स्थिति में केवल नाम के बारे में आर्यसमाज का यह समझौतावादी दृष्टिकोण आपात्काल में हिन्दुओं की रक्षा और सहायता करने की उसकी परम्परा के अनुकूल ही था। किन्तु यह स्पष्ट है कि सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू शब्द स्वीकार करने के उपरान्त भी उन्होंने हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय या अंग होना कभी भी अधिकृत रूप से स्वीकार नहीं किया। ऐसा करने की आवश्यकता भी नहीं थी। न ऐसा किया जा सकता था। स्वयं कट्टरपन्थी हिन्दू समर्थक संगठन और नेता तक अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि हिन्दू कोई संगठित धर्म विशेष नहीं है उसका आधार सांस्कृतिक और ऐतिहासिक समानता है,

वस्तुतः जनगणना में 'हिन्दू' शब्द का अर्थ और प्रयोग सदा भ्रम का कारण रहा है जैसा हम अन्यत्र बता चुके हैं। ब्रिटिश काल में भी जनगणना अधिकारी यह निश्चय नहीं कर पाते थे कि धार्मिक दृष्टि से कौन हिन्दू हैं? सम्भवतः इसीलिये उसके लिये एक नकारात्मक शब्द गैरमुस्लिम घड़ा गया। दुर्भाग्य से स्वाधीनता के पश्चात् भी कुछ आर्थिक प्रविष्टियों को छोड़

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कर जनगणना की धार्मिक तथा सामाजिक प्रविष्टियों में आवश्यक सुधार नहीं किये। उदाहरण के लिए जात-पांत जैसी अराष्ट्रीय सामाजिक बुराइयों को प्रोत्साहन देने वाली प्रविष्टि तक समाप्त नहीं की गई। हमारे विचार में भावी जनगणना की प्रणाली में जो सुधार आवश्यक हैं उनमें एक हिन्दू और हिन्दू धर्म की भिन्नता को दर्शाने वाला भी होना चाहिए ताकि इसका उपयोग अधिक सार्थक और यथार्थवादी हो। धर्म की प्रविष्टि में इस्लाम, क्रिश्चियनिटि आदि के समान जैन, सिख, बौद्ध और आर्यसमाजियों के वैदिक धर्म की पृथक् गिनती की जा सकती है, किन्तु जो अपने को धार्मिक दृष्टि से हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय या अंग मानते हैं उन्हें भी धर्म की इस प्रविष्टि में हिन्दू धर्म या हिन्दू लिखने की स्वतन्त्रता दी जाये। साथ ही जाति की प्रविष्टि को हटाकर उसके स्थान में एक व्यापक सामाजिक प्रविष्टि रखी जाये जिसे समुदाय या कम्युनिटी कहा जा सकता है। उसके अन्तर्गत भारत में उत्पन्न धर्मों के सब अनुयायियों की एकता व अखण्डता को बनाये रखने के लिये जैन, सिख, बौद्ध, आर्यसमाजी भी अपने को सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ में हिन्दू लिखा सके ताकि हिन्दू एकता और संगठन की आवश्यकता की भी पूर्ति हो सके। इस प्रविष्टि में इस्लाम के अनुयाई भी अपने को मुसलमान लिखा सकते हैं। वैसे धर्म के कालम में वर्तमान मुसलमान शब्द गलत है क्योंकि उनके धर्म का नाम इस्लाम है, मुसलमान तो इस्लाम के अनुयायियों का नाम है। दूसरी ओर इस प्रविष्टि में "हिन्दू" शब्द भी भ्रमपूर्ण है क्योंकि हिन्दू धर्मवाचक नहीं है। वह सनातन या पौराणिक धर्म के अनुयायियों के लिये भले ही सार्थक हो उसका प्रयोग सिख, जैन, बौद्ध और आर्यसमाजियों के वैदिक धर्म के लिए नहीं किया जा सकता और न किया जाना चाहिए जैसा वीर सावरकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "हिन्दुत्व" में स्पष्ट किया है। न्यायालयों के निर्णयों में भी हिन्दू के ये दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं। इसलिये भी हमारी जनगणना में इस वास्तविक स्थिति को प्रतिबिम्बित करना उपयुक्त है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल शाब्दिक अन्तर नहीं

बहुधा कुछ लोग यह कहते हैं कि स्वामीजी केवल हिन्दू नाम के स्थान में आर्य का उपयोग करने के पक्ष में थे। किन्तु यह एक अर्ध सत्य है। स्वामीजी इस देश के निवासियों के लिए आर्य तथा देश को आर्यवर्त्त कहने के समर्थक थे इसमें सन्देह नहीं, किन्तु साथ ही यह भी निश्चित है कि वे कम से कम समस्त हिन्दुओं को वैदिक धर्म का अनुयायी बनाकर उन्हें धार्मिक अर्थ में भी आर्य बनाना चाहते थे। वस्तुत: हिन्दू शब्द का विरोध करने का उन अनुयायियों का मुख्य कारण यही था कि वे उसे धार्मिक विश्वासों और सामाजिक कुरीतियों का परिचायक समझते थे जिनका स्वामीजी ने जोरदार खण्डन किया है। इसलिये जब वे आर्यसमाज के सदस्यों और अपने अनुयायियों को आर्य नाम से सम्बोधित करते थे तो उनका उद्देश्य और आग्रह यह स्पष्ट करने का था कि वे उस वैदिक धर्म के अनुयायी हैं जिसका पुन: उत्थान वे करना चाहते थे और जो न केवल आधुनिक हिन्दू धर्म से भिन्न था .बल्कि उसके सर्वदा विरुद्ध था। इसी प्रकार स्वामीजी ने आर्य शब्द के प्रकरणानुसार अन्य अर्थ भी किये हैं। सत्यार्थप्रकाश और 'आर्योद्देश्य-रत्नमाला' आदि में आर्य शब्द का अर्थ उन्होंने श्रेष्ठ व्यक्ति अर्थात् अच्छे मनुष्य ऐसा किया है और दस्यु का अर्थ दुष्ट व्यक्ति किया है। इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी आर्यों की कोई जाति या नस्ल विशेष नहीं मानते थे और न उन्हें दक्षिण के द्रविड़ आदि जातियों के विदेशी विजेता समझते थे जैसा पश्चिमी इतिहासकार लिखते हैं। स्वामीजी के अनुसार दक्षिण के तमिल आदि लोग भी वैसे ही आर्य हो सकते हैं जैसे उत्तर के वैदिक धर्म के अनुयायी या श्रेष्ठ पुरुष।

आर्य का विशेष अर्थ

स्वामी दयानन्द के अनुयायी या आर्यसमाजी अपने को एक विशिष्ठ अर्थ में आर्य मानते हैं अर्थात् ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के अनुयायी के रूप में। इस प्रकार वे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि उन्हें उस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हिन्दू धर्म का अनुयायी न समझा जाये जिसकी महात्मा गांधी ने सुधारवादी अथवा लोकमान्य तिलक ने जिसकी आधुनिक सनातन हिन्दू धर्म के रूप में व्याख्या की है। जिस प्रकार मुसलमान का शाब्दिक अर्थ अपने विश्वास में मुसल्ला अर्थात् दृढ़ होने पर भी उसका विशेष अर्थ इस्लाम धर्म का अनुयायी है तथा सिख का अर्थ शिष्य होने पर भी सिख वे ही समझे जाते हैं जो गुरु नानक तथा गुरु गोविन्द सिंह द्वारा प्रसारित धर्म के अनुयायी हैं। इसी प्रकार आर्य भी विशिष्ट अर्थ में वे हैं जो ऋषि दयानन्द द्वारा वैदिक धर्म के अनुयायी हैं। इसी अर्थ में आर्यसमाजी अब आर्य का लोकप्रिय और सर्वपरिचित पर्यायवाची समझा जाता है यह इसलिए भी उपयुक्त है कि अनेक सनातनी भी अपने को आर्य कह सकते हैं। वस्तुतः उनके शास्त्रों तथा जैन और बौद्ध धर्म शास्त्रों में भी आर्य शब्द का प्रयोग किया गया है। हिन्दू तीर्थ-स्थानों में वहां के ब्राह्मण अथवा पण्डे जो संकल्प पढ़कर गंगा आदि में यात्रियों को स्नान कराते हैं उसमें इस देश का नाम आर्यावर्त्त ही कहते हैं। बौद्ध भी अपने धर्म को आर्य मत कहते हैं। जैन धार्मिक साहित्य में भी आर्य शब्द का जगह-जगह उल्लेख है। ऐसी स्थिति में केवल हिन्दू शब्द के स्थान में आर्य का प्रयोग करने मात्र से आर्यसमाज के अनुयायियों का बोध नहीं होता इसलिए आर्य शब्द के साथ यह बात भी स्पष्ट करना जरूरी है कि वह उन धार्मिक सिद्धान्तों और संस्कारों का अनुयायी है जिनका ऋषि दयानन्द ने प्रतिपादन किया है।

आर्यसमाज के विधान में भी इसीलिए आर्य की एक विशेष परिभाषा की गई है जो सार्वदेशिक सभा द्वारा सन् 1938 में प्रकाशित आर्यसमाज के नियम, उप-नियमों की धारा-3 में इस प्रकार है—

"जो लोग आर्यसमाज में नाम लिखाना चाहें और समाज के उद्देश्यों के अनुकूल आचरण स्वीकार करें वे आर्यसमाज में प्रविष्ट हो सकते हैं परन्तु उनकी अठारह वर्ष से न्यून आयु न हो, इस प्रकार जो आर्यसमाज में प्रविष्ट हों वे आर्य कहलायेंगे। परन्तु कोई व्यक्ति एक समय में एक ही समाज का सदस्य हो सकता है।"

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
इस विशेष अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उपनियम में आगे लिखा है कि—

आर्यसमाज में नाम लिखाने के लिये मंत्री के पास इस प्रकार का पत्र लिखना चाहिये कि.... "मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्यसमाज के उद्देश्यों (जो नियमों में वर्णन किये गये हैं) मन्तव्यों को (जो वेदों के आधार पर ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में लिखे गये हैं) मानता और उनके अनुकूल आचरण स्वीकार करता हूँ। मेरा नाम आर्यसमाज में लिख लेवें।"

सार्वदेशिक सभा द्वारा स्वीकृत इस परिभाषा के अनुसार आर्य वह समझा जायेगा जो आर्यसमाज के उद्देश्यों तथा ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों को स्वीकार करके उस में प्रवेश करे अर्थात् आर्यसमाजी बनना चाहे। इस आधार पर भी आर्य की यही परिभाषा आर्यसमाज और दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक और अधिकृत दोनों है।

यह कहा जाता है कि स्वामीजी ने आर्य शब्द का प्रयोग उसके शाब्दिक अर्थ में किया है जो हिन्दुओं का प्रारम्भिक और सही नाम है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह सही होने पर भी इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्होंने वर्तमान हिन्दू धर्म के अनुयायियों के लिये भी आर्य शब्द का उपयोग किया है। हिन्दुओं के अतिरिक्त जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी भी अपने को आर्य मानते थे जैसा ऊपर लिखित उनके धर्मग्रन्थों से सिद्ध होता है। इसलिये केवल हिन्दू के स्थान में आर्य नाम हिन्दू धर्म के वर्तमान अनुयायियों का ही द्योतक नहीं बन सकता। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों, उपदेशों तथा मान्यताओं से भी यही सिद्ध होता है कि उनका उद्देश्य केवल नाम परिवर्तन करना नहीं था अपितु उसके साथ प्राचीन आर्यों के वैदिक धर्म को स्वीकार करना भी वे आवश्यक समझते थे। इसलिये सार्वदेशिक सभा के 1938 के पहले उप-नियमों में दी गई "आर्य" की परिभाषा ही स्वामीजी की भावना को सही रूप से प्रतिबिम्बित करती है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी द्वारा समीक्षा

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के 11 वें समुल्लास में हिन्दू धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय की समीक्षा और खण्डन किया है यद्यपि उन्होंने उसे आर्यवर्त्त में रहने वाले आर्यों का धर्म कहा है। इस समुल्लास के प्रारम्भ में वे लिखते हैं कि आर्य लोग जो आर्यवर्त्त में बसते हैं अब हम उनके मत का खण्डन तथा मण्डन का विधान करेंगे इस प्रारम्भिक घोषणा के बाद उन्होंने पुनः आधुनिक हिन्दू धर्म को वर्तमान आर्यों का धर्म कहकर भी उसके प्रत्येक सम्प्रदाय का खण्डन किया है। यहाँ तक कि उसमें ब्रह्मसमाज और नानक पन्थ को भी सम्मिलित किया है। इससे स्पष्ट है कि जिसे आज हम हिन्दू धर्म कहते हैं उसे स्वामीजी केवल आर्य नाम देकर वैदिक धर्म नहीं मानते थे। दूसरे शब्दों में उन्होंने आर्य को हिन्दू का ऐतिहासिक पर्यायवाची कह कर आर्य को वैदिक धर्म के अनुयायी के रूप में स्वीकार नहीं किया है और न ही ऐसे आर्यों के वर्तमान हिन्दू धर्म का समर्थन किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस ग्यारहवें समुल्लास में स्वामीजी ने वर्तमान हिन्दुओं के लिए उनके प्राचीन नाम "आर्य" का उपयोग केवल ऐतिहासिक दृष्टि से किया है न कि धार्मिक दृष्टि से। यदि स्वामीजी धार्मिक दृष्टि से भी वर्तमान हिन्दुओं को 'आर्य' समझते तो वे उनके धर्म की प्रायः प्रत्येक मान्यता और संप्रदाय का खण्डन नहीं करते। इसी प्रकार यदि आर्यसमाज का उद्देश्य केवल हिन्दुओं का नाम बदल कर उन्हें 'आर्य' कहना मात्र होता तो आर्यसमाज का सदस्य होने के लिए ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म को स्वीकार करने की शर्त की कोई आवश्यकता नहीं होती।

दयानन्द की चेतावनी

इतना ही नहीं स्वामीजी ने इस मौलिक अन्तर को बनाये रखने के लिए स्पष्ट चेतावनी भी दी थी क्योंकि उन्हें यह आशंका थी कि कहीं हिन्दू जाति प्रथा का सर्वग्राही भस्मासुर आर्यसमाज को भी हिन्दू धर्म की नमक की खान में विलीन न कर दे। उन्हें अन्य अधिकृत प्रेक्षक भी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इस बात की चेतावनी देते रहे हैं कि अन्य धार्मिक आंदोलनों के समान
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कहीं आर्यसमाज भी अपना पृथक् अस्तित्व हिन्दू धर्म के समुद्र में न खो बैठे। जब अजमेर के राय बहादुर श्याम सुन्दर दास ने स्वामीजी से निवेदन किया कि यदि वे मूर्तिपूजा की कड़ी आलोचना करना छोड़ दें तो हिन्दुओं में उनका प्रभाव बढ़ सकता है। तब स्वामीजी ने उत्तर दिया कि उन्हें मालूम है कि ऐसा करने से वे बड़े लोकप्रिय हो सकते हैं किन्तु यदि आज उन्होंने मूर्तिपूजा के प्रश्न पर इस प्रकार का समझौता किया तो उन्हें कल अन्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी ऐसा करना पड़ेगा और कालान्तर में आर्य समाज पौराणिक हिन्दू धर्म में खो जावेगा। पश्चिम के एक विद्वान् जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपने 'धार्मिक विश्वकोष' नामक पुस्तक में भी इसी प्रकार की आशंका व्यक्त की है। वे कहते हैं—'आर्यसमाज के भविष्य के बारे में भविष्य-वाणी करना कठिन है किन्तु चूंकि उसका कट्टर हिन्दू धर्म के साथ अब तक निकट सम्पर्क बना हुआ है, जैसा इस बात से जाहिर होता है कि उसके बहुत कम अनुयायियों ने जातिप्रथा का त्याग किया है, इसलिए यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि क्या वह हिन्दू धर्म के गर्त में विलुप्त हो जावेगा, जैसा कुछ लोग समझते हैं, या फिर वह और अधिक बौद्धिक और प्रगतिशील ऊंचाई को प्राप्त कर सकेगा।' श्री हेस्टिंग्ज आगे लिखते हैं कि 'आज भी आर्यसमाजी, जैन और बौद्धों के समान हिन्दुओं की जातिप्रथा से सर्वथा मुक्त होने में सफल नहीं हुए हैं फिर भी जैन और बौद्धों ने अपने पृथक् धार्मिक अस्तित्व को सुरक्षित रखा है और आर्यसमाज भी ऐसा कर सकता है। यह भी सही है कि भारत में वे हिन्दू जो ईसाई और मुसलमान हो गये वे अपने धर्मान्तरण के बाद भी जातिप्रथा को नहीं छोड़ सके हैं।'

हिन्दू धर्म और आर्यसमाज

श्री हेस्टिंग्ज का यह कहना सही है कि आर्यसमाजियों ने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों से हिन्दू समाज के साथ अपने सम्बन्ध बनाये रखे हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे हिन्दू धर्म के भी एक अंग या सम्प्रदाय बने रहना चाहते हैं और न इस सम्बन्ध के लिए हिन्दू जातिप्रथा मानना आवश्यक है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डा. बी. आर. अम्बेडकर ने हिन्दू जाति प्रथा से मुक्त होने के लिए अपनी दलित जाति के अनुयायियों के साथ हिन्दू धर्म को तिलांजली दी फिर भी उन्होंने अन्य किसी धर्म के स्थान में बौद्ध धर्म को इसीलिये स्वीकार किया कि वे ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से हिन्दुओं से अलग नहीं होना चाहते थे। दूसरे शब्दों में बौद्ध, जैन और सिखों के समान आर्यसमाज भी हिन्दुओं के साथ सम्बन्ध बनाये रखकर भी अपना पृथक् धार्मिक अस्तित्व बनाये रख सकता है और ऐसा करने के लिये उसे हिन्दू समाज से पृथक् होने की आवश्यकता नहीं है, बशर्ते कि वह हिन्दू जाति प्रथा का शिकार होने से अपने आपको बचाने में असफल न रहे और यह न भूले कि सामाजिक सुधार करना केवल उसका मूल उद्देश्य नहीं था। उसका मुख्य लक्ष्य उन धार्मिक सिद्धान्तों और मान्यताओं का प्रचार है जिसके लिए उसकी स्थापना की गई है और जो वर्तमान हिन्दू धर्म की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न है।

जैसा हम देख चुके हैं कि ब्रिटिश काल में हिन्दू विरोधी परिस्थिति की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हिन्दुओं को संगठित करने और साम्प्रदायिक चुनावों में उनकी संख्या कम होने से रोकने के लिये हिन्दू एकता का आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था अतः आर्यसमाज जो, सदा हिन्दुओं का रक्षक और समर्थक रहा है, उसे भी इस बात के लिये राजी किया गया कि वह हिन्दुओं की एकता बनाये रखने के इस कार्य में सहयोग दे। आर्यसमाज के कुछ प्रसिद्ध नेता जिनमें भाई परमानन्द प्रमुख थे हिन्दू सभा के इस आन्दोलन का नेतृत्व तक करने के लिए आगे आये। भाई जी ने हिन्दुओं के साथ आर्यसमाज के सम्बन्ध पर और अधिक जोर देना प्रारम्भ किया किन्तु उन्होंने भी यह नहीं कहा कि आर्य समाज हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय है। वे ऐसा कह भी नहीं सकते थे। स्वयं आर्यसमाज के क्षेत्र को छोड़कर उन्होंने जब कि हिन्दू संगठन को अपना नवीन धर्म तक कहना प्रारम्भ किया तब भी उन्होंने अपनी पुस्तक 'आर्य समाज और कांग्रेस' (विरजानन्द प्रैस लाहौर 1925) में यह सत्य स्वीकार किया कि—यदि हम स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के आधार पर निष्कर्ष निकालें तो निःसंदेह यह प्रतीत होता है कि आर्यसमाज एक नवीन धर्म है,—वे

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आगे यहाँ तक लिखते हैं कि आर्यसमाज में ऐसे लोगों का आज भी बहुमत है जो यह कहने में अपना अपमान अनुभव करते हैं कि वे हिन्दू हैं।

लाला लाजपतराय और आर्यसमाज

स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने भी अपने अन्तिम दिनों में काँग्रेस से निराश होकर हिन्दू संगठन का नेतृत्व ग्रहण किया। देश के राजनैतिक इतिहास में भी एक अखिल भारतीय नेता के रूप में उनका बड़ा ऊंचा स्थान था। इस दृष्टि से भी आर्यसमाज का हिन्दू धर्म से क्या सम्बन्ध है इस बारे में उनके विचारों का बड़ा महत्व है, विशेषकर इसलिए भी कि कुछ लोगों को इस सम्बन्ध में बड़ा भ्रम है। लालाजी आर्यसमाज के भी प्रसिद्ध और सक्रिय नेता रहे हैं और डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर की स्थापना में उनका प्रमुख योगदान रहा है। अंग्रेजों की हिन्दू विरोधी और मुसलमानपरस्त नीति के कारण आर्यसमाज ने हिन्दू संगठन का जो समर्थन किया उसमें उनकी भी प्रेरणा रही है। फिर भी वे यह नहीं चाहते थे कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म में विलीन होकर अपना पृथक् अस्तित्व समाप्त कर दे। अपनी प्रसिद्ध अंग्रेजी की पुस्तक—दी आर्यसमाज—में उन्होंने इस सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किये हैं वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। वे लिखते हैं—"आर्यसमाज की इससे ऊंची और अच्छी महत्वाकांक्षा दूसरी नहीं हो सकती कि हिन्दू धर्म उसकी समस्त मान्यताओं और शिक्षाओं को या कम से कम उसकी भावनाओं को अपना ले, क्योंकि हिन्दू धर्म का भविष्य आर्यसमाज पर निर्भर है। यद्यपि हिन्दू धर्म के साथ मित्रता से आर्यसमाज की शक्ति बढ़ती है किन्तु इसमें खतरा भी है और वह यह कि इस अति निकटता के कारण आर्यसमाज के सुधार आन्दोलन में शिथिलता आ सकती है। **हम कभी यह पसंद नहीं कर सकते कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म के विशाल समुद्र में लुप्त हो जाय** यद्यपि हम यह अवश्य चाहते हैं कि सबसे पहले हिन्दुओं के लिये और बाद में बाकी संसार के लिये आर्यसमाज का अस्तित्व बना रहे। किन्तु हमें इस बात पर खेद होगा कि उसका हिन्दुइज्म या अन्य किसी 'इज्म' में विलय हो

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जाय। आर्यसमाज की स्वतन्त्रता ही उसके अस्तित्व और उपयोगिता का आधार है।" आगे लाजपतराजी एक उदाहरण देकर अपनी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे वकील मव्वक्किल से पृथक् रहकर ही उसका बचाव या रक्षा कर सकता है वैसे ही आर्यसमाज हिन्दू धर्म से अलग रहकर ही उसकी रक्षा कर सकता है।

धार्मिक दृष्टि से आर्यसमाज के पृथक् अस्तित्व को बनाये रख कर हिन्दू समाज से उसकी एकात्मता का इससे अच्छा विवेचन और औचित्य दूसरा नहीं दिया जा सकता और जैसा लाला लाजपतरायजी ने कहा है कि इस निकटता के उपरान्त भी आर्यसमाज की यह आशा और महत्वाकांक्षा बनी रहेगी कि वह समस्त हिन्दुओं को तथा अन्यों को भी अपनी धार्मिक मान्यताओं का अनुयायी बना ले और यह तभी सम्भव है कि जब आर्यसमाज हिन्दू धर्म से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रख सके। दूसरी ओर यह एक विकृत तर्क होगा कि चूंकि आर्यसमाज का उद्देश्य वर्तमान हिन्दू धर्म का स्थान ग्रहण करना है या उसे सुधारना है इसलिये वह स्वयं भी हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय बन जाय। इसका तो अर्थ यह होगा कि हिन्दू धर्म में परिवर्तन या सुधार करने के स्थान में स्वयं आर्यसमाज अपने को बदल डाले और हिन्दू धर्म में परिवर्तित हो जाय अर्थात् इस प्रकार उसमें विलीन होकर अपना अस्तित्व खो बैठे जैसा हैस्टिंग्ज ने आशंका व्यक्त की थी। ऋषि दयानन्द के अनुसार वर्तमान हिन्दू धर्म प्राचीन वैदिक धर्म का विकृत संस्करण है किन्तु अनेक प्रसिद्ध और प्रबुद्ध हिन्दू नेता जिनमें से महात्मा गाँधी भी एक हैं, मूर्तिपूजा आदि को विकृति नहीं समझते और पुराणों को भी धर्मशास्त्र मानते हैं।

आर्यसमाज और जनगणना

ऋषि दयानन्द ने केवल अपने अनुयायियों के लिये हिन्दू शब्द के उपयोग का निषेध ही नहीं किया बल्कि उन्हें यह आदेश भी दिया कि सरकारी जनगणना में वे अपने को आर्य लिखायें और धर्म के कालम या प्रविष्टि में अपना धर्म वैदिक लिखावें। जैसा मुलतान आर्य समाज के मन्त्री

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लिखे उनके सन् 1880 के पत्र से स्पष्ट है। परिणामस्वरूप सन् 1881 से सन् 1921 तक की दस वर्षीय सारी जनगणनाओं में आर्यों की गिनती पृथक् ही दिखायी गयी है। मुझे उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान में अजमेर और जोधपुर की सन् 1911 तथा 1921 की जनगणनाओं की जो रिपोर्ट उपलब्ध हुई उनको मैं यहां तालिका के रूप में दे रहा हूँ जिससे यह बात स्पष्ट होगी। जनगणना सम्बन्धी इसी आधार पर भारत के अन्य स्थानों में भी आर्यों की गिनती पृथक् की गई है। इन तालिकाओं को देखने से यह स्पष्ट है कि आर्यों की गिनती मुख्य शीर्षक हिन्दू में केवल इसलिए की गई है कि व्यापक अर्थ में इस शब्द का उपयोग धर्मपरक नहीं है। स्वयं जनगणना की रिपोर्ट के आधार पर भी यही निष्कर्ष निकलता है। आर्यों को ब्राह्मणिक धर्म अर्थात् सनातनी पौराणिक धर्म से भी पृथक् दिखाया है। जिसका इन प्रान्तों में बहुत बड़ा बहुमत है जब कि आर्य अल्पमत में दिखाये गये हैं। इसी प्रकार हिन्दू, आर्य, जैन, सिख और बौद्ध इन्डो आर्यन रिलिजन अर्थात् भारतीय आर्य धर्म के अन्तर्गत दिखाये गये हैं।

उत्तरदेप्रश की सन् 1921 की जनगणना की रिपोर्ट के भाग 4 में धर्म सम्बन्धी विवेचन किया गया है। उसके पृष्ठ 53-54 पर यह स्वीकार किया गया है कि जनगणना अधिकारियों ने हिन्दू की व्याख्या करने का प्रयत्न किया किन्तु अन्त में उन्हें स्वीकार करना पड़ा कि हिन्दुज्म और हिन्दू धर्म कोई संगठित धर्म नहीं है। वह केवल एक सामाजिक व्यवस्था है इसी स्थान पर एक और महत्वपूर्ण बात लिखी गई है वह यह कि हिन्दुओं की अपेक्षाकृत बड़ी संख्या में कमी का कारण यह है कि उनमें से बड़ी संख्या में लोगों ने ईसाई और आर्यसमाज में धर्मान्तरण कर लिया है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि जनगणना अधिकारी आर्यसमाज को ईसाई मत के समान हिन्दू धर्म से पृथक् और भिन्न स्वीकार करते हैं। ये अधिकारी यह स्वीकार करते हैं कि इन दो समुदायों अर्थात् ईसाई और आर्यसमाज में जो वृद्धि हुई है वह हिन्दुओं की संख्या में आई कमी के कारण हुई है। (देखें इसी रिपोर्ट का पृष्ठ 58)। जनगणना में ब्राह्मणिक धर्म का इसीलिए केवल सनातनी या पौराणिक हिन्दू धर्म के अर्थ में उपयोग किया गया है जैसा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

उनकी विशाल संख्या से स्पष्ट है किन्तु इसमें आर्यों को शामिल नहीं किया गया है। सन् 1911 की जनगणना रिपोर्ट में भी भारतीय धर्मों के सम्बन्ध में निम्नलिखित मान्यता व्यक्त की गई है अर्थात्—"हिन्दुइज्म तथा उससे सम्बन्धित आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, जैन और सिख इन सब को इन्डो आर्यन अर्थात् भारतीय आर्य के एक शीर्षक के अन्तर्गत गिना गया है किन्तु हिन्दू ब्राह्मणिक का उपयोग उन हिन्दुओं के लिये किया गया है जो हिन्दू धर्म के अधिक निकट अर्थ में आते हैं।" इससे भी स्पष्ट होगा कि आर्यसमाज को जैन, सिख आदि के श्रेणी में रखकर हिन्दू धर्म की सीमित व्याख्या के अन्तर्गत हिन्दू नहीं माना गया है। सन् 1921 की उत्तरप्रदेश आगरा, और अवध की जनगणना की रिपोर्ट के खण्ड 16 भाग एक में भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों की जो तुलनात्मक तालिका दी गई है वह इस प्रकार है :-

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका

धर्म	संख्या 1921	1911
1. इन्डो आर्यन (रिलीजन)		
(1) हिन्दू		
(अ) ब्राह्मणिक	39,29,926	40,705,353
(ब) आर्य	205,570	131,638
(स) ब्रह्मो	188	41
(2) जैन	68,111	75,735
(3) सिख	14,266	75,735
(4) बौद्ध	488	780
2. मुस्लिम	6,724,967	6,905,731
3. ईसाई	203,179	179,679
4. पारसी	925	872
5. ज्यू	41	50
6. अन्य	12	—

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस रिपोर्ट के पृष्ठ 54 पर लिखा है कि "यह स्पष्ट है कि हिन्दुइज्म कोई एक धर्म नहीं अपितु उसे एक सामाजिक व्यवस्था स्वीकार किया गया है और यह वस्तुस्थिति भी है। क्योंकि यदि विवाद में पड़े बिना मैं सही बात कहने का साहस करूं तो हिन्दूइज्म वास्तव में एक सामाजिक व्यवस्था ही है।'

सन् 1911 की जनगणना की तुलना में 1921 में तत्कालीन अजमेर मेरवाड़ा के निवासियों में जो धर्म परिवर्तन हुआ है वह संलग्न तालिका में दिया गया है। वह इस बात का प्रमाण है कि किस प्रकार अपने प्रारम्भिक काल में आर्यों की संख्या बहुत तीव्र गति से बढ़ती गई। उसके अनुसार सारे राजपूताने में आर्यों की संख्या में 75.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। अर्थात् जहाँ 1911 में दो हजार से कम आर्य थे वहाँ वे दस वर्षों में अर्थात् सन् 1921 में तीन लाख से ऊपर हो गये। इसी प्रकार अजमेर मेरवाड़ा में उनकी सन् 1911 में 884 संख्या थी वह लगभग दुगनी होकर सन् 1921 में पन्द्रह सौ से ऊपर पहुंच गई।

खतरे की घण्टी

सन् 1971[1] और 1981[2] की जनगणना में भी आर्यसमाज के अनुयायियों ने अपने आप को हिन्दू शीर्षक के अन्तर्गत आर्य, आर्यसमाजी तथा वैदिक धर्म के अनुयायी दिखाया है। इन दोनों दशकों की जनगणना में आर्यसमाज के अनुयायिओं की संख्या का विवरण आर्यजगत् को चौंका देने वाला है।

उसके विस्तार में न जाकर हम यहाँ केवल इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि यदि समय रहते सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा नई दिल्ली तथा आर्यसमाज के अन्य शीर्षस्थ नेताओं ने इस पुस्तक में दी गई चेतावनी की तरफ ध्यान नहीं दिया तो वह समय दूर नहीं है जब आर्यसमाज सम्पूर्ण रूप से धर्म में विलीन होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व खो बैठेगा।

---

1. देखें "Census of India 1971" Series 1
2. देखें "Census of India 188 1" Series 1

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तालिका

	राजपूताना प्रतिशत मे अन्तर			अजमेर मेरवाड़ा प्रतिशत में अन्तर		
1. इन्डो आर्यन	1921	1911	1011-21	1921	1911	1911-21
(अ) ब्राह्मणिक	8,166,501	8,752,045	−6 7	362,832	388,532	−6 6
(ब) आर्य	3,143	1,792	+75 5	1,5?9	884	+90 5
(स) ब्राह्मो	22	82	−73 2	-	-	-
2 जैन	279,722	332,379	−15 8	18,422	20,302	−9 3
3 सिख	8,703	8,958	−2 8	219	922	−76 2
4 बौद्ध	—	—		1	—	—
2. ईराणी पारसी	336	342	−1 8	211	262	−19 5
3. सैमिटिक						
(अ) मुसलमान	900,341	985,825	−8 7	101,776	81,035	23 6
(ब) ईसाई	4,911	4,256	+15 4	5,531	5,432	1 8
(स) ज्यू	26	31	−16 1	35	27	−7 4
4. प्रीमैटिव एनिमिस्टक	480,679	444,702	8 1	4,736	3,979	19 0
5. अन्य	—	—	—	9	—	— —

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज द्वारा आपत्ति

स्वर्गीय लाला लाजपत राय जी ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक–दी आर्यसमाज–में तत्कालीन मुख्य जनगणना अधिकारी मिस्टर ब्लन्ट आई. सी. एस. का जो कथन प्रकाशित किया है उससे यह स्पष्ट होगा कि आर्य समाजियों की इस आपत्ति के बावजूद भी कि 'वे हिन्दू धर्म के सम्प्रदाय नहीं है फिर भी उन्हें हिन्दू शीर्षक के अन्तर्गत क्यों गिना गया ? श्री ब्लन्ट महोदय कहते हैं कि "निःसन्देह आर्य अपने धर्म को (हिन्दू धर्म का) सम्प्रदाय नहीं मानते किन्तु जो लोग हिन्दू कहे जाते हैं उनकी सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के कारण उन्हें सर्वत्र हिन्दू शब्द से सम्बोधित किया गया है। ऐसी स्थिति में आर्यों को उनका एक अंग मानने के अतिरिक्त कोई और मार्ग नहीं था।"

इस उद्धरण से भी स्पष्ट है कि आर्यसमाजियों की जनगणना में हिन्दुओं में गिनती होने का अर्थ यह नहीं है कि उनका धर्म भी हिन्दू है। हिन्दू शब्द के व्यापक और अस्पष्ट अर्थ के कारण ही उनकी हिन्दुओं में गिनती की गई, उनके इस आक्षेप के बावजूद कि वे उसके सम्प्रदाय या अंग नहीं हैं। चाहे जो हो अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि हिन्दू शब्द केवल एक सामाजिक व्यवस्था के प्रतीक के रूप में ही स्वीकार किया जाता है। वस्तुतः जैसा 1921 की जनगणना की रिपोर्ट में कहा गया है उसकी यह व्याख्या नई नहीं है। इसलिए कुछ लोग सामाजिक और ऐतिहासिक अर्थ में हिन्दू होने पर भी वे हिन्दू धर्म के भी अनुयायी हों यह आवश्यक नहीं है। जनगणना के धर्म के कोष्ठ में आर्यों की गिनती हिन्दू के ब्राह्मणिक धर्म से पृथक् करने का यही कारण और आधार था कि धार्मिक और सामाजिक अर्थ में हिन्दू के अलग-अलग अर्थ हैं। धार्मिक अर्थ में केवल बहुसंख्यक हिन्दुओं को ही ब्राह्मणिक अर्थात् ब्राह्मणों के वर्चस्व वाला धर्म कहा गया है। बाद में आर्य समाज को भी हिन्दू शीर्षक में इसलिए रखा गया कि हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय न होने पर भी केवल व्यापक अर्थात् सामाजिक अर्थ में उनकी गिनती हिन्दुओं में की गई। यद्यपि वे अपने को हिन्दू धर्म के अनुयायी नहीं मानते थे जैसा कि ब्लन्ट ने स्पष्ट किया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1971 की जनगणना

1971 की जनगणना में भी आर्यसमाजियों को आर्य तथा उनके धर्म के शीर्षक में 'वैदिक धर्म' लिखा गया है। इस जनगणना के भाग 2 सी के पृष्ठ 110 पर सामाजिक और सांस्कृतिक जानकारी सम्बन्धी आँकड़े दिये गये हैं। उनमें हिन्दू धर्म के सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य धर्मों के साथ आर्यों का भी उल्लेख है। गत जनगणनाओं के अनुसार इस बार भी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली ने आर्यसमाजियों को सन् 1981 की जनगणना में अपने को आर्य तथा धर्म प्रविष्टि में वैदिक धर्म लिखाने का आदेश दिया था।

सिख और आर्यसमाज

सिखों की गिनती हिन्दू धर्म से पृथक् जिस किसी भी आधार पर की जाती हो, आर्यसमाज को उसमें पृथक् मानने का आधार सिखों से कहीं अधिक तर्कसंगत और वास्तविक है।

गुरुनानक

जैसा सर्वविदित है कि गुरुनानक सिख धर्म के संस्थापक समझे जाते हैं किन्तु यह भी उतना ही स्पष्ट है कि उन्होंने सिख धर्म को हिन्दू धर्म से पृथक् नहीं माना। आजकल भी गुरुनानक के बहुत से अनुयायी गुरुग्रन्थ साहब की पूजा करते हैं। किन्तु फिर भी वे अपने आपको धार्मिक दृष्टि से सिख न कहकर हिन्दू कहते हैं जिसका उदाहरण सिन्धी हिन्दू हैं। ब्रिटिश राज्य में सिखों को गिनती हिन्दू धर्म के अन्दर ही की जाती थी और आज भी हिन्दू कोड बिल तथा हमारे संविधान की धारा-25 में उनको हिन्दू माना गया है? इस धारा के नीचे जो स्पष्टीकरण दिया गया है उसमें लिखा गया है कि धारा-2 की उपधारा-बी में जहां हिन्दुओं का उल्लेख है वहां सिख, जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी भी इसमें सम्मिलित समझे जायेंगे और जहां हिन्दू धार्मिक संस्थाओं का उल्लेख है उसमें भी यही अर्थ लिया जावेगा। किन्तु संविधान की इस धारा में हिन्दू धर्म के संदर्भ में आर्यसमाजियों को सम्मिलित नहीं किया गया

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

है अर्थात् हिन्दू धर्म में आर्यसमाजी, सिख, जैन और बौद्धों के साथ उनकी गिनती नहीं की गई है और न आर्य समाज के मन्दिर हिन्दू धर्म मन्दिर या संस्था माने गये ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ साहब

नीचे हम सर गोकुलचन्द नारंग की प्रसिद्ध पुस्तक "दी ग्लोरियस हिस्ट्री ऑफ सिखिज्म" (अर्थात् सिखों का शानदार इतिहास) से कुछ उदाहरण देते हैं जिससे सिखों का हिन्दू धर्म से निकट सम्बन्ध स्पष्ट हो सकेगा ।

पृष्ठ 154 पर श्री नारंग लिखते हैं कि गुरु नानक पहले ऐसे सुधारक थे जिन्होंने हिन्दुओं को पौराणिकता की बेड़ियों से मुक्त कराया । गुरु गोविन्दसिंह के शिष्य और प्रसिद्ध शहीद बन्दा वैरागी यद्यपि सिख इतिहास के एक विवादास्पद व्यक्ति रहे हैं, किन्तु उन्होंने गुरु गोविन्द सिंह द्वारा प्रसारित सिखों के केश आदि चिन्हों पर बल नहीं दिया । वह अपने आपको वैष्णव कहते थे और माँसाहार का उन्होंने निषेध कर दिया था । यहां तक कि "वाह गुरुजी का खालसा" के स्थान में उन्होंने—'फतेह धर्म' नामक दूसरा नारा भी प्रचलित किया । गुरुग्रन्थ साहब किसी विशिष्ट धार्मिक दर्शन के आधार पर स्वतन्त्र रूप से निर्मित ग्रन्थ नहीं है जैसा सत्यार्थप्रकाश है । क्योंकि ग्रन्थ साहब में 36 सन्तों की वाणियाँ और विचार संग्रहित किये गये हैं जिनमें कबीर, जयदेव, सूरदास, रामानन्द और दूसरे अन्य कई हिन्दू सत सम्मिलित हैं । इस प्रकार ग्रन्थ साहब में लगभग 70 प्रतिशत ऐसे सन्तों के विचार और उपदेश हैं जो जन्म और धर्म दोनों से हिन्दू थे । श्री नारंग पृष्ठ 267 पर लिखते हैं कि ग्रन्थ साहब का संकलन पांचवें गुरु अर्जुन देव ने किया और उसका अधिकांश भाग या तो शुद्ध हिन्दी में लिखा गया या उसके अपभ्रंश गुरुमुखी में जिसे सिख अब अपनी धार्मिक भाषा कहते हैं । गुरू ग्रन्थ साहब का सारा आधार हिन्दू है । उसके उदाहरण, कथायें और मुहावरे उपनिषद् और वेदों से लिये गये हैं और उनमें पुराणों में उल्लिखित मान्यताएँ हैं । ईश्वर के अधिकांश नाम

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
वही हैं जिनका उपयोग हिन्दू करते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं अल्लाह और खुदा यह नाम भी है। अनेक संतों के उपदेशों का सग्रह होने के कारण वह किसी एक धार्मिक दर्शन पर आधारित ग्रन्थ नहीं है।

दशम ग्रन्थ

सिखों का दूसरा धर्मग्रन्थ दसवें गुरु का दशम ग्रन्थ है। इसका अधिकांश भाग भी हिन्दू कवियों ने लिखा है जो गुरुजी की सेवा में थे। किन्तु सिख इस ग्रंथ का वह आदर नहीं करते जो आदि ग्रन्थ का करते हैं। फिर भी उसमें गुरु गोविन्द सिंह के विचारों और कार्यों में हिन्दू धर्म दर्शन और गाथाओं का स्पष्ट परिचय मिलता है। सिखों की प्रातःकालीन प्रार्थना —जप जी तथा स्वयं गुरु गोविन्द सिंह द्वारा लिखित विचित्र नाटक और उनके महान् कार्य भी इसी दशम ग्रन्थ के अंग हैं। इसी में चण्डी चरित्र शामिल है जिसके बारे में कहा जा सकता है स्वयं गुरु गोविन्द सिंह ने लिखा है। चण्डी हिन्दुओं की देवी है और दुर्गा और काली भी उसी के अवतार हैं। इस पुस्तक का एक भाग ज्ञान-प्रबोध महाभारत से लिया गया है। जिसमें ईश्वर की स्तुति हिन्दू उदाहरणों पर आधारित है। इसमें शिव के 24 अवतारों का भी वर्णन है।

इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं

सर नारंग महोदय ने अपनी पुस्तक के परिशिष्ट-2 में अनेक उदाहरण देकर मिस्टर कनिंघम द्वारा प्रसारित इस धारणा को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सिखिज्म हिन्दू धर्म और इस्लाम का मिश्रण है। श्री नारंग के अनुसार सच्चाई इसके बिल्कुल विपरीत है और वास्तव में सिख धर्म इस्लाम के विरुद्ध हिन्दू प्रतिक्रिया का परिणाम है। विद्वान् लेखक ने सिख धर्म की पुस्तकों में तथाकथित इस्लामी तत्वों के बारे में विवेचन किया है। पृष्ठ 276 तथा 282 पर डॉक्टर ट्रम्प की इस बात को उद्धृत किया है कि गुरु नानक सब दृष्टि से हिन्दू थे और यह कहना गलत है कि उन्होंने हिन्दू और इस्लाम के ईश्वर को एक करने का प्रयत्न किया। जहाँ तक मूर्ति पूजा के निषेध का प्रश्न है, वह भी इस्लाम के प्रभाव का परिणाम नहीं है

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपितु प्राचीन वैदिक धर्म की मान्यता पर आधारित है। आर्यसमाज की भी यह मान्यता है कि वेदों में मूर्तिपूजा का प्रतिपादन नहीं किया गया है। यही बात जातिप्रथा के सम्बन्ध में भी सही है जिसका भगवान् बुद्ध ने बहुत पहले ही निषेध किया। जैसा सर्वविदित है कि दूसरे हिन्दुओं के समान सिख भी जातिप्रथा का त्याग नहीं कर सके। उनमें भी जातियाँ और यहां तक कि अछूत तक हैं जिन्हें मजहवी सिख कहा जाता है। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि सिख धर्म पर इस्लाम का कोई प्रभाव नहीं है। यद्यपि इस्लाम के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण उसका प्रादुर्भाव हुआ है। इस प्रकार सिख हिन्दू धर्म सुधार के आन्दोलनों में से ही एक है और परिणामस्वरूप उसमें हिन्दू धर्म के सब आवश्यक लक्षण हैं।"

सिख और वेद

यह कहा जाता है कि वेदों को मानने वाले सब हिन्दू हैं इस पहचान के आधार पर भी सिख हिन्दू धर्म का अंग हैं। सर नारंग ने अपनी बात के समर्थन में गुरुग्रन्थ साहब तथा अन्य सिख धर्म ग्रन्थों से कुछ उदाहरण दिये हैं अर्थात्—

1. ओंकार वेद निर्माया अर्थात् वेदों को ईश्वर ने बनाया है। (राग रामकली महला एक शब्द एक।)
2. हरि आज्ञा हुए वेद पाप पुण्य विचारिया अर्थात् ईश्वर की आज्ञा से वेद बने जिससे मनुष्य पाप और पुण्य के बीच में अन्तर कर सके। मरूद खाने महला-5।
3. ओंकार उत्पत्ति चार वेद चार खानी-अर्थात् ईश्वर चार ने वेद बनाये जो ज्ञान की चार खाने हैं (राग मौर महला पांच शब्द-17)।
4. दीवा तले अन्धेरा जाय वेद पाप मत पापे खाये उगवे सुरत जाय चढाये। जन ज्ञान प्रकास अज्ञान मिटाये। अर्थात् वेद के ज्ञान से अज्ञान दूर होता है। उनके पढने से बुद्धि शुद्ध होती है और पाप नाश होते हैं। (वसंत अस्टपादियां महला 3)

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

5. असंख्य ग्रन्थ मुखी वेद पाठ अर्थात् यद्यपि असंख्य ग्रन्थ हैं किन्तु उनमें से वेदों का पाठ मुख्य है। (जपजी 17)।

6. सन्त कबीर के हवाले से गुरु ग्रन्थ साहब में लिखा है "कि वेद केवल कहूँ मत झूठे झूठे जो न विचारे" (वेदों को झूठा मत कहो झुठे वे हैं जो उन्हें नहीं समझते हैं) (राग प्रभाती कबीर शब्द 3)।

7. दशम गुरु ग्रन्थ साहब में वेदों की प्रशंसा भरी पड़ी है। उसके चौथे अध्याय में गुरु गोविन्द सिंह द्वारा रचित विचित्र नाटक में लिखा है कि "जिन्हें वेद पाठाओ सौ वेदी कहाई तीने धर्म को कर्म नीके चलाये।" अर्थात् वेद पाठ करने वाला वेदी कहलाता है जो अपने धर्म और शुभकर्म का प्रसार किया। (यहां यह स्मरण रखने की बात है कि गुरु नानक भी वेदी या वेदी थे।) एक दूसरे दोहे में गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं "सभी वेदपाठी चले मद्र देश, प्रणाम कियो उनको कई नरेश"। अर्थात् जब वेदों के अनेक विद्वान् मद्र देश पहुँचे तो कई नरेशों ने उनको प्रणाम किया।

उपरोक्त उद्धारणों से जाहिर है कि यह कहना सही नहीं है कि सिख गुरु और उनकी धर्म पुस्तकों ने वेद को ईश्वरीय पुस्तक नहीं समझा।

न्यायमूर्ति गजेन्द्रगड़कर का निर्णय

सन् 1966 में एक प्रसिद्ध निर्णय में भारत के उच्चतम न्यायालय के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री गजेन्द्रगडकर ने गुरु नानक को बुद्ध, महावीर, और दयानन्द के समकक्ष एक सन्त और हिन्दू धर्म सुधारक बताते हुये सिख पन्थ को हिन्दू धर्म का एक अंग माना है। 1950 में भारत के संविधान के निर्माण के समय जब कुछ सिखों की ओर से विशेष अधिकारों की मांग की गई तो सरदार पटेल ने उन्हें हिन्दू समाज का ही एक अंग बताकर उनकी पृथक्ता की मांग अस्वीकार की थी। सिख लेखक खुशवन्त सिंह ने—दी सिख एण्ड देअर लिट्रेचर-नामक पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि —सिखों के सामने प्रारम्भ से ही अपने अस्तित्व और पृथक् समुदाय की समस्या महत्वपूर्ण रही है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकांश सिख पहले हिन्दू ही थे और उन पर हिन्दू कानून लागू होता था। वे हिन्दुओं में अपने विवाह करते थे और हिन्दू त्यौहार और उत्सव मनाते थे और जब उन्होंने खालसा परम्परा के बाहरी चिह्न अर्थात् केश और दाढी का भी त्याग कर दिया तो वह वास्तव में सिख पन्थ को मानने वाले हिन्दू बन गये —दूसरे शब्दों में श्री खुशवंत सिंह के अनुसार एक व्यक्ति सिख धर्म में विश्वास करके भी हिन्दू बना रह सकता है। पांचवें गुरु श्री अर्जुन देव की इस बात का जिक्र करते हुए कि—हम न हिन्दू हैं और न मुसलमान सरदार खुशवन्त सिंह कहते है कि सम्भवतः ये गुरु यह बात भूल गये कि हिन्दू धर्म में धार्मिक भिन्नताओं को अपने में हजम करने की कितनी क्षमता है। हिन्दू, सिख धर्म को भी अपने ही धर्म का एक सैनिक अंग मानते हैं। गुरु गोविन्द सिंह ने सिखों को पृथक् स्वरूप देने के लिये केश आदि कुछ चिन्ह निर्धारित किये थे किन्तु गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिखों का नेतृत्व एक हिन्दू बैरागी बन्दा सिंह बहादुर के हाथ में आ गया और जब पंजाब में सिखों का वर्चस्व हुआ उस समय तक सिखों के शासक वर्ग के विचार पूरी तरह से बदल गये थे। उन्होंने जनेऊ पहनना प्रारम्भ कर दिया था। उनके विवाह वेद मन्त्रों के द्वारा होने लगे और वे हरिद्वार तथा बनारस की तीर्थ यात्रा करने लगे। यहां तक कि उन्होंने अपनी विधवाओं को सती होने के लिये विवश किया महाराजा रणजीतसिंह स्वयं हिन्दू अन्धविश्वास के शिकार और ब्राह्मणों से प्रभावित थे उनके राज्य काल में सिखों की यही स्थिति देखने को मिलती है। किन्तु 1849 में सिख राज्य के पतन के बाद अनेक लोग यह अनुभव करने लगे कि सिख धर्म अपना जीवन काल पूरा कर चुका है और अब वह हिन्दू धर्म के इतिहास का एक अध्याय मात्र बनकर रह जायेगा।"

अंग्रेजों द्वारा पृथक्करण

यह स्पष्ट है कि सिखों को हिन्दुओं से पृथक् उनके धर्म ने नहीं बल्कि अंग्रेजी राजनीति ने किया जैसा श्री खुशवन्तसिंह ने लिखा है। वे लिखते हैं, "पंजाब को अंग्रेजी राज्य में मिलाने वाले गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी की यह मान्यता थी कि कुछ ही वर्षों में सिखों का पृथक अस्तित्व समाप्त हो

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जायगा। वस्तुतः यदि किसी को सिखों के पूर्णरूप से हिन्दू धर्म में विलीन होने से रोकने के लिए जिम्मेदार कहा जा सकता है तो वह व्यक्ति लार्ड डलहौजी था। उसने खालसा परम्परा के अनुसार सिख सिपाहियों के लिये लम्बे बाल और दाढ़ी रखना अनिवार्य कर दिया। फौज की हर टुकड़ी में एक ग्रन्थी रखा गया जो सिख धर्म पुस्तक का पाठ करता था। इन सिपाहियों के लिए गुरुद्वारे में जाना भी जरूरी कर दिया गया। सरकार के इन प्रयत्नों का पढ़े-लिखे सिखों ने स्वागत किया। गुरुमुखी जो केवल सिखों की धार्मिक लिपि समझी जाती थी उसमें साहित्य प्रकाशित करके सिख गुरुओं की शिक्षाओं और खालसा की वीरताओं का प्रसार होने लगा। जन्म, विवाह और मृत्यु के अवसरों के लिए अलग संस्कार स्थापित किये गये और हम हिन्दू नहीं हैं यह नारा लगाया जाने लगा—उपरोक्त विवरण से जाहिर है कि जब तक राजनीतिक कारणों से सिख पृथक् नहीं हुये थे तब तक वे भी अपने आप को हिन्दू धर्म का एक अंग या सम्प्रदाय मानते थे और हिन्दू धर्म के रक्षक समझे जाते थे। गुरु तेग बहादुर ने सूर्य प्रकाश में कहा है कि उन्हें अर्थात् मुसलमानों को यह उत्तर दो कि हम हिन्दू हैं"—आगे वे कहते हैं कि मैं इससे इंकार कैसे कर सकता हूँ जो मुझे इतना प्रिय हैं। गुरू गोविन्द सिंहजी द्वारा रचित विचित्र नाटक में वे कहते हैं—"सकल जगत् में खालसा पन्थ गाजे जगे धर्म हिन्दू सकल भंड भागे"—अर्थात् हिन्दू धर्म का उत्कर्ष करने सब प्रकार के पाखंडों को नष्ट करने के लिए खालसा पन्थ का जन्म हुआ है।

मैंने ऊपर जो उदाहरण देकर यह बताने का प्रयत्न किया है कि सिख पंथ भी कभी हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय था, उसका उद्देश्य यह नहीं है कि सिखों को एक धार्मिक अल्पमत न समझा जाय बल्कि मेरा उद्देश्य केवल यह बताना है कि आर्यसमाज ने सिखों के समान कभी अपने आपको हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय स्वीकार नहीं किया न आर्यसमाज ने कभी हिन्दू धार्मिक विश्वास और रीति-रिवाजों को ही स्वीकार किया जैसा स्वयं श्री खुशवन्तसिंह जैसे सिख इतिहासवेत्ता के अनुसार सिखों ने किया। आर्य समाज का हिन्दू धर्म से जो निकटस्थ सम्बन्ध रहा वह उनके कुछ अनुयायियों
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा अपने लिए आर्य के स्थान में हिन्दू नाम स्वीकार करने तक ही सीमित था और यह भी आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के स्पष्ट आदेशों का उल्लंघन था। चाहे जो हो उनके अनुयायी यदि आज अपने को हिन्दू कहते हैं तो भी वह धार्मिक अर्थ में नहीं समझना चाहिए। जैसा हम पहले बता चुके हैं कि किसी धर्म की वास्तविक पहचान उसके सिद्धान्तों, विश्वास और संस्कारों आदि से ही की जा सकती है राजनैतिक या अन्य कारणों से नहीं। जैसा पंजाब में सिखों के सम्बन्ध में लार्ड डलहौजी के समय में हुआ या जैसा सरदार पटेल ने स्वतन्त्र भारत की संविधान निर्मात्री सभा में कहा था कि पंजाब में मजहवी तथा सिकलीगर आदि सिखों को अनुसूचित जाति के अधिकार केवल पंजाब में सिखों के राजनीतिक महत्व को ध्यान में रखकर ही स्वीकार किये गये हैं। संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य वी. शिवराव ने लिखा है कि—सरदार पटेल ने संविधान सभा को इन अनुसूचित जातियों को विशेष सुविधाऐं देने की सिफारिश इसलिए की थी कि उनका यह एक राजनीतिक निर्णय था जिसे सिखों की सद्भावना प्राप्त करने के लिए लिया गया था। दूसरी ओर आर्यसमाज का यह दावा कि वह एक धार्मिक अल्प मत है, केवल उसके धार्मिक सिद्धान्तों और मान्यताओं के कारण है। किसी राजनैतिक आधार पर नहीं। वस्तुतः ऐसे प्रश्न का निर्णय धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही होना चाहिए न कि किसी राजनैतिक अथवा अन्य आधार पर। आर्यसमाज ने न कभी किसी विशेष या पृथक् राजनैतिक अधिकार की मांग की है, न वह करेगा क्योंकि ऋषि दयानन्द ने उसकी घुट्टी में ही देश प्रेम और देश सेवा की भावना कूट-कूट कर भर दी है जिसे वह किन्हीं राजनैतिक या अन्य लाभ के लिए बलिदान नहीं करेगा। कानूनी दृष्टि से भी आर्यसमाज को यह दावा या मांग विवश होकर इसलिए करनी पड़ी है कि हमारे संविधान में धर्म के नाम पर ईसाई और मुसलमान ही नहीं बल्कि सिख, जैन और बौद्धों तक को अपनी शिक्षण संस्थायें चलाने का जो अधिकार दिया गया है उससे आर्यसमाज को वंचित किया जा रहा है और परिणामस्वरूप उसकी संस्थाओं को अनेक कठिनाइयों और पक्षपात का सामना करना

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पड़ रहा है। दूसरे शब्दों में यह अधिकार आर्यसमाज केवल अपनी हजारों शिक्षण संस्थाओं की सर्वविदित विशेषताओं को सुरक्षित रखने मात्र के लिए मांग कर रहा है। समाज सुधार, देशप्रेम और धार्मिक क्रान्ति के क्षेत्र में इन संस्थाओं का जो गौरव पूर्ण योगदान रहा है उसके आधार पर स्वतंत्र भारत में यदि किसी को ऐसी सुविधाएँ प्राप्त करने का नैतिक और कानूनी अधिकार है तो वे आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाएँ ही हो सकती हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 11

दयानन्द और हिन्दू धर्म

दयानन्द और हिन्दू धर्म

इस पुस्तक के पूर्व अध्यायों में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि स्वामी दयानन्द ने अपने तथा अपने अनुयायियों के लिये न केवल हिन्दू शब्द का ही निषेध किया अपितु उन्होंने जोरदार शब्दों में हिन्दू धर्म की प्रायः समस्त मान्यताओं और रीति-रिवाजों को भी अस्वीकार कर दिया। उनका वास्तविक उद्देश्य वर्तमान हिन्दू धर्म, जो वास्तव में पौराणिक सनातन धर्म के नाम से परिचित है, उसे बदल कर उसके स्थान में प्राचीन और विशुद्ध वैदिक धर्म की स्थापना करना था जिसे वे शाश्वत और सार्वभौम वेदों का धर्म मानते थे।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में यह अन्तर न केवल स्पष्ट था अपितु उस पर आर्य तथा हिन्दुओं द्वारा आग्रह भी किया जाता था जैसा इस पुस्तक के 'आर्य या हिन्दू' शीर्षक अध्याय से स्पष्ट होगा। कालान्तर में अनेक परिस्थितियाँ और विशेषकर आर्यसमाज द्वारा प्रसारित समाज सुधारों की लोकप्रियता के कारण आर्यसमाज को केवल एक समाज सुधार आन्दोलन कहा जाने लगा और यहां तक कि कुछ लोगों ने उसे आक्रामक हिन्दू धर्म (Aggressive Hinduism) भी कहना शुरू कर दिया। इस शब्दार्थ में हम तत्कालीन भारतीय राजनीति और हिन्दू मुस्लिम संघर्ष जैसे अन्य कारणों का अन्यत्र संकेत कर चुके हैं। किन्तु यह बात भी सही है कि स्वयं आर्य समाज के अनेक नेता जो राज-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
नैतिक अथवा हिन्दू संगठन के क्षेत्र में चले गये उन्होंने अपने-अपने हित में आर्य समाज को हिन्दुओं का एक सुधार आन्दोलन कहना प्रारंभ कर दिया। जहां तक विदेशी परिवेक्षकों का सम्बन्ध है उनकी यह भ्रमपूर्ण धारणा स्वाभाविक थी क्योंकि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक संन्यासी द्वारा इस प्रकार के भारतीय आन्दोलन को वे हिन्दू धर्म के एक सुधार आन्दोलन के रूप में ही समझ पाते थे।

दो विचार धारायें

आर्यसमाज के सम्बन्ध में इन दो विचार धाराओं को समझने के लिये हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म से उसका क्या सम्बन्ध है यह समझना जरूरी है आर्यसमाज की वास्तविक स्थिति के बारे में कितना भ्रम प्रचलित है यह एक भारतीय तथा एक विदेशी विद्वान् की दो पुस्तकों से स्पष्ट हो सकता है। पहली पुस्तक श्री बहादुरमल द्वारा लिखित—'दयानन्द ए स्टडी इन हिन्दुइज्म' है और दूसरी आस्ट्रेलिया के प्रोफेसर श्री जे. टी. जोर्डन द्वारा रचित—'दयानन्द सरस्वती और हिज लाइफ एन्ड आइडियाज' है। यद्यपि प्रिंसिपल बहादुरमल आर्यसमाज से सम्बन्धित थे किन्तु वे अपने आप को स्वतन्त्र विचार रखने वाला व्यक्ति मानते हैं। इस दृष्टि से उनके विचारों का विवेचन इसलिये भी महत्वपूर्ण है कि आर्यसमाज के कुछ अन्य व्यक्ति भी ऐसे विचारों का समर्थन करने लगे हैं। श्री बहादुरमल के अनुसार आर्य समाज का सदस्य होने या आर्यसमाजी होने के लिये ऋषि दयानन्द के व्यक्तिगत धार्मिक सिद्धान्तों को मानना आवश्यक नहीं है, जब कि श्री जोर्डन स्वामीजी के विचारों और कार्यों के सम्बन्ध में भारत के तत्कालीन परिपेक्ष्य में विचार करते हुये यह निष्कर्ष निकालते हैं कि स्वामीजी ने 19 वीं सदी की नई विचारधारा को परम्परागत हिन्दू धर्म में समन्वित करने का प्रयत्न किया है।

बहादुरमल की सम्मति में आर्यसमाज हिन्दू धर्म का केवल एक सुधरा हुआ संस्करण है क्योंकि उसके संस्थापक भी यह नहीं कहते थे कि वे किसी नवीन धर्म की स्थापना कर रहे हैं। जहां तक श्री जोर्डन का सम्बन्ध है

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

वे इस बात से सहमत है कि स्वामी दयानन्द का वैदिक धर्म हिन्दू धर्म से
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भिन्न है किन्तु साथ ही उनका विचार है कि दयानन्द ने हिन्दू धर्म के साथ कुछ बातों में इसलिये समझौता किया कि उन्हें भय था कि कहीं उनके अनुयायी हिन्दुओं द्वारा बहिष्कृत होकर बाहरी व्यक्ति न समझे जाये। हम इन दोनों विचारधाराओं को निराधार मानते हैं। जैसा उपरोक्त दोनों विद्वानों के विचारों के समालोचनात्मक विवेचन से स्पष्ट होगा।

क्या आर्यसमाज केवल एक सुधार आन्दोलन है ?

जो लोग इस विचार के समर्थक हैं कि आर्यसमाज केवल एक हिन्दू सुधार आन्दोलन है, वे अपने पक्ष में यह तर्क देते हैं कि यदि वह हिन्दू धर्म का अंग नहीं है तो आर्यसमाज एक नवीन धर्म समझा जायेगा। यह भी कहा जाता है कि स्वामी दयानन्द ने स्वयं यह कहा था कि वे किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं करना चाहते हैं इसलिये भी आर्यसमाज व्यापक हिन्दू धर्म का ही अंग है। यदि उपरोक्त तर्क सही हो तो भी यह मानना पड़ेगा कि आर्यसमाज हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों में से एक सम्प्रदाय मात्र है चाहे उसे सुधरा हुआ सम्प्रदाय या हिन्दू धर्म का आधुनिक स्वरूप आदि किसी अन्य नाम से भले ही सम्बोधित किया जाय। उपरोक्त विचार के समर्थक यह भूल जाते हैं कि उनके द्वारा निर्देशित विकल्पों के अतिरिक्त एक अन्य विकल्प भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती अर्थात् आर्यसमाज न एक नवीन धर्म है और न हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय बल्कि वह प्राचीन वैदिक धर्म का आधुनिक संस्करण है। श्री जोर्डन के शब्दों में—"दयानन्द चाहते थे कि आर्यसमाज उस प्राचीन वैदिक धर्म का प्रचारक बने जिसे लोग अब भूल गये हैं।" इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब यह कहा जाय कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय नहीं है तो उसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वह कोई नवीन धर्म है अपितु उसका वास्तविक अर्थ यह है कि वह वर्तमान हिन्दू धर्म से भी प्राचीन है और उस वैदिक धर्म का अनुयायी है जिसे ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित किया गया है। दूसरे शब्दों में पृथक् या भिन्न होने का अर्थ नवीन या नया होना नहीं है। श्री जोर्डन ने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

जहां आर्य समाज द्वारा प्रतिपादित धर्म को हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय स्वीकार नहीं किया, वहां उन्होंने यह विचित्र बात कहकर कि दयानन्द ने हिन्दुओं की जाति प्रथा तथा अन्य सामाजिक मान्यताओं से समझौता करने का प्रयत्न किया अपने सही निष्कर्ष पर स्वयं एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू धर्म की परिभाषा

हम पिछले अध्यायों में यह देख चुके हैं कि हिन्दू धर्म की कोई भी ऐसी व्याख्या नहीं की जा सकती जिसमें आर्यसमाज सम्मिलित किया जा सके। स्वयं लोकमान्य तिलक ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि उनके द्वारा परिभाषित हिन्दू धर्म में आर्यसमाज का समावेश नहीं किया जा सकता। इसलिये हमें पहले यह देखना होगा कि श्री बहादुरमल आदि जो लेखक उसे हिन्दू धर्म का सुधरा हुआ अंग मानते हैं वे हिन्दू धर्म की क्या व्याख्या करते हैं और साथ ही यह भी देखना होगा कि उनकी परिभाषित व्याख्या का हिन्दू धर्म ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों के कहां तक अनुकूल होगा? स्वामीजी न केवल हिन्दू शब्द का निषेध करते थे बल्कि हिन्दुओं के प्राय: सब धार्मिक मन्तव्यों और सिद्धान्तों का भी खण्डन करते थे। आर्य समाज को हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने वालों के सामने दूसरी इसके अतिरिक्त बड़ी समस्या यह है कि वे स्वयं हिन्दू धर्म की एक संगठित धर्म के रूप में कोई बुद्धिगम्य व्याख्या नहीं कर सकते और जब तक वे ऐसा नहीं करते तब तक आर्यसमाज को किसी ऐसे धर्म का अंग या सम्प्रदाय कैसे कहा जा सकता है जिसका अपना कोई स्पष्ट और निश्चित अस्तित्व ही नहीं है। यही कारण है श्री बहादुरमल को भी यह स्वीकार करना पड़ा कि हिन्दू धर्म वास्तव में कोई धर्म नहीं है। वे कहते हैं कि—"अगर हम चाहें तो हिन्दू धर्म को जीवन की एक प्रणाली कह सकते हैं जिसकी संस्कृति का भी यही अर्थ है। हिन्दू जीवन पद्धति प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं सोचने की आजादी देती है वह केवल एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती है जिसका आधार वैदिक समय से चला आ रहा है और जो प्राचीन परम्पराओं पर स्थित है। हिन्दू धर्म वास्तव में एक जीवित संस्कृति है न कि साधारण अर्थ में कोई

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

धर्म ।" यदि हम धर्म का अर्थ यह समझते हैं कि वह एक विशेष यानी पृथक् और निश्चित उपासना पद्धति या विश्वास है तो इस अर्थ में भी हम हिन्दू धर्म को धर्म नहीं कह सकते । धर्म की प्रचलित और सर्वमान्य परिभाषा के अनुसार यह आवश्यक है कि कम से कम तीन विषयों में उसकी निश्चित और स्पष्ट मान्यताएं हो । पहला विषय है ईश्वर में विश्वास, दूसरा विशिष्ट धर्म पुस्तक और तीसरे कुछ निश्चित धार्मिक संस्कार और कर्मकाण्ड । यह स्पष्ट है कि हम धर्म के इन अनिवार्य तत्वों को केवल इसलिये नहीं बदल सकते कि उसमें किसी प्रकार हिन्दू धर्म का समावेश किया जा सके । यदि वह धर्म न होकर एक जीवन पद्धति मात्र है तो उसे धर्म सिद्ध करने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता और न ही ऐसी स्थिति में आर्यसमाज जैसा संगठित व निश्चित धर्म उसका एक अंग सिद्ध किया जा सकता है । इस समस्या का एक ही हल है । वह यह कि हिन्दू का एक व्यापक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक अर्थ स्वीकार किया जाय जो हिन्दू धर्म का पर्यायवाची न हो । जो लोग तथाकथित हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं वे उसे सनातनी या पौराणिक धर्म कह सकते हैं और इस अर्थ में चाहे तो अपने को हिन्दू धर्म का अनुयायी भी मान सकते हैं । इस प्रकार हिन्दू के दो अर्थ होंगे एक धार्मिक तथा दूसरा गैर धार्मिक जैसा वीर सावरकर ने कहा है । हिन्दू एकता और हिन्दू संगठन की दृष्टि से भी ऐसा करना उपयुक्त होगा क्योंकि इस प्रकार आर्यसमाजी, सिख, जैन, बौद्ध भी हिन्दुत्व की व्यापक परिधि में गिने जा सकते हैं ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री बहादुरमल की कठिनाई

हम देख चुके हैं कि श्री बहादुरमल तथा उनकी विचारधारा से सहमत व्यक्ति हिन्दू धर्म सम्बन्धी अपनी स्थापना सिद्ध करने में क्यों सफल नहीं हो सके । उन्होंने भी प्रारम्भ में पौराणिक हिन्दू धर्म की इस समस्या का सही मूल्यांकन किया जब उसे पुराणों पर आधारित मानकर और उनमें देवी देवताओं के बहु देवतावाद का होना स्वीकार किया तथा उसके शैव, वैष्णव शाक्त आदि सम्प्रदायों में दुर्गा, काली, भवानी आदि देवियों की उपासना

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनमें नर तथा पशुबली और वाममार्ग में लैंगिक कार्यकलापो का वर्णन किया साथ ही उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित पापों को क्षमा और जाति वाहर किये जाने सम्बन्धी रीति-रिवाजों का जिक्र करते हुए अनेक प्रकार के उपवास, तीर्थयात्रा, श्राद्ध, ज्योतिष, अपशुकन आदि अन्धविश्वासों को भी इस धर्म का अंग माना है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि दयानन्द ने इन सब बातों का खण्डन किया है। अपनी पुस्तक में वह देवतावाद, ज्योतिष, आदि अन्धविश्वास और मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचार उद्धृत किये हैं। हमने यहां छुआ-छूत, बाल-विवाह, जाति प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों के सम्बन्ध में बहादुर मल के विचारों का जिक्र नहीं किया है क्योंकि जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं, आर्य समाज के पृथक् अस्तित्व की कसौटी उसके धार्मिक सिद्धान्त हैं न कि ये सामाजिक सुधार। बहादुरमल ने अपनी पुस्तक के दूसरे अध्याय में ऋषि दयानन्द के इन धार्मिक सिद्धान्तों का भी विवेचन किया है जिन में पुनर्जन्म, मुक्ति, स्वर्ग और नरक, प्रार्थना और उपासना आदि के सम्बन्ध वैदिक मान्यता क्या है यह बताया है। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि लेखक महोदय ने आर्यसमाज के इन सिद्धान्तों और मान्यताओं का पौराणिक हिन्दू धर्म की मान्यताओं के साथ तुलनात्मक विवेचन करने या इन दोनों का सामंजस्य बैठाने का कोई प्रयत्न नहीं किया जिसके बिना आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का अंग सिद्ध करना सम्भव नहीं है। वास्तव में दोनों का यह अन्तर और विरोध स्वयं उनकी पुस्तक से स्पष्ट होता है। ऐसी स्थिति में उनका यह निष्कर्ष की स्वामीजी की धार्मिक मान्यताओं को हिन्दू धर्म से पृथक् नहीं समझा जाना चाहिये निराधार सिद्ध होता है। वे कहते हैं कि "स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म को एक नवीन स्वरूप दिया है और उसे उसकी निर्वलताओं से मुक्त कर के शक्तिशाली शाश्वत आन्दोलन बना दिया है वे किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं करना चाहते थे। उनका विश्वास था कि हम वैदिक काल के हिन्दू धर्म

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
को इस नाम से सम्बोधित करें तो वह वर्तमान हिन्दू धर्म का आधार वन सकता है। लेखक के इस तर्क का आधार उनकी आशा और अपेक्षा तो हो सकती है किन्तु वह वास्तविकता पर आधारित नहीं है। सम्भवत: उन्होंने यह मानने की भूल की है कि स्वामीजी हिन्दू धर्म में जो परिवर्तन करना चाहते थे वे हो गये हैं। अच्छा यह होता कि वे यह वताने का प्रयत्न करते कि उनके द्वारा वर्णित पौराणिक हिन्दू धर्म की मूलभूत मान्यताओं में कहां तक और कितना परिवर्तन हुआ है जिसके आधार पर हम उसे वैदिक काल का हिन्दू धर्म स्वीकार कर सकें। यदि ऐसा होता तो उन्हें भी हिन्दू और वैदिक मान्यताओं की भिन्नता पर प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं होती। दोनों के धार्मिक विश्वासों और मान्यताओं में समानता दिखाने के स्थान में श्री वहादुर मल ने केवल आर्यसमाज के सामाजिक सुधारों और शैक्षणिक कार्यों को ही अपनी भ्रमपूर्ण स्थापना का आधार वनाया है। वे कहते हैं "आर्य समाज ने अपना कार्य वड़े उत्साह से प्रारम्भ किया और थोड़े ही समय में सारे उत्तर हिन्दुस्तान में लड़के-लड़कियों के लिये उसने शिक्षण संस्थायें स्थापित कर दीं। निराश्रित वच्चो को आश्रय देने के लिये अनाथालय खोले गये। इससे पूर्व उन्हें विदेशी मिशनरी इकट्ठे करके ईसाई धर्म में दीक्षित करते थे। देश में जहां कहीं अकाल, भूचाल या अन्य प्राकृतिक विपदा आई वहां आर्यसमाज ने पीड़ित लोगों के लिये अपने कार्यकर्त्ता भेजे। 1923 में जब मलावार में मोपला विद्रोह हुआ और सैंकड़ो हिन्दुओं को जबर्दस्ती मुसलमान वनाया गया तव आर्यसमाज ही था जिसने धन एकत्रित कर अपने कार्यकर्त्ता सूदूर मलावार में भेजे और जिन स्त्री पुरुषों का धर्मान्तरण किया गया था उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में वापस लिया गया। महात्मा गांधी ने हरिजन उद्धार का कार्य प्रारम्भ किया उससे पहले आर्यसमाज ही एक ऐसा संगठन था जो अछूत समझे जाने वाले हिन्दू लोगों को हिन्दू समाज में समानता का अधिकार देने का प्रयत्न करता रहा। अछूतोद्धार आर्यसमाज के कार्यक्रमों का एक महत्वपूर्ण अंग रहा है। इसके साथ ही उसके प्रचारक निरन्तर सदियों के अन्धविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे और लोगों में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

उन बातों का प्रचार करते रहे जो धर्म के वास्तविक सिद्धान्त हैं"....इस लम्बे
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उद्धहरण में धार्मिक सिद्धान्तों के अस्पष्ट संकेत के सिवाय कहीं यह बताने का प्रयत्न तक नहीं किया गया है कि आर्यसमाज के धार्मिक मन्तव्यों और सिद्धान्तों का हिन्दुओं में कहां तक प्रचार और प्रसार हुआ है? अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि सामाजिक और शिक्षा के क्षेत्र में उसे अवश्य सफलता मिली है किन्तु यह प्रश्न फिर भी बना रहता है कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धान्त और मन्तव्य वर्तमान हिन्दू धर्म का स्थान ले सकेंगे लेखक की यह आशा और विश्वास कहाँ तक पूरा हुआ है? श्री बहादुरमल स्वयं स्वीकार करते हैं कि स्वामी दयानन्द की यह मान्यता थी कि छुआ-छूत, पन्डे-पुजारियों और गुरुओं के वर्चस्व आदि अनेक अन्ध विश्वासों पर आधारित हिन्दू धर्म वैदिक काल के विश्वासों और व्यवहार से सर्वथा भिन्न है।

एक पुराना विवाद

श्री बहादुर मल ने आर्यसमाज के इतिहास का एक पुराना विवाद भी पुनः जाग्रत करने का प्रयत्न किया है। प्रारम्भिक काल में पंजाब के लाला मूलराज जैसे स्वामीजी के कुछ भक्तों ने यह कहना शुरू किया था कि आर्य-समाज का सदस्य होने के लिए ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों या मान्यताओं को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। केवल उसके दस नियमों को स्वीकार करके कोई भी व्यक्ति उसका सदस्य हो सकता है। किन्तु शीघ्र ही आर्यजगत् ने इस धारणा का विरोध करके यह स्वीकार कर लिया था कि 10 नियमों के अतिरिक्त ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के प्रति निष्ठा भी आवश्यक है। ऐसा किये बिना आर्यसमाज की भी वही स्थिति हो सकती है जो ब्रह्मसमाज की हुई है अथवा जो सारे हिन्दू धर्म की है। जैसा स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने कहा है कि बिना निष्ठा और स्पष्ट धार्मिक सिद्धान्तों की मान्यताओं के न विचारों और न सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा सम्भव है और न ही संगठन की दृढ़ता। धर्मप्रचार की दृष्टि से यह मान्यता आवश्यक थी। परिणामस्वरूप यह विवाद बहुत पहले समाप्त होकर आर्यसमाज के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वभौम संगठन ने यह स्वीकार कर लिया कि नियमों के अतिरिक्त स्वामीजी द्वारा वेद के आधार पर प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार किये बिना कोई आर्यसमाज का सदस्य नहीं हो सकता। आर्यसमाज की सदस्यता सम्बन्धी उप नियमों में भी यह बात स्पष्ट कर दी गई है। सम्भवतः श्री बहादुरमल इस विवाद के आधार पर पुनः आर्यसमाज और हिन्दू धर्म के बीच किसी समझौते की कामना कर रहे थे किन्तु इससे एक नवीन खतरा उत्पन्न हो सकता है और वह यह कि ईश्वर और वेद के सम्बन्ध में आर्यसमाज की जो एक स्पष्ट और निश्चित मान्यता है वह समाप्त हो जायेगी और आर्यसमाज भी हिन्दू धर्म के समान एक अस्पष्ट और अनिश्चित धर्म बन जायेगा और अन्त में उसी का एक सम्प्रदाय समझा जायेगा। स्वयं बहादुरमलजी ने इसका संकेत करते हुए लिखा है कि मन्दिरों के पुजारियों के लिए एक विशेष प्रकार के प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये। प्रश्न यह है कि स्वामीजी ने मूर्ति पूजा और उनके लिए स्थापित मन्दिरों का खण्डन किया है तो क्या उसके पुजारियों को हम कोई ऐसा प्रशिक्षण दे सकते हैं जो मूर्तिपूजा का निषेध करे और फिर भी मूर्तिपूजक हिन्दू उन्हें मन्दिरों में पुजारी नियुक्त करने के लिए राजी हों। स्वयं लेखक ने इसका जो समाधान किया है वह इस बात का द्योतक है कि मूर्तिपूजा जैसे मौलिक प्रश्न पर भी वे समझौता करने को तैयार हैं। वे लिखते हैं कि "आर्यसमाज के सदस्य मूर्ति द्वारा अपनी उपासना नहीं करते हैं किन्तु हम कट्टर हिन्दुओं से यह आशा नहीं कर सकते कि वे एकदम मूर्तिपूजा छोड़कर केवल प्रार्थना और समाधी द्वारा ईश्वर की उपासना करें। वे मूर्तिपूजा के तरीकों में सुधार करने के स्वामीजी की भावना को स्वीकार कर सकते हैं।" यह स्पष्ट नहीं है कि मन्दिरों और मूर्तियों में पूजा के तरीक में ऐसा क्या सुधार सम्भव है जिसके द्वारा ऋषि दयानन्द की धार्मिक भावना को स्वीकार किया जा सके। इसका केवल एक ही अर्थ हो सकता है कि मूर्ति पूजा का निषेध करने स्थान में हम इस आधारभूत प्रश्न पर कोई समझौता कर लें और परिणामस्वरूप निराकार ईश्वर के जिस सिद्धान्त पर स्वामीजी ने इतना अधिक बल देकर मूर्तिपूजा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को ईश्वर उपासना के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बताया उसे भी स्वीकार कर लें। चाहे जो हो हिन्दू मन्दिरों और पुजारियों के कार्य में सुधार करना आर्यसमाज का कार्य नहीं है। वह अगर यह करना भी चाहें तो मूर्तिपूजक हिन्दू आर्यसमाज के इस प्रयत्न को ढोंग या बहाना समझकर उसका विरोध करेंगे मन्दिरों और मूर्तिपूजा के तरीकों में यदि कोई सुधार सम्भव हो तो यह कार्य उन्हीं का है जो उसमें विश्वास करते हैं।

बहादुरमलजी ने श्री डी. एस. शर्मा की पुस्तक "हिन्दूइज्म थ्रू दी एजेज (Hinduism Through The Ages) से निम्नलिखित सुझाव अपनी पुस्तक में लिखा है अर्थात् "हिन्दू धर्म को एक सिद्धान्त पर धर्म अवश्य बनना चाहिये किन्तु उसके सम्बन्ध में विचारों की कट्टरता नहीं होनी चाहिये। उदाहरण के लिये जो उसमें सम्मिलित होना चाहें वे आर्यसमाज के माध्यम से ही लिये जायें यह आवश्यक नहीं है। उनमें कुछ हिन्दू धर्म के वैष्णव या शैव सिद्धान्तों को भी मानकर हिन्दू धर्म के अनुयायी बन सकते हैं। हमारे इस धार्मिक भवन में कई बड़े कमरे हैं उनमें से किसी में भी कोई आगन्तुक आकर आराम से रह सकता है"। उपरोक्त दलील पौराणिक हिन्दू धर्म के समर्थकों द्वारा ही दी जा सकती है, आर्यसमाज द्वारा नहीं। क्योंकि यदि उसमें भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों के समर्थक यहाँ तक कि आर्यसमाज के अनुयायी भी सम्मिलित किये जाय तो हिन्दू धर्म को स्पष्ट स्वरूप देकर उसे एक निश्चित मान्यता वाला धर्म कैसे बनाया जा सकता है?

हिन्दू धर्म का वर्तमान अस्पष्ट और लचीला स्वरूप ही जब तक उसकी विशेषता समझी जाती है तब तक उसे एक निश्चित और परिभाषित धर्म की सीमा में बान्धना परस्पर विरोधी बातें हैं। आर्यसमाज के सम्बन्ध में भी यह विवाद उसी समय उठाया गया जब उसके कुछ समर्थक उसे केवल 10 नियमों पर आधारित एक लचीला संगठन बनाये रखना चाहते थे, किन्तु आर्यसमाज के अधिकांश प्रमुख नेताओं ने इसीलिए इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया क्योंकि यदि यह बात मान ली जाती तो आर्यसमाज का वैदिक धर्म स्पष्ट सुनिश्चित न होकर हिन्दू धर्म के समान एक भानमती का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिटारा बना रहता। लाला मूलराज की यह बात इसीलिए स्वीकार नहीं की गई कि आर्यसमाज के सदस्यों को दस नियमों के अतिरिक्त स्वामी जी द्वारा प्रतिपादित स्वमन्तव्यामन्तव्य में दिये गये धार्मिक विश्वासों को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है तथा उन्हें मानने या न मानने के लिये आर्यसमाजी स्वतन्त्र हैं। आर्यसमाज के प्रारम्भिक इतिहास में इस प्रकार की विचारधारा का औचित्य हो सकता था क्योंकि स्वयं स्वामीजी ने भी ऐसा आग्रह नहीं किया था कि समाज की सदस्यता के लिए 10 नियमों के अतिरिक्त उनकी धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करना आवश्यक है। इसी लिये बम्बई में स्वामीजी की सहमति से बने आर्यसमाज के नियम-उपनियमों में इन धार्मिक सिद्धान्तों की शर्त नहीं है। किन्तु जैसा हम देख चुके हैं कि स्वामीजी की मृत्यु के बाद शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि समाज की सदस्यता के लिए उसके धार्मिक सिद्धान्तों के प्रति आस्था की शर्त आवश्यक है और परिणामस्वरूप आर्यजगत के शिरोमणि संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने आर्यसमाज के उपनियमों में सिद्धान्त सम्बन्धी शर्त को औपचारिक रूप से सम्मिलित कर लिया जैसा स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने लिखा है कि इस औपचारिक घोषणा के पूर्व भी अप्रत्यक्ष रूप से यह शर्त प्रायः सर्वसम्मत समझी जाती थी, लालाजी लिखते हैं कि "यह सही है कि आर्यसमाज की स्थापना तथा सन् 1877 में उसके पुनः संगठन के समय जो लोग उसके सलाहकार थे उनकी यह इच्छा थी कि सदस्यों के लिए आर्यसमाज के प्रथम तीन नियमों में उल्लिखित धार्मिक मान्यता के अतिरिक्त कोई और धार्मिक मान्यता स्वीकार करना अनिवार्य न किया जाय। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव होने लगा कि ऐसा किये बिना आर्यसमाज के प्रचार का कार्य सम्भव नहीं हो सकेगा। वास्तव में स्वामीजी की धार्मिक मान्यताओं को आर्यसमाज ने प्रारम्भ में ही स्वीकार कर लिया था और उन्हीं के आधार पर उसने अपना प्रचार कार्य किया।"

लालाजी आगे लिखते हैं कि पन्द्रह वर्षों तक इस सम्बन्ध में किसी ने कोई आक्षेप नहीं किया किन्तु उसके बाद जब मांसभक्षण के सम्बन्ध में कुछ व्यक्तिगत विचारों के कारण वाद-विवाद प्रारम्भ हुआ

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब इस प्रकार की दलील दी जाने लगी कि नियमों के अतिरिक्त सदस्यों के लिये कोई और शर्त मान्य नहीं है। मांस भक्षण के पक्ष में यह कहा जाने लगा कि सामाजकि नियमों में उस पर कोई प्रतिबन्ध या निषेध नहीं है। दूसरा पक्ष यह था कि यदि इस प्रकार की छूट स्वीकार की जाय तो स्वामी जी के अन्य सिद्धान्तों के सम्बन्ध में भी सन्देह उत्पन्न हो जायेगा और परिणामस्वरूप निश्चित धार्मिक मान्यताओं के आधार पर आर्यसमाज का प्रचार कार्य कुण्ठित हो जायेगा। इस प्रकार की सैद्धान्तिक अनिश्चितता के कारण ब्रह्मसमाज की प्रगति किस प्रकार कुण्ठित हो गई यह वे जानते थे और वे नहीं चाहते थे कि आर्यसमाज की भी यही स्थति हो। ब्रह्मसमाज के उदाहरण के अतिरिक्त जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ उसको ध्यान में रखकर भी आर्यसमाज के सामने कोई और विकल्प नहीं था। स्वयं हिन्दू धर्म की अनिश्चितता और निर्वलता को दूर करने के लिए भी यह आवश्यक था कि आर्यसमाज एक सुनिश्चित स्पष्ट तथा संगठित धार्मिक संस्था बनी रहे जो आक्रमण और प्रतिरक्षा दोनों के लिए सक्षम हो।"

दयानन्द का त्रिकोणात्मक संघर्ष

स्वामी दयानन्द को एक साथ तीन मोर्चों पर लड़ना पड़ा। शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा समर्थित ईसाई मिशनरियों ने भारत को एक ईसाई देश बनाने का निश्चय किया हुआ था जिसकी सार्वजनिक रूप से एलेग्जेन्डर डफ जैसे प्रभावशाली व्यक्तियों ने घोषणा की थी और वे लम्बे मुस्लिम शासन में हिन्दुओं का नैतिक सामर्थ्य समाप्त हो चुका था और वे अपनी धार्मिक और सामाजिक निर्वलताओं के कारण अपनी रक्षा की क्षमता और यहाँ तक हिन्दू कि इच्छा तक खो बैठे थे। ऐसे समय में राष्ट्रीय जागृति के लोकमान्य तिलक जैसे नेताओं के विपरीत स्वामी दयानन्द ने इसीलिए यह आवश्यक या वांछनीय नहीं समझा कि राष्ट्रीयता के नाम पर हिन्दू धर्म की इन कमजोरियों का भी समर्थन किया जाय, अतः सबसे पहले उन्होंने अपने देशवासियों की इस भ्रमपूर्ण धारणा पर ही आक्रमण किया। ऐसा किये बिना वे ईसाई

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
और मुसलमानों के संगठित आक्रमण से हिन्दू समाज की रक्षा नहीं कर सकते थे। हिन्दुओं की जिन निर्बलताओं का लाभ यह विधर्मी उठाते रहे हैं उनका निराकरण किये बिना इस आक्रमण को नहीं रोका जा सकता था। इसलिए स्वामीजी ने जहाँ ईसाई और मुसलमानों के आक्रमण को चुनौती दी वहाँ हिन्दू धर्म और समाज की निर्बलताओं की भी कड़ी समालोचना करने में संकोच नहीं किया। तीनों मोर्चों पर किये गये यह आक्रमण वस्तुतः आत्म-रक्षा के लिये किये गये प्रत्याक्रमण मात्र थे। इस प्रकार के संघर्ष की सफलता के लिये भी यह आवश्यक था कि आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित ऋषि दयानन्द का वैदिक धर्म स्वयं एक दृढ़ और सुनिश्चित आधार पर स्थित हो और उसकी सामाजिक मान्यतायें बौद्धिक और नैतिक दृष्टि से अकाट्य हों। हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी निर्बलता ही यह रही है कि वह धार्मिक और सामाजिक दोनों दृष्टियों से सर्वथा असंगठित रहा है और सैद्धान्तिक मामलों में समझौतों को स्वीकार करता रहा है। दयानन्द, आर्यसमाज को इन सब दोषों और कमजोरियों से मुक्त रखना चाहते थे। आर्यसमाज की इस विशेषता को श्री ब्लन्ट ने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। वे कहते हैं, "आर्यसमाज की शक्ति जहां एक तरफ इस बात पर निर्भर है कि वह हिन्दू बहु देवतावाद की अनिश्चितता और अस्पष्टता से मुक्त है वहां दूसरी ओर उसने ब्रह्मसमाज जैसे सुधारवादी आन्दोलन की पंचमेली खिचड़ी को भी स्वीकार नहीं किया"—आर्यसमाज के प्रशंसकों और विशेषकर उसके अनुयायियों के लिये श्री ब्लन्ट की यह सम्मति एक प्रकार की चेतावनी भी है कि वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में सन्देह या समझौता स्वीकार कर उसे निर्बल न होने दें और उसके संगठन का यह दृढ़ आधार बनाये रखकर उसकी वह क्षमता कायम रखें जो स्वामी दयानन्द के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आवश्यक है। आर्यसमाज का धार्मिक-दर्शन, तर्क और बुद्धि दोनों कसौटियों पर अन्य सब धर्मों के मुकाबले खरा सिद्ध हुआ है। उसके अधिकांश विचार इतने अग्रगामी और बुद्धिगम्य हैं कि किसी निष्पक्ष समझदार व्यक्ति को उन्हें स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इसलिये यदि हम स्वामीजी के आधारभूत सिद्धान्तों और

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
मान्यताओं को स्वीकार करते हैं तो केवल विचार स्वाधीनता के नाम पर अनावश्यक विवाद खड़ा करके हमें अपनी सामाजिक और व्यक्तिगत शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए। विश्वास और श्रद्धा, विशेषकर जब उसका आधार बौद्धिक धरातल हो, तो किसी भी आधुनिक धर्म के लिए वह एक आवश्यक शर्त है। स्वामी दयानन्द ने इसीलिए श्रद्धा को अन्धविश्वास से पृथक् करके सत्य पर आधारित विश्वास के रूप में परिभाषित किया है। गैर धार्मिक संस्था और संगठन भी यह आग्रह करते हैं कि उनके सदस्य इन संगठनों के उद्देश्यों को स्वीकार करें, उनके द्वारा निर्धारित अनुशासन का पालन करें। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज जैसी धार्मिक और सामाजिक संस्था के लिए इस प्रकार का आग्रह अनुचित नहीं कहा जा सकता।

क्या ऋषि दयानन्द निर्भ्रान्त थे ?

हमारी सम्मति में इस प्रश्न का कोई विशेष व्यावहारिक महत्व नहीं है कि स्वामी दयानन्द निर्भ्रान्त थे या नहीं।

स्वयं ऋषि दयानन्द ने कभी यह दावा नहीं किया कि वे निर्भ्रान्त थे और न ही उनके अनुयायी ऐसा कहते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि हर व्यक्ति अपने को उनसे अधिक विद्वान् और सुविज्ञ कह कर या मान कर उनके मन्तव्यों को अपनी इच्छानुसार विकृत करने का प्रयत्न करें वस्तुतः सार्वजनिक रूप से उनके सम्बन्ध में अपने मतभेद का प्रचार करना भी आर्य समाज की शक्ति और उपयोगिता को कम करने के उद्देश्य से ही किया जाता है। सैद्धान्तिक दार्शनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अधिकृत विद्वान् सद्भावना से विचार विनिमय करें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती किन्तु ऋषि दयानन्द की योग्यता तथा पाण्डित्य को केवल इसलिए चुनौती देने का प्रयत्न करना कि हम अपनी विचार स्वतन्त्रता का प्रदर्शन कर सकें खतरनाक होगा। उच्च दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों और सत्यों के सम्बन्ध में यदि ऋषि दयानन्द के विचार अन्तिम नहीं हो सकते तो कोई अन्य विद्वान् भी इस प्रकार का दावा नहीं कर सकता। चाहे जो हो व्यावहारिकता और उपयोगिता की दृष्टि से भी सर्व साधारण में बुद्धिभ्रम उत्पन्न करने से न वर्तमान सत्यों के प्रति

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आस्था बनी रह सकती है और न ही आर्यसमाज प्रभावशाली संगठन बना रह सकता है। कुछ लोगों का यह कहना कि स्वामीजी ने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं कहा सर्वथा निराधार है। आर्यसमाज के तीसरे नियम में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि है कि वेद सब सत्य विद्या की पुस्तक है। पहले नियम में यह अतिरिक्त घोषणा की गई है कि सब सत्य विद्याओं का आदि मूल परमेश्वर है। अपने वेदभाष्य तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी स्वामीजी ने अपनी यह मान्यता व्यक्त की है। इसलिए यदि किसी को इसमें सन्देह हो तो उसे स्पष्ट रूप से इसे अपने स्वयं के विचार कहना चाहिए स्वामीजी के नाम से ऐसा भ्रम प्रसारित करना उचित नहीं है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान

उपरोक्त आधार के अतिरिक्त एक और दृष्टि से भी वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का समर्थन किया जा सकता है। अन्य धर्मों ने अपनी धार्मिक पुस्तकों को ईश्वरीय ज्ञान होने का जो दावा किया है उसमें और ऋषि दयानन्द की मान्यता में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। स्वामीजी की मान्यता का आधार बौद्धिक है जबकि अन्य इस प्रकार की मान्यताओं के पीछे केवल अंधविश्वास मात्र है। ईश्वरीय ज्ञान की अन्य पुस्तकों के सम्बन्ध में या तो यह कहा जाता है कि किसी ने उसे ईश्वर की आवाज या इलहाम के रूप में सुन कर ग्रहण किया है अथवा ईश्वर का अवतार या प्रतीक किसी व्यक्ति विशेष ने उसे प्रकट किया है। इसके विपरीत स्वामीजी की मान्यता है कि वेद केवल ज्ञान के रूप में प्रारम्भिक ऋषियों के मस्तिष्क में प्रकाशित हुवे। इन दोनों प्रकारों में स्वामीजी का तर्क या दावा स्पष्ट रूप से अधिक वैज्ञानिक और बुद्धिगम्य है। आज भी हम यह अनुभव करते है कि ज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क में ही उपजता और विकसित होता है, ऐसी अवस्था में यदि सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरीय ज्ञान इस प्रकार से प्रकट हुआ तो उसमें क्या आश्चर्य या अनहोनी बात है? वर्तमान ज्ञान हम दूसरों से इसी विकसित रूप से प्राप्त करते हैं किन्तु यदि सृष्टि के प्रारम्भ में इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हुआ तो वह किसी अन्य व्यक्ति या धीरे-धीरे विकसित

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर प्राप्त नहीं हो सकता था क्योंकि उससे पूर्व न कोई ज्ञानदाता व्यक्ति था और न ज्ञान प्राप्ति का अन्य कोई साधन सिवाय ईश्वर के था। यह बात दूसरी है कि जो लोग ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते उनके लिए ईश्वरीय ज्ञान का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। किन्तु ईश्वर में विश्वास रखने वाले व्यक्ति के लिए स्वामीजी की यह मान्यता स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

श्री अरविन्द घोष का समर्थन

योगी अरविन्द घोष ने ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य तथा वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के समर्थन में अत्यन्त तर्कपूर्ण सम्मति व्यक्त की है जो पढ़ने योग्य है।

वास्तव में मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है या नहीं अपितु यह है कि स्वामीजी ने वेदों का जो भाष्य किया है वह हमें स्वीकार है या नहीं। जैसा अरविन्द घोष ने कहा है कि "वेदों के भारतीय अथवा पश्चिमी विद्वानों द्वारा अब तक जो भाष्य किए गये हैं उनकी तुलना में स्वामीजी द्वारा किया गया वेदभाष्य ही ऐसा है जिसके आधार पर ही हम वेद को एक उच्च धार्मिक ग्रन्थ का स्थान देकर उसके प्रति आदर भाव रख सकते हैं। यदि वेद वही है जैसा पाश्चात्य विद्वानों ने उनका भाष्य किया है तो वे प्राचीन असभ्य युग के अवशेष के रूप में रद्दी के ढेर में फेंकने योग्य हैं और यदि वेद वे हैं जिसका अर्थ ऋषि दयानन्द ने किया है तो हम उनको आदर और श्रद्धा की दृष्टि से स्वीकार कर सकते हैं।" इसी संदर्भ में दूसरा प्रश्न यह है कि यदि कोई यह सिद्ध करे सके कि वेदों में अनेक देवी-देवताओं तथा उनकी मूर्तियों की पूजा का विधान है तथा जात-पांत, छुआ-छूत और स्त्रियों के प्रति असमानता और सती प्रथा जैसी पौराणिक हिन्दू मान्यताओं का प्रावधान है तो क्या तब भी आर्यसमाज ऐसे वेद को अपना आधारभूत धार्मिक ग्रन्थ स्वीकार करेगा? आर्यसमाज के उप-नियमों में यह स्पष्ट प्रावधान है कि आर्य समाज की सदस्यता के लिए ऋषि दयानन्द के धार्मिक मन्तव्यों को स्वीकार

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करना आवश्यक है क्योंकि उन्हें हम वेद पर आधारित मानते हैं। इतना ही नहीं हम उन्हें तर्क और बुद्धि की कसौटी पर भी सही मानते हैं। दूसरे शब्दों में सत्यार्थप्रकाश आदि में ऋषि दयानन्द ने जिन मान्यताओं का प्रतिपादन कि है हमें वे उनके द्वारा किये गये वेदों के अर्थ के अनुकूल होने के कारण ही मान्य है।

विचार स्वातन्त्र्य की मर्यादा

स्वामीजी के वेद भाष्य के बारे में व्यक्त कोई विचार यदि अधिकारी और निष्पक्ष विद्वानों द्वारा किया गया हो और शोध क्षेत्र के ऊँचे वैचारिक स्तर तक सीमित हो तो वह आपत्तिजनक नहीं कहा जा सकता। किन्तु यदि आर्यसमाज के संगठन और उसके मूलभूत उद्देश्यों के प्रति अपनी अनास्था या समझौता नीति जैसी निर्बलताओं को छुपाने के लिए ऐसा किया जाय तो उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। दुर्भाग्य से आर्य समाज की राष्ट्रीय विचारधारा तथा समाज सुधार आन्दोलन के रूप में उसकी लोकप्रियता के कारण उसमें बहुत से ऐसे व्यक्ति आ गये हैं जो हिन्दू धर्म से अपनी जन्म जात "ऑवल" काट नहीं पाये हैं। दूसरी ओर कांग्रेस के जन्म से पूर्व आर्यसमाज ही एक ऐसा मंच था जिसके माध्यम से अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति अपने जन्मजात अंधविश्वासों और दकियानूसी रीति-रिवाजों को तोड़ कर भी हिन्दू समाज के अंग बने रह सकते थे। राज-नैतिक क्षेत्र में भी तब तक कांग्रेस नरम दल के शिक्षित वर्ग का एक ऐसा संगठन था जिसके द्वारा ऐसे व्यक्ति अंग्रेजी राज्य में अनेक लाभ उठा सकते थे। उनका लक्ष्य कुछ ऊँची नौकरियाँ प्राप्त करना और शासन व्यवस्था में सहभागी होना मात्र था। दूसरी और स्वामी दयानन्द इस युग के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने निर्भयतापूर्वक क्रान्तिकारी राजनैतिक विचारों का प्रचार किया। और यहाँ तक घोषणा की 'कि विदेशी राज्य कितना ही अच्छा हो वह स्व-राज्य की बराबरी नहीं कर सकता।' लाला लाजपत राय दयानन्द की इसी विचारधारा को काँग्रेस के मंच से प्रसारित करने वाले पहले राजनेता थे जिन्होंने जहाँ एक ओर लोकमान्य तिलक के राजनैतिक उग्रवाद का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थन किया वहां दूसरी ओर लोकमान्य तिलक के धार्मिक और सामाजिक प्रतिक्रियावाद का भी विरोध किया। सर वेलेनटाइन शिरोल ने इसीलिये कहा है कि भारत में अंग्रेजों के विदेशी राज्य के विरुद्ध असन्तोष के बीज बोने का कार्य आर्यसमाज ने किया है।

आर्यसमाज का आकर्षण

हिन्दुओं की अनेक पिछड़ी जातियों के लोग भी आर्यसमाज की ओर आकर्षित हुए क्योंकि उसके माध्यम से ही हिन्दू समाज में उनको वह स्थान प्राप्त हुआ जो अन्यथा प्राप्त नहीं हो सकता था। आर्यसमाज जात-पांत, छुआ-छूत का प्रबल विरोधी है इसलिए ऐसे व्यक्ति अपनी योग्यता और ऊँची शिक्षा के बावजूद भी असमानता का शिकार थे। आर्यसमाज ने उन्हें उचित सम्मान और समानता प्रदान की और परिणामस्वरूप अनेक पिछड़े वर्ग तथा अछूत जाति के सदस्य ब्राह्मणों के समकक्ष स्थान प्राप्त करने में सफल हुये। उनमें से अनेक आर्यसमाज में पण्डित, पुरोहित और धर्मोपदेशक तक हैं। इसी प्रकार आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं ने भी अनेक लोगों को आकर्षित किया। उन्हें भी बिना जाति या छुआछूत के भेद-भाव के उच्च शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर मिला। आर्यसमाज ने अनेक महिला शिक्षण संस्थाएँ और कन्या गुरुकुल तक स्थापित किये। इस प्रकार हिन्दू समाज के जो वर्ग शिक्षा से वञ्चित होने के कारण अनेक सामाजिक असमानताओं और अन्यायों के सदियों से शिकार थे उन्हें भी समान अवसर देने का यह क्रान्तिकारी कार्य आर्यसमाज ने किया। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में आर्यसमाज के मंच पर अनेक व्यक्तियों को देश और समाज की सेवा करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। परिणामस्वरूप सामाजिक, राजनैतिक, साहित्यिक आदि सभी क्षेत्रों में आर्यसमाज के माध्यम से अनेक व्यक्ति महत्वपूर्ण स्थानों पर पहुंचने में समर्थ हुए। एक समय देश के प्रायः सब क्षेत्रों में विशेषकर उत्तर भारत में ऐसे ही लोगों का नेतृत्व और वर्चस्व रहा जो अपने प्रारम्भिक जीवन में आर्यसमाज के सदस्य या उससे प्रभावित

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
थे अथवा उसकी शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थी रहे। अन्तर्जातीय विवाह और विधवा विवाह जैसे हिन्दू धर्म द्वारा निषिद्ध समझे जाने वाले कार्यों के लिए आर्यसमाज ही एक माध्यम समझा जाता था और आज भी है।

लोकप्रियता एक मिश्रित वरदान

आर्यसमाज के लिए यह सब गौरव की बात है, इन आकर्षणों के कारण उसके अनुयायियों, प्रशंसकों और समर्थकों की संख्या तो बढ़ती गई किन्तु उनकी योग्यता तथा आर्य समाज के प्रति निष्ठा का स्तर कम होता गया। उनमें से अनेक अपनी पुरानी धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं से भी किसी न किसी रूप में जुड़े रहे। उनके द्वारा विशेष कर अपनी ही जाति में विवाह आदि की परम्परा बनाये रखने के कारण न केवल जात-पांत बल्कि उससे सम्बन्धित धार्मिक और सामाजिक रीति-रिवाजों से भी समझौते की प्रवृत्ति ने घर कर लिया। यही कारण है कि आर्यसमाज में ऐसे व्यक्तियों की संख्या और प्रभाव बढ़ता गया जो आर्यसमाज को या तो केवल एक सुधार आन्दोलन मानते हैं या उसे हिन्दू धर्म का ही एक सम्प्रदाय समझते हैं। परिणामस्वरूप आर्यसमाज के पृथक् धार्मिक अस्तित्व तक के बारे में शका की जाने लगी जैसा श्री बहादुरमल की पुस्तक से स्पष्ट है। आर्यसमाज के सामने आज सबसे बड़ी यही चुनौति है जिसका समय रहते सामना करना आवश्यक है। वस्तुतः आर्य समाज को अब दो आक्रमणों का सामना करना है और वे दोनों बाहरी न होकर उस के भीतर से हो रहे हैं। इसलिए वे और ज्यादा खतरताक सिद्ध हो सकते हैं। इन में से एक हिन्दुत्वनिष्ठ सनातनी तत्वों द्वारा किया जा रहा है और दूसरा राजनैतिक दलों द्वारा हिन्दू एकता के नाम पर। जहाँ सनातनी तत्व उसके धार्मिक आस्तित्व को नष्ट कर रहे हैं वहाँ राजनैतिक तत्व उसके संगठन की जड़े खोखली करने पर तुले हैं। अनेक तथाकथित आर्य नेता हिन्दू रक्षा और संगठन के नाम पर हिन्दू धर्म के अंधविश्वासों और दकियानूसी रीति-रिवाजों के साथ समझौते की नीति अपनाना चाहते है। जिनका निषेध करने के लिए ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की थी इसी प्रकार वे राजनैतिक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection

दलों के समर्थक समाजों, प्रान्तीय सभाओं और यहाँ तक कि सार्वदेशिक सभा तक में घुसपैठ करके आर्यसमाज के संगठन को ही हथियाना चाहते हैं।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू धर्म से समझौता

आस्ट्रिया के प्रोफैसर श्री जोर्डन ने भी हिन्दू धर्म से आर्यसमाज के सम्बन्ध के बारे में कुछ भ्रमपूर्ण बातें लिखी हैं। यद्यपि स्वामी दयानन्द के जीवन और विचारों पर लिखी उनकी पुस्तक अनेक दृष्टियों से बड़ी खोजपूर्ण और महत्त्व की है और आर्यसमाज सम्बन्धी साहित्य को बड़ी मूल्यवान् देन है। वे स्वामीजी के बड़े प्रशंसक भी थे हमें यह भी स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये कि जब अनेक भारतीय विचारक इस प्रचलित भ्रम से मुक्त नहीं रह सके कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का केवल एक सुधारक आन्दोलन है तब हम एक विदेशी विद्वान् से यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वह इस प्रचलित धारणा की उपेक्षा करे। मैंने अपनी 1956 की योरोप और अमेरिका की प्रथम यात्रा तथा सन् 1983 में दूसरी विश्व यात्रा में यह अनुभव किया कि विदेशों में जिन विश्वविद्यालयों में भारतीय इतिहास अथवा हमारी धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं के अध्ययन विभाग हैं अथवा जो व्यक्ति हमारे देश के इन क्षेत्रों में रुचि रखते हैं उन सबकी दृष्टि में हिन्दू और हिन्दू धर्म के बारे में वैसी ही धारणा है जैसी हमारे देश में अंग्रेज, अमेरिकन, जर्मन देश के लोगों की ईसाई धर्म या सभ्यता के बारे में है। हम इन सबको एक ही समझते हैं। अंग्रेजों से हमारे लम्बे सम्पर्क के कारण योरोप के सब देशों और व्यक्तियों को हम इंग्लैंड और अंग्रेजों के मापदण्ड से ही नापते और समझते हैं। स्वयं मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इंग्लैण्ड, फ्रान्स, जर्मनी, इटली तथा ग्रीस जहा-जहां मैं गया वहां उनमें रंग और कुछ हद तक रहन-सहन की समानताओं के अतिरिक्त प्रायः अन्य सब बातों में वैसी ही भिन्नतायें हैं जैसी हमारे देश में पंजाब, बंगाल, गुजरात, मद्रास आदि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासियों में दिखाई देती हैं। हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों के समान उनके ईसाई धर्म में भी अनेक सम्प्रदाय हैं। इसलिए श्री जोर्डन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

जैसे विद्वान् के लिए भी यह मानकर चलना आश्चर्य की बात नहीं है कि ऋषि दयानन्द जैसे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न संस्कृत के विद्वान्, हिन्दू धर्म के ही एक सुधारवादी विचारक थे। अपनी पुस्तक का उद्देश्य वर्णित करते हुए उन्होंने लिखा भी है कि उनका उद्देश्य स्वामीजी के जीवन और सिद्धान्तों को परम्परागत विचारधारा के संदर्भ में अध्ययन करना है। इसलिये यद्यपि उनकी अनेक मान्यताएं हिन्दू धर्म के विपरीत थीं फिर भी स्वामीजी ने यह प्रयत्न किया कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का अंग बना रहे।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोर्डन का भ्रम

श्री जोर्डन के इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में मैंने उन्हें पत्र लिखा और जिस आधार पर उन्होंने अपनी यह धारणा व्यक्त की उसे स्पष्ट करने के लिए कहा। उत्तर में उन्होंने यह स्वीकार किया कि उन का तात्पर्य यह सिद्ध करना नहीं था कि स्वामीजी ने हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताओं के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया, किन्तु उनके इस स्पष्टीकरण के बावजूद उन्होंने अपनी पुस्तक में कई स्थानों पर जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे यह गलतफहमी होना स्वाभाविक है, यद्यपि जैसा वे लिखते हैं कि उनकी ऐसी मान्यता नहीं थी। उदाहरण के लिए उनका यह कथन है कि स्वामीजी अपने अनुयायियों को हिन्दुओं की जाति व्यवस्था से अलग नहीं रखना चाहते थे, न केवल निराधार ही है बल्कि स्वामीजी की सर्वविदित मान्यताओं के विपरीत भी है। स्वामीजी ने जन्म पर आधारित वर्ण व्यवस्था को मरण व्यवस्था तक कहकर उसका निषेध किया है। श्री जोर्डन की इस प्रकार की कुछ अन्य गलत धारणाओं का भी यहाँ विवेचन करना आवश्यक है। स्वामीजी के जीवन और विचारों की श्री जोर्डन ने अपनी पुस्तक में जो विवेचना की है उसकी अनेक विशेषताएँ हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने अपनी पुस्तक में यह बताने का प्रयत्न किया है कि स्वामीजी के विचारों और सिद्धान्तों का किस प्रकार विकास हुआ और 19 वीं सदी की आधुनिक विचारधारा के साथ ही हिन्दुओं की परम्परागत मान्यताओं से उनका क्या सम्बन्ध था! किन्तु जहाँ उन्होंने स्वामीजी द्वारा हिन्दू राष्ट्रवाद में क्रान्तिकारी परिवर्तन का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उल्लेख किया है वहाँ वे यह भी कहते हैं कि उनका यह राष्ट्रवाद वास्तव में हिन्दू राष्ट्रवाद ही था क्योंकि उसकी हिन्दू धर्म और संस्कृति में गहरी जड़ें बनी रहीं। इसी प्रकार खान-पान तथा विवाह के सम्बन्ध में हिन्दुओं के जातपांत के बन्धनों का जिक्र करते हुए वे लिखते हैं कि यद्यपि स्वामीजी यह मानते थे कि खाने-पीने और विवाह सम्बन्धी रीति-रिवाजों का धर्म या अधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु फिर भी वे जाति व्यवस्था को धर्म से जुड़ा हुआ मानते थे। इसलिए जाति व्यवस्था की उपेक्षा हानिकर है अगर कोई बुद्धिमान् व्यक्ति ऐसा करे तो उसकी जाति के लोग उससे घृणा करने लगेंगे और इस प्रकार समाज ऐसे व्यक्तियों के ज्ञान से होने वाले लाभों से वंचित हो जायेगा, जोर्डन अपनी इस बात के समर्थन में सर सैय्यद अहमद के साथ स्वामीजी के सम्बन्धों का उदारहण देते हुए लिखते हैं कि स्वामीजी ने अलीगढ़ में सर सैय्यद अहमद के यहां इसी आधार पर भोजन करना अस्वीकार कर दिया था। यद्यपि स्वामीजी ने यह बात स्वीकार की है कि एक मुसलमान आर्य बन सकता है किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि इसका अर्थ यह नहीं है कि वे दोनों पहले से ही रोटी व्यवहार प्रारम्भ कर दें। स्वामीजी ने इसीलिए एक ब्रह्मसमाजी के यहां नीची जाति की महिला द्वारा बनाये गये भोजन को स्वीकार नहीं किया और बनारस में उनके कमरे में एक मुसलमान मौजूद था इसलिये वे पानी पीने के लिये बाहर चले गये क्योंकि इस प्रकार का रिवाज वहाँ प्रचलित था। जात-पांत के समर्थन में स्वामीजी की मान्यताओं के बारे में श्री जोर्डन का एक अन्य कथन और भी आश्चर्यजनक है। वे लिखते हैं कि—जैसे-जैसे आर्यसमाज शक्तिशाली होता गया और उसके अनुयायियों का दूसरे नगरों, जिलों, प्रान्तों और राज्यों की सीमाओं से बाहर के आर्यों से सम्बन्ध बढ़ने लगा तथा उनकी एकता और सम्पर्क से प्रगति होती गई तो उन्होंने अनुभव किया कि वे हिन्दुओं से किस प्रकार अलग या भिन्न होते जा रहे हैं। अनेक आर्य चाहते थे कि उनका यह आपसी सम्बन्ध और अधिक घनिष्ठ हो ताकि उनकी हिन्दुओं से भिन्नता स्पष्ट हो सके। किन्तु स्वामीजी इस प्रवृत्ति को खतरनाक समझते थे और उन्होंने आर्य समाज की व्यापकता पर बल देते हुये आग्रह किया कि आर्यसमाजी इस बात

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सावधानी रखें कि वे अपनी जाति के लोगों की दृष्टि में आदर की दृष्टि से देखे जायें और उसके पूरी तरह से सदस्य बने रहें ।

खान–पान के बंधन

प्रो. जोर्डन ने अपनी उपरोक्त बातों के समर्थन में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है और न ही स्वामीजी के किसी ग्रन्थ या उपदेश के सन्दर्भ का ही उल्लेख किया है । वस्तुत: श्री जोर्डन का यह तर्क कि जात-पांत के बन्धनों को स्वीकार करने से आर्य समाज एक सम्प्रदाय के दायरे से निकल कर एक व्यापक संगठन बन सकेगा, परस्पर विरोधी बात है । क्योंकि जात-पांत के अनेक प्रतिबन्धों ने ही हिन्दू समाज को छोटे-छोटे संकीर्ण सम्प्रदायों और दायरों में सीमित कर दिया है । ऐसी स्थिति में उनका अनुकरण करके आर्यसमाज अधिक व्यापक संगठन कैसे बन सकता है यह समझना कठिन है। जहाँ तक स्वामीजी की मान्यताओं का प्रश्न है सत्यार्थप्रकाश के 10 वें सम्मुलास में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में हिन्दुओं के वर्तमान चौके चूल्हे और भोजन सम्बन्धी छुआछूत का खण्डन किया है । इतना ही नहीं उन्होंने तो भोजन बनाने का कार्य जिन्हें हम अछूत या शूद्र कहते हैं उन्हीं के द्वारा कराये जाने का समर्थन किया है । ऐसी स्थिति में जोर्डन का यह कहना कि किसी नीची जाति की स्त्री द्वारा बनाये जाने के कारण उन्होंने किसी ब्रह्मसमाजी के यहाँ भोजन करना अस्वीकार कर दिया स्वामीजी पर एक असत्य लाँछन है ।[1] भक्ष्याभक्ष्य के सम्बन्ध में स्वामीजी ने प्रश्नोत्तर के रूप में निम्न विचार व्यक्त किये हैं उनसे श्री जोर्डन का न केवल उपरोक्त कथन अपितु जाति-पांति के बन्धनों के समर्थन की स्वामीजी द्वारा जो बातें लिखी है वे सब निराधार सिद्ध होती हैं ।

प्रश्न —आर्यावर्त्त देशवासियों का आर्यावर्त्त देश से भिन्न-भिन्न देशों में जाने से आचार नष्ट हो जाता है या नहीं ?

उत्तर—यह बात मिथ्या है क्योंकि जो बाहर भीतर की पवित्रता करनी, सत्यभाषणादि आचरण करना है वह जहां कहीं करेगा आचार और

1 देखें रामलाल कपूर का ट्रस्ट सन् 1972 का सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ 400

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
धर्म नष्ट कभी न होगा और जो आर्यावर्त्त में रहकर भी दुष्टाचार करेगा वही धर्मभ्रष्ट कहावेगा।

प्रश्न —सखरी निखरी क्या है ?

उत्तर—सखरी जो जल आदि में अन्न पकाये जाते और जो घी दूध में पकाये जाते हैं वह निखरी अर्थात् चोखी यह भी इन धूर्तों का चलाया हुआ पाखण्ड है क्योंकि जिसमें घी दूध अधिक लगे उसको खाने में स्वाद और उदर में चिकना पदार्थ अधिक जावे इसीलिये यह प्रपंच रचा है। जो पक्का खाना और कच्चा न खाना है यह भी सर्वत्र ठीक नहीं। क्योंकि चने आदि कच्चे भी खाये जाते है।

प्रश्न —द्विज अपने हाथ से रसोई बना के खावे या शूद्र की बनाई खावे।

उत्तर—शूद्र के हाथ की बनाई खावे क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णस्थ स्त्री पुरुष विद्या पढ़ाने, राज्य पालने और पशुपालन, खेती और व्यापार के काम में तत्पर रहे।

प्रश्न —फल, फूल, कन्द और रस इत्यादि अदृष्ट में दोष नहीं मानते ?

उत्तर—अच्छा तो भंगी या मुसलमान अपने हाथों से दूसरे स्थान में बनाकर तुमको आके देवे तो खा लोगे या नहीं ? जो कहो कि नहीं तो अदृष्ट में भी दोष है।

इसी प्रकार श्री जोर्डन ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि किस प्रकार स्वामीजी अपने अन्तिम वर्षों में कट्टरपन्थी हिन्दुओं और उनके सम्प्रदायों के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करने लगे थे। वे लिखते हैं कि अपने जीवन के इन अन्तिम वर्षों में स्वामीजी का बहुत-सा समय और शक्ति ऐसे कार्यों में व्यतीत हुई जिनके कारण उनका तथा आर्य समाज का सम्बन्ध व्यापक हिन्दू जगत् के साथ जुड़ता गया। हरिद्वार में उन्होंने जो सार्वजनिक ज्ञापन प्रकाशित किया उसमें अपनी इस नीति को स्पष्ट किया कि भविष्य में संघर्ष के स्थान में समझौता उनकी कार्यपद्धति का आधार होगा। आर्यसमाज जो एक पृथक् सम्प्रदाय होने के लक्षण प्रदर्शित कर रहा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
था इसलिए यह आवश्यक था कि वह समस्त हिन्दुओं का केन्द्र बिन्दु बनकर उनकी सद्भावना प्राप्त करे जिससे इस प्रकार सब हिन्दू उसको स्वीकार कर लें। थियेसोफिस्टों के साथ भी इसी उद्देश्य से मेलजोल किया गया और परोपकारिणी सभा के ट्रस्ट का संगठन भी इसी विचार का द्योतक था। किन्तु इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम आर्यसमाज ने अपने आपको तीन प्रमुख आन्दोलनों से सम्बन्धित करके उठाया। पहला था इन्द्रमणि का केस, दूसरा गौरक्षा और तीसरा हिन्दी आन्दोलन। इन तीनों में बहुत से हिन्दू जातपांत, सम्प्रदाय और प्रान्तीय सीमाओं को लांघ कर एकत्रित हुये थे। आर्यसमाज भी इन में उत्साहपूर्वक सहयोग देकर यह सिद्ध करना चाहता था कि वह भी विशाल हिन्दू राष्ट्रवाद का समर्थक है। ये तीनों आन्दोलन स्वामीजी ने प्रारम्भ नहीं किये थे, वे तो पहले से ही पूरी तरह से प्रारम्भ हो चुके थे और स्वामीजी उनके समर्थन के लिए उनमें सहायक बने थे क्योंकि अनेक हिन्दू पूरी तरह से इन आन्दोलनों से जुड़े हुए थे। इन तीनों आन्दोलनों की एक समान बात यह थी कि वे मुसलमानों और ब्रिटिश राज्य दोनों के विरुद्ध थे। इस प्रकार स्वामीजी आर्यसमाज को कट्टर पन्थी और साम्प्रदायिक हिन्दुओं का सहयोगी बनाकर उनके निकट ले आये जिसके परिणामस्वरूप भावी हिन्दू संगठन के आन्दोलन का प्रारम्भ हो सके जो 1920-40 में आगे बढ़ा। स्वामीजी के विचारों में हुये अन्य परिवर्तनों का जिक्र करते हुये जोर्डन आगे लिखते हैं कि—

अन्तिम वर्षों में उनके विचारों में एक और नया मोड़ आ गया। सच्ची नैतिकता की खोज के उनके पहले के वर्षों में स्वामीजी ने कट्टर पन्थियों के रीति-रिवाजों को तोड़ने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया और इस प्रकार इन रीति-रिवाजों के बन्धनों को तोड़ने के कारण उनके अनुयायियों को सामाजिक बहिष्कारों आदि द्वारा दण्डित होना पड़ा। यद्यपि अब भी स्वामीजी ने अपनी इस मान्यता को नहीं छोड़ा कि इन सामाजिक बन्धनों का न कोई धार्मिक आधार है और न ही कोई शास्त्रीय प्रमाण। फिर भी अब वे उन्हें तोड़ने के बारे में अधिक सावधानी बरतने लगे और उन्होंने अपने आर्यों को भी ऐसा ही करने के लिये प्रेरित किया। यह अपने सिद्धान्तों

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का त्याग करने की बात नहीं थी बल्कि केवल एक व्यावहारिक नीति थी। यदि वे और उनके आर्य, हिन्दू समाज में परिवर्तन के लिये दूध में जामण का कार्य करने में सफल होना चाहते थे तो उनके लिये इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि वे कोई ऐसा कार्य न करें कि जिसके कारण हिन्दू समाज उन्हें अपने में से अलग या बहिष्कृत करने के लिये विवश हो जाय। समाज से बहिष्कृत होने का अर्थ यही होता कि वे बाहर रहकर प्रभावहीन हो जाते जैसे ब्रह्मसमाजी हो गये।

यह विचित्र बात है कि श्री जोर्डन ने स्वामीजी के विचारों में परिवर्तन जैसे महत्व के प्रश्न के समर्थन में जो कुछ लिखा है कि उसका सम्बन्ध परम्परागत भोजन और जाति सम्बन्धी बन्धनों से हैं। प्रश्न यह है कि यदि उनके द्वारा दिये गये उदाहरण, जिनका कोई प्रमाण नहीं है, सही भी हो तो क्या इन छोटी-मोटी बातों के आधार पर इतना दीर्घगामी निष्कर्ष निकालना उचित है कि स्वामीजी ने हिन्दू धर्म और उसके रीति-रिवाजों के विरुद्ध जो कुछ लिखा और जीवन पर्यन्त उनका विरोध किया उन सब मौलिक और आधारभूत मान्यताओं को उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में त्याग दिया। जोर्डन के अनुसार इसका यही अर्थ हो सकता है कि स्वामीजी ने हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में अपनी पहले की असहमति छोड़कर उसके समर्थन का मार्ग अपनाना उपयुक्त समझा ताकि आर्यसमाज का घनिष्ठ सम्बन्ध कट्टर पन्थी हिन्दुओं के साथ बना रहे। श्री जोर्डन ने गौरक्षा तथा हिन्दी आन्दोलनों का भी उदाहरण यही सिद्ध करने के लिए दिया है क्योंकि उनके अनुसार यह भी कट्टरपन्थी हिन्दुओं द्वारा पहले ही चलाये गये थे। स्वामीजी के जीवन और विचारों से परिचित कोई व्यक्ति ऐसी बातें मानने की भूल नहीं कर सकता। दूसरे जहाँ तक हिन्दी का प्रश्न है उसे राष्ट्रीय भाषा बनाये जाने की सर्वप्रथम घोषणा कट्टरपन्थी हिन्दुओं द्वारा नहीं अपितु स्वयं स्वामीजी द्वारा ही की गई थी।

जोर्डन की स्वीकारोक्ति

खान-पान सम्बन्धी जाति-पांति के बन्धनों के बारे में स्वामीजी के मत

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्तन की बात कितनी उपहासास्पद है यह स्वयं श्री जोर्डन के निम्न-लिखित कथन से स्पष्ट होती है। वे लिखते हैं

हिन्दू समाज में प्रचलित भोजन सम्बन्धी जात-पांत के बन्धनों का कोई धार्मिक आधार नहीं है। स्वामीजी की इस मान्यता में अन्तिम समय तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ था, उनका कहना था कि वही भोजन दूषित होता है जो पापपूर्ण साधनों से प्राप्त किया जाता हो अथवा जिसमें अपवित्र चीजों का मिश्रण किया गया हो। एक समय जब उन्होंने चौके के बाहर भोजन किया तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि मुझे न जाति-बन्धन की चिन्ता है और न इस बात की कि मैं जाति से बहिष्कृत कर दिया जाऊंगा। एक बार एक ईसाई मिश्नरी ने उनसे पूछा कि क्या वे उसके हाथ का भोजन कर सकते हैं तो उनका उत्तर था, निश्चय ही मैं आपका छुआ हुआ भोजन कर सकता हूँ। इतना ही नहीं मैं अन्य किसी के भी हाथ का भोजन कर सकता हूं चाहे वह कितनी ही छोटी जाति का क्यों न हो? उनके जीवन में कई ऐसे उदाहरण हैं जब उन्होंने अछूत समझे जाने वाले व्यक्तियों का भोजन स्वीकार करके खान-पान सम्बन्धी जाति प्रतिबन्धनों के विरुद्ध जानबूझ कर कार्य किया है। एक बार जब वे भोजन कर रहे थे तो उन्होंने एक मुसलमान तक को अन्दर बुलाया। यद्यपि संन्यासी होने के नाते खान-पान सम्बन्धी यह बन्धन उन पर लागू नहीं होता, किन्तु फिर भी उनके क्रान्तिकारी विचारों के कारण कट्टरपन्थी लोग उनका विरोध करते थे। किन्तु जीवन के अन्तिम दिनों में लोगों की इस प्रकार की नाराजगी से बचने का वे बड़ा ध्यान रखने लगे।" जोर्डन महोदय का यह विवरण स्वयं उनके ऊपर के निष्कर्ष का खण्डन करता है। श्री जोर्डन स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि "जिन दिनों स्वामीजी ने खान-पान सम्बन्धी बन्धनों के बारे में अपनी नीति में नरमी करना प्रारम्भ किया उन दिनों में भी स्वामीजी इन बन्धनों का खण्डन करते रहे।" स्वामीजी की मान्यता और व्यवहार में इस प्रकार के विरोधा-भास की कल्पना तक नहीं की जा सकती क्योंकि उन्होंने जीवन भर अपनी मान्यताओं के साथ कभी समझौता नहीं किया और उनका निर्भयता पूर्वक पालन किया। स्वयं श्री जोर्डन उनके जीवन के अन्तिम दिनों के बारे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में भी यह स्वीकार करते हैं और लिखते हैं कि—"एकबार स्वामीजी किसी नैतिक या धार्मिक सिद्धान्त की सत्यता अनुभव कर लेते थे तो फिर वे उसमें किसी बात को बाधक नहीं होने देते थे। अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्ति और यहाँ तक कि उनके शुभचिन्तक मित्रों ने भी समय-समय पर उन्हें इन सिद्धान्तों के बारे में समझौता कराने का असफल प्रयत्न किया। किन्तु स्वामीजी ने निर्भयतापूर्वक और कभी-कभी कड़ाई के साथ ऐसा समझौता करने से इन्कार कर दिया उनके प्रभाव में कमी की सम्भावना, उनका बहिष्कार अथवा मित्रों की नाराजगी यहां तक कि अपनी जान जोखिम का खतरा, धन और प्रतिष्ठा का प्रलोभन अथवा उनके सुधारों की सफलता की आशंका आदि कोई बात उन्हें अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकी।" स्वामीजी के दृढ़ चरित्र के बारे में स्वयं श्री जोर्डन महोदय का यह मूल्यांकन उनके इस निष्कर्ष को गलत सिद्ध करता है कि स्वामीजी ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जात-पांत या खान-पान जैसे मामलों में कोई समझौता किया हो। विशेषकर जब वे यहाँ तक स्वीकार करते हैं कि स्वामीजी के द्वारा प्रतिपादित सुधारों की सफलता के लिये भी स्वामीजी ऐसा करने को तैयार नहीं हुए तो उनका पहले का यह कथन कि स्वामीजी अपने प्रचार कार्य की सफलता के लिए हिन्दू समाज को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे परस्पर विरोधी और सर्वथा असंगत है।

अडिग दयानन्द

जोर्डन महोदय आगे यहां तक लिखते हैं—"दयानन्द की मान्यताओं में किसी प्रकार का परिवर्तन न तो उन पर लगाये गये लांछनों और न ही उनके प्रभावों में कमी की धमकियों से किया जा सकता था।" और फिर जैसा स्वयं श्री जोर्डन स्वीकार करते हैं कि "कट्टरपन्थी हिन्दू भी साधू और संन्यासियों के लिए खाने-पीने में छुआछूत सम्बन्धी बन्धनों को लागू नहीं मानते क्योंकि संन्यासी की कोई जात नहीं होती।" इसलिए खाने-पीने सम्बन्धी बन्धनों को न मानने के कारण दयानन्द जैसे संन्यासी के प्रति कट्टर-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्थी हिन्दुओं की नाराजगी का प्रश्न ही पैदा नहीं होता और इसलिए उसके कारण स्वामीजी को अपनी मान्यताओं में परिवर्तन स्वीकार करने की वैसे भी कोई आवश्यकता नहीं थी और न ही गौ-रक्षा अथवा हिन्दी आन्दोलनों में हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त करने या उन्हें समर्थन देने के लिए ऐसा करने की जरूरत थी। मुंशी इन्द्रमणि पर मुस्लिम विरोधी लेख लिखने के लिए सरकार द्वारा कार्यवाही पर कट्टरपन्थी हिन्दुओं की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कोई प्रश्न नहीं था। वैसे भी इन तीनों में से किसी मामले का सम्बन्ध खान-पान के बारे में किन्हीं बन्धनों से नहीं था। यह ऐसे विषय थे जिनके सम्बन्ध में भिन्न जाति और सम्प्रदायों के हिन्दू एक मंच पर आसानी से एकत्रित हो सकते थे। जैसे इसी प्रकार के सरकारी, राजनैतिक आदि मामलों में होते रहे हैं जिनका हिन्दू जातिप्रथा या खान-पान से कोई वास्ता नहीं था। इसलिए भी इन प्रश्नों के बारे में आर्यसमाज की लोकप्रियता को कोई खतरा नहीं था और न ही इस बात की कोई सम्भावना थी कि यदि स्वामीजी इस प्रकार का समझौता न करते तो कट्टर हिन्दू उनसे अप्रसन्न हो जाते। बारहाल कट्टरपन्थी हिन्दुओं को अप्रसन्न करने वाले अन्य कहीं अधिक महत्वपूर्णऔर गम्भीर कार्य प्रचार और व्यवहार स्वामीजी करते रहे। उदाहरण के लिए मूर्तिपूजा जैसे मूलभूत प्रश्न पर उन्होंने हिन्दू धर्म के अनुयायियों के साथ समझौता करने की कभी आवश्यकता नहीं समझी। हिन्दुओं को सबसे अधिक अप्रसन्न करने वाली बात उनके द्वारा मूर्तिपूजा का खण्डन करना था किन्तु उनके अनेक भक्तों द्वारा की गई प्रार्थना के उपरान्त भी उन्होंने उसे छोड़ना तो दूर उसमें नरमी तक नहीं आने दी।

अजमेर प्रवास में श्री श्यामसुन्दर दास ने उनको ठीक इसी आधार पर मूर्तिपूजा के खण्डन में नरमी दिखाने को कहा था जिस आधार पर श्री जोर्डन ने अपनी कल्पना से उपरोक्त निष्कर्ष निकाला था अर्थात् ऐसा करने से स्वामीजी हिन्दुओं में अधिक लोकप्रिय हो सकते थे। स्वामीजी ने राय साहब को उत्तर दिया "कि यदि आज मैं हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए मूर्तिपूजा का विरोध या खण्डन करना छोड़ दूं तो मुझे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कालान्तर में अपने अन्य सिद्धान्तों के बारे में भी ऐसा ही समझौता करना पड़ेगा और परिणामस्वरूप आर्यसमाज हिन्दू धर्म में विलीन हो जायेगा।" स्पष्ट है कि स्वामीजी के इस उत्तर की पृष्ठभूमि में श्री जोर्डन का यह कथन कि उन्होंने हिन्दुओं के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने के लिए जांत-पांत या खान-पान के महत्त्वहीन और मूर्खतापूर्ण बन्धनों को स्वीकार कर लिया सर्वथा निराधार कल्पना मात्र है। इसी प्रकार अन्य धार्मिक और सामाजिक मामलों में भी पौराणिक हिन्दुओं से आर्यसमाज का गंभीर मतभेद बना रहा जो इन छोटी-मोटी बातों के कारण समाप्त नहीं हो सकता था। इन मौलिक मतभेदों के सम्बन्ध में आज तक भी आर्यसमाज अधिकांश हिन्दुओं को अपने साथ नहीं कर पाया है यद्यपि ऋषि दयानन्द की स्पष्ट मान्यताओं के विपरीत उनके बाद उनके अनुयायियों ने हिन्दू जाति-प्रथा के साथ विवाह आदि जैसी खान-पान से कहीं अधिक मौलिक बातों में समझौता कर लिया है। जोर्डन की कल्पित अपेक्षा के विपरीत हिन्दू धर्म तथा उसकी जात-पाँत आदि सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ तथाकथित समझौते के कारण आर्यसमाज को लाभ के स्थान में हानि अधिक हुई है। जैम्स हैस्टिंग्ज ने अपने धर्मों के विश्व कोष में जहां आर्य-समाज और उसके सुधार कार्यों की प्रशंसा की है वहां इसी समझौते के कारण उसके भविष्य के सम्बन्ध में गंभीर चेतावनी दी है। वे लिखते हैं कि "आर्यसमाज ने कट्टर हिन्दू समाज से अपना जो निकट का सम्बन्ध बनाये रखा और विशेषकर इस बात के कारण कि बहुत कम आर्यसमाजियों ने जात-पांत के बन्धनों को तोड़ा है इस से यह आशंका उत्पन्न होती है कि कहीं वह हिन्दू धर्म के अन्धकूप में विलीन न हो जाये, जैसी कुछ लोग अपेक्षा करते हैं अन्यथा आर्यसमाज बौद्धिक और तर्क समस्त धरातल और ऊंचे स्थान पर पहुँच सकता है।"

जात-पांत का खतरा

आर्यसमाज के बाद के इतिहास से यह भविष्यवाणी सही सिद्ध हो रही है कि आर्यसमाज को यदि सबसे अधिक किसी बात से हानि हुई है तो

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह है हिन्दुओं की सर्वभक्षी जात-पांत से अपने आपको सर्वथा अलग रखने में उसकी असफलता । आर्यसमाज की वर्तमान निर्बलता का सबसे बड़ा कारण ही हिन्दुओं की जातिप्रथा है। इसलिये यह कथन सर्वथा सही है कि यह जातिप्रथा उस गहरी नमक की झील के समान है जिसमें लोहा तक जंग लगकर एक भुर-भुरा नमक का ढेला बन जाता है। यद्यपि यह परिवर्तन शनैः शनैः और अनदेखे होता है। बिना शक्ल-सूरत और तथाकथित लचीले समझौतावादी हिन्दू धर्म ने इसीलिये अनेक धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियों और सुधारों को अपने में हजम करके समाप्त कर दिया। वह अपनी उदारता और सहनशीलता के झूठे आवरण में सुधार के प्रयत्नों को ही नहीं उसका विरोध तक करने वाले प्रयत्नों तक को उभरने से पहले ही हजम कर लेता है। यह आश्चर्य की बात है कि श्री जोर्डन जैसे गम्भीर विचारक हिन्दुओं की जाति प्रथा के इस खतरे को नहीं समझ पाये और उसे आर्यसमाज के लिये घातक समझने के स्थान पर सहायक मानने की भूल कर बैठे। जात-पांत का यह भस्मासुर न केवल हमारी सामाजिक और धार्मिक प्रगति में बाधक है अपितु वर्तमान राजनैतिक जीवन के लिये भी सबसे बड़ा खतरा है।

दयानन्द की लोकप्रियता

यदि हिन्दू समाज ने दयानन्द और आर्यसमाज को किसी हद तक स्वीकार किया है और उसे हिन्दुओं में कुछ लोकप्रियता प्राप्त हुई है तो उसका कारण खान-पान जैसी छोटी-मोटी बातों के बारे में कोई समझौता न होकर बल्कि अन्य अनेक महत्वपूर्ण बातें है। दयानन्द पहले व्यक्ति थे जिन्होंने निस्सहाय हिन्दू धर्म पर निरन्तर आक्रमण करने वाले मुस्लिम मौलवियों और ईसाई मिशनरियों को उनके घर में जाकर ललकारा था। यद्यपि हिन्दू पण्डे पुजारियों ने इस के लिये स्वामीजी का अहसान नहीं माना किन्तु मध्यम वर्ग तथा शिक्षित और तथाकथित अछूत और पिछड़ी जातियों के हिन्दुओं ने उनका स्वागत किया। उदाहरण के लिये जिन जाटों को अब तक छोटी जाति का समझा जाता था उन्हें स्वामीजी ने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
क्षत्रिय कहकर समानता का अधिकार दिया और जिन्हें अछूत समझा जाता था उन्हें यज्ञोपवीत तक धारण कराके ब्राह्मण बनने का अवसर दिया। हिन्दू समाज में चिरकाल से पददलित स्त्री जाति को न केवल समानता का अपितु पुरुषों से श्रेष्ठ स्थान दिया। अनेक अंग्रेजी पढ़े लिखे हिन्दुओं के सामने एक बड़ा संकट यह था कि जहाँ वे अपनी पुरानी मान्यताओं के प्रति विश्वास खाते जाते थे वहां उनसे छूटने का उनके सामने केवल यही उपाय था कि वे हिन्दू समाज और धर्म को छोड़कर ईसाई बन जाये। स्वामीजी ने उनकी इस कठिन समस्या को भी हल कर दिया और इन परम्परागत अन्धविश्वासों और कुरीतियों को छोड़ने के बाद भी उनके लिए अपनी प्राचीन संस्कृति और धर्म का अनुयायी बने रहने का मार्ग खोल दिया। इतना ही नहीं राष्ट्रीय और राज-नैतिक क्षेत्रों में स्वामीजी ने नई आशायें और दिशाओं की प्रेरणा दी। हिन्दी और गौरक्षा से कहीं अधिक महत्त्व की इन्हीं बातों के कारण आज भी दया-नन्द को नवीन भारत का स्वप्नदृष्टा समझा जाता है। यहाँ तक कि सर वेलेन्टाइन शिरोल जैसे उनके अंग्रेज समालोचक भी उन पर यही दोषारोपण करते हैं कि उन्होंने हिन्दी और गौरक्षा जैसे आन्दोलन भी केवल विदेशी राज्य का विरोध करने की नियत से प्रारम्भ किये थे। शिरोल का कथन है कि यद्यपि वेदों में गौहत्या का प्रावधान है फिर भी स्वामीजी ने गौरक्षा आन्दोलन को अपने कार्यक्रम में इसलिये शामिल कर लिया था कि उसके आधार पर हिन्दुओं की भावना उकसा कर उन्हें अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध किया जा सके। इतना ही नहीं गौरक्षा एक ऐसा विषय था जिसके आधार पर हिन्दुओं को मुसलमान और ईसाई दोनों के विरुद्ध भी उकसाया जा सकता था। वेलनटाइन शिरोल कहते हैं कि इस प्रकार यह स्पष्ट है कि दयानन्द की शिक्षाओं का उद्देश्य हिन्दुओं के धर्म में सुधार करना उतना नहीं था जितना विदेशी प्रभाव के विरुद्ध उन्हें सक्रिय करना था क्योंकि उनकी सम्मति में इन विदेशी प्रभावों के कारण ही हिन्दू अपना राष्ट्रीय अस्तित्व खोते जा रहे थे।

गौ-रक्षा

गौरक्षा के प्रश्न पर सनातनी हिन्दुओं और स्वामीजी में उद्देश्यों की समानता होने पर भी दोनों के दृष्टिकोणों में एक महत्वपूर्ण अन्तर था।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने अपनी पुस्तक 'गौकरुणानिधि' में भारत की अर्थव्यवस्था में गाय तथा उसके बछड़ों और बैलों की उपयोगिता पर बल देते हुए गौरक्षा का समर्थन किया था। किन्तु दूसरी ओर पौराणिक हिन्दू गाय को माता के समान पवित्र मानकर अपने इस धार्मिक विश्वास को अधिक महत्त्व देते थे। आज भी हम देखते हैं कि केवल इस धार्मिक भावना से प्रेरित गौरक्षा के प्रयत्न वास्तव में गऊओं की रक्षा करने में सफल नहीं हो सके हैं। हमारी गौ-शालाओं में और यहां तक हिन्दू घरों में भी गऊओं की जितनी उपेक्षा की जाती है उतनी गौ-मांस खाने वाले देश अमेरिका में भी नहीं होती। हम केवल विशेष अवसरों पर उसकी पूजा अथवा उसे एक गौ-ग्रास खिला कर अपनी धार्मिक मान्यता पूरी कर लेते हैं। परिणामस्वरूप भारत में करोड़ों गायें भूखी और उपेक्षित रहकर शनैः शनैः मर जाती हैं। स्वामीजी केवल गऊओं की हत्या बन्द करने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे कहते थे कि उनके रहन-सहन और चारे आदि की भी उतनी ही चिन्ता करनी चाहिये ताकि वे हृष्ट-पुष्ट होकर अधिक मात्रा में दूध दे सके और उनके बछड़े आदि भी कृषि के कार्य में उपगोगी सिद्ध हो सकें। इस प्रकार जहां स्वामीजी वेलेन्टाईन शिरोल आदि पाश्चात्य समालोचकों की इस बात को सर्वथा असत्य मानते थे कि वेदों में गौहत्या और गौ-मांसभक्षण का प्रावधान है वहां वे गाय की केवल धार्मिक पूजा का भी समर्थन नहीं करते थे। स्पष्ट है कि स्वामीजी का उनकी दृष्टिकोण व्यावहारिकता और उपयोगिता पर आधारित था न कि केवल धार्मिक भावना पर। उन्होंने न केवल गऊओं की हत्या का ही विरोध किया अपितु अन्य बैल आदि पशुओं की हत्या के भी वे विरोधी थे। स्वामीजी के सम्बन्ध में उपरोक्त गलत धारणाओं के सम्बन्ध में मैंने श्री जोर्डन को जो पत्र लिखा था उसके उत्तर में वे लिखते हैं कि—

"आप द्वारा मेरी पुस्तक के बारे में की गई समालोचना का मैं स्वागत करता हूं और आपकी इस बात से सहमत हूँ कि आर्यसमाज हिन्दुओं में सम्मिलित रहे इसलिए दयानन्द हिन्दुओं से समझौता करने के लिये उत्सुक थे, यह बात निराधार है। किन्तु मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मैंने अपनी पुस्तक में इस प्रकार की कोई बात नहीं कही हैं।" श्री जोर्डन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ने अपने पत्र में यह भी लिखा है कि "मेरा तर्क यह था कि दयानन्द यह नहीं चाहते थे कि आर्यसमाजी जाति से बहिष्कृत होकर प्रभावहीन हो जाये। वे वैदिक धर्म का पुनरोद्धार करना चाहते थे जिसका स्थान पौराणिक हिन्दू धर्म ने ले लिया था। किसी हिन्दू सम्प्रदाय का गुरु बनना उनको बड़ा भयानक प्रतीत होता था। वे यह चाहते थे कि लुप्तप्राय: वेदों के धर्म की पुनः स्थापना और प्रचार का कार्य आर्यसमाज करे किन्तु गुरुडम और साम्प्रदायिकता के खतरे से वे अवगत थे और उससे बचना चाहते थे।"

श्री जोर्डन के इस स्पष्टीकरण का मैं स्वागत करता हूँ क्योंकि उससे मेरे उपरोक्त विवेचन का समर्थन होता है किन्तु उन्होंने अपनी पुस्तक में जिस प्रकार अपनी मान्यता को व्यक्त किया है उससे यह भ्रम होना स्वाभाविक है जिसकी मैंने समीक्षा की है। एक और बात स्पष्ट समझने की यह है कि आर्यसमाज अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखकर ही एक व्यापक धर्म बना रह सकता है। हिन्दू धर्म का अंग बनकर तो वह उसका एक सम्प्रदाय ही समझा जायेगा। दुर्भाग्य से जोर्डन के समान स्वयं आर्यसमाज के कुछ हिन्दुनिष्ठ अनुयायी भी जो इस सम्बन्ध में अस्पष्ट विचार व्यक्त करते हैं उससे भी यही भ्रम उत्पन्न होता है कि वे आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का ही एक सम्प्रदाय बनाये रखना चाहते हैं। चाहे जो हो हम ऊपर बता चुके हैं कि स्वामीजी ने हिन्दू जाति प्रथा से बहिष्कृत न होने के लिये कभी कोई प्रयत्न नहीं किया। वस्तुत: इस प्रकार के प्रयत्न से आर्यसमाज अधिक तो क्या उतना भी प्रभावशाली आन्दोलन न बन पाता जितना वह वास्तव में बना है। दयानन्द किसी सम्प्रदाय के गुरु बनने के कट्टर विरोधी थे जोर्डन का यह कथन सर्वथा सही है। यह स्वामीजी के जीवन कार्य तथा विचारों से भी सिद्ध होता है किन्तु इनसे अधिक भय उनको इस बात का भी था कि कहीं उनके द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म उस पौराणिक हिन्दू धर्म का ही एक सम्प्रदाय न बन जाये जिसे वे जड़मूल से बदलकर वे प्राचीन वैदिक धर्म के रूप में परिवर्तित करना चाहते थे। यदि आर्यसमाज को वे हिन्दू धर्म या उसकी जाति व्यवस्था के अन्दर सीमित रखने का तथाकथित कोई प्रयत्न करते तो उसका परिणाम ठीक वह होता जिसका उन्हें भय था और जो अब उनके अनेक अनुयायियों की समझौतावादी प्रवृत्ति के सामने आ रहा है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

 Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि जोर्डन ने हिन्दू धर्म के "व्यापक क्षेत्र" या श्री गजेन्द्रगड़कर की "विशाल परिधि" के नाम पर आर्यसमाज उसमें विलीन हो जाता तो वह रविन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में हिन्दू धर्म के मत-मतान्तरों और रीति-रिवाजों के घबरा देने वाले झाड़ झंकाडों की एक टहनी बन जाता। इस बात को सिद्ध करने के लिए किसी विशेष तर्क या युक्ति की आवश्यकता नहीं है। यदि आर्यसमाज को स्वामी दयानन्द की कल्पना के प्राचीन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना और प्रचार-प्रसार का साधन बना रहना है, जैसा जोर्डन कहते हैं, तो उसके लिये उसे अपना स्वतन्त्र और पृथक् अस्तित्व बनाये रखना भी अनिवार्य है अन्यथा वह भी अन्य सुधारक आन्दोलनों के समान पौराणिक हिन्दू धर्म की नमक की खान में विलीन हो जायेगा। यदि पौराणिक हिन्दू धर्म ने आज प्राचीन वैदिक धर्म का स्थान ले लिया है जैसा जोर्डन भी स्वीकार करते हैं तो उसे पुनःस्थापित करने का एक ही रास्ता है और वह यह कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म वर्तमान हिन्दू धर्म का पूरी तरह से स्थान ग्रहण कर ले। यह एक विचित्र और विकृत तर्क होगा कि चूंकि दयानन्द हिन्दू धर्म के स्थान में वैदिक धर्म स्थापित करना चाहते थे इसलिये उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय बनकर उसमें विलीन हो जाना चाहिये। इस स्थिति में आर्यसमाज के सामने दो ही विकल्प हैं अर्थात् या तो वह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाए रखें या फिर हिन्दू धर्म में मिल जाये। इन दोनों में से उसे एक को चुनना होगा दोनों बातें वह एक साथ नहीं कर सकता। यदि उसने वैदिक धर्म और हिन्दू धर्म की इन दोनों नावों पर एक साथ पैर रखने का प्रयत्न किया तो उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इस पुस्तक में अन्यत्र इस प्रश्न पर विवेचन किया गया है कि हिन्दू धर्म वास्तव में कोई संगठित धर्म है या वह केवल एक जीवन पद्धति है। यदि वह आधुनिक अर्थ में कोई धर्म है तो वह जिसे हम पौराणिक या सनातनी धर्म कहते हैं वही हो सकता है। हम यह भी देख चुके हैं कि अनेक ऐसे हिन्दू हैं जो पौराणिक धर्म के अनुयायी नहीं हैं। वे केवल सामाजिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ही हिन्दू कहे जा सकते हैं। हिन्दू और

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हिन्दू धर्म के इस भेद या भिन्नता को समझने के बाद यह आसानी से समझ में आ सकता है कि आर्यसमाज एक व्यापक अर्थ में हिन्दू समाज का अंग होते हुए भी वह हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं है।

वस्तुतः स्वयं हिन्दुओं के सुधार और संगठन की दृष्टि से भी आर्यसमाज की यह स्थिति आवश्यक है। जो लोग हिन्दू राष्ट्र की कल्पना करते हैं उसका आधार वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म नहीं हो सकता इसलिये इस स्वप्न को पूरा करने में आर्यसमाज तभी योगदान दे सकता है जब जोर्डन के शब्दों में वह ऋषि दयानन्द की इस इच्छा को पूरी करने में समर्थ हो कि खोये हुए वैदिक धर्म की पुनः स्थापना की जाये।

△△

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 12

मुक्तिदाता

दयानन्द के जीवन चरित्र में एक ऐसी घटना का उल्लेख मिलता है जिसे उनके प्रशंसक दयानन्द की अहिंसावादिता का प्रमाण मानते हैं। अपने व्यक्तिगत जीवन में अहिंसा में विश्वास का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है। यह घटना जोधपुर में उनको विष देने से सम्बन्धित है। जोधपुर के तत्कालीन महाराजा महल की एक नर्त्तकी के प्रति आसक्त थे और परिणामस्वरूप वे अपने राजकाज के कर्त्तव्य की उपेक्षा करते थे। यह देखकर स्वामीजी ने उस नर्तकी के सामने ही महाराजा की भर्त्सना की। वह नर्तकी स्वामीजी से अप्रसन्न हो गई और उनके रसोइये को लोभ देकर स्वामीजी को दूध में जहर पिला दिया। जब वह रसोइया गिरफ्तार होकर स्वामीजी के सम्मुख पेश किया गया तो स्वामीजी ने उसे यह कहकर छुड़वा दिया कि मेरे जीवन का उद्देश्य लोगों को कैद कराना नहीं बल्कि बन्धनमुक्त कराना है। अपने हत्यारे के प्रति उनका यह व्यवहार मानव की प्रत्येक प्रकार की दासता के विरुद्ध उनके दृष्टिकोण का प्रतीक है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामीजी का मुख्य लक्ष्य मानव मात्र को सब प्रकार की गुलामी की बेड़ियों से मुक्त कराना था, यह गुलामी चाहे धार्मिक हो या राजनैतिक।

हिन्दू जीवन जंजाल

दकियानूसी रीति-रिवाजों, व्यर्थ के कर्मकाण्डों और हानिकारक परम्पराओं के जाल में फंसे हुए हिन्दुओं का जीवन और यहां तक कि अस्तित्व दयनीय बन गया था। अनेक ब्राह्मण पुरोहित जो स्वयं अज्ञान और अन्धविश्वास के शिकार थे जन्म से मृत्यु तक की समस्त घटनाओं को नियन्त्रित करते थे।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
यदि हिन्दू को कहीं की यात्रा करनी हो तो शुभ दिनों के लिए ब्राह्मण की राय लेनी होती थी, यदि उसे विवाह करना हो, कोई व्यापार या अन्य कार्य करना हो अथवा स्वयं अपने नये घर में प्रवेश करना हो तो वह ब्राह्मण से शुभ दिन और समय पूछे बिना नहीं कर सकता था। एक कट्टर हिन्दू के लिये यह आवश्यक है कि वह खान-पान के मामले में ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित नियमों का पालन करे यहां तक कि क्या खाना, कब खाना या कहाँ खाना चाहिये इस पर भी अनेक बन्धन थे। उदाहरण के लिये टमाटर रक्त के लाल रंग के होने के कारण उन्हें खाना वर्जित था। कुछ अन्य खाद्य पदार्थ निश्चित दिनों में ही खाये जा सकते थे। उपवास या शुभ दिनों पर उनको नहीं खाया जा सकता था, इन दिनों जो पदार्थ खाये जा सकते हैं वह भी निर्धारित हैं सूर्य या चन्द्र ग्रहण जैसी प्राकृतिक घटनाओं के कारण आज भी प्रायः सब कुछ अशुद्ध समझा जाता है और उस दिन किसी पवित्र नदी में स्नान किये बिना यह अशुद्धि दूर नहीं हो सकती। उच्च वर्ण के हिन्दुओं के लिये अलग चौके में अर्थात् एक सीमा-बद्ध अलग स्थान पर भोजन बनाने और वहीं पर बैठ कर खाना अनिवार्य है। यदि इस सीमा का उल्लंघन किया गया, यहां तक कि उसके बाहर हाथ या शरीर का कोई अंग छू गया तो वह भोजन खाने योग्य नहीं रहता। कोई हिन्दू किसी गैर हिन्दू द्वारा यहां तक कि छोटी जाति के हिन्दू द्वारा भी छुआ हुआ भोजन नहीं कर सकता। आज भी अनेक उच्च शिक्षित कट्टर हिन्दू किसी मुसलमान या ईसाई अथवा अछूत द्वारा छुआ हुआ भोजन या पानी स्वीकार नहीं करते। परिणामस्वरूप प्रायः सब गैर हिन्दू उसे अपना अपमान समझते हैं क्योंकि उन्हें म्लेच्छ या अशुद्ध व्यक्ति समझा जाता है। विदेशियों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाता है। हमारे इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि जब सारे परिवार अथवा किसी गांव के सब लोगों को जाति से बहिष्कृत कर दिया गया क्योंकि उन्होंने किसी ऐसे कुंए का पानी पी लिया जिसे मुसलमान आक्रमणकारियों ने छूकर अथवा झूठा करके अपवित्र कर दिया था। इन निरपराध व्यक्तियों के सामने स्वयं मुसलमान हो जाने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। विशेष स्थिति में ऐसे धर्मभ्रष्ट

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तियों को वापस लेने के लिये जो प्रायश्चित कराया जाता था वह बड़ी अपमानजनक प्रक्रिया थी। उन्हें गाय का गोबर और मूत्र पीना पड़ता था।

लोकमान्य तिलक का उदाहरण

आधुनिक समय में भी लोकमान्य तिलक जैसे संस्कृत के विद्वान् को भी इस प्रकार का प्रायश्चित्त जिस छोटी-सी बात के कारण करना पड़ा वह इस मूर्खता का उदाहरण है। श्री. डी. वी. ताम्हनकर ने 1956 में प्रकाशित लोकमान्य तिलक के जीवन चरित्र के पृष्ठ 51 पर इसका जो वर्णन दिया है वह पढ़ने योग्य है। वे लिखते हैं कि 50-60 वर्ष पूर्व सन् 1890 में हुई यह घटना तिलक की संघर्षभावना पर प्रकाश डालती है। इस घटना के परिणामस्वरूप वे कट्टरपंथी हिन्दुओं की घृणा के शिकार हो गये जब कि उससे पूर्व वे पूजा के योग्य समझे जाते थे। आज हम इसे एक मजाक समझते हैं किन्तु उन दिनों एक तूफान बन गया था। जो आज वास्तविक अर्थों में चाय के कप के तूफान की कहावत को चरितार्थ करता है। बात यह हुई कि तिलक तथा पूने के कुछ अन्य विद्वान् और नेता एक ईसाई मिशनरी स्कूल में एक पादरी का व्याख्यान सुनने के लिए गये जहां उनके स्वागत में चाय, बिस्कुट और केक आदि की व्यवस्था की गई थी। अनेकों ने निर्दोष भाव से मिशनरियों द्वारा प्रसारित चाय पी ली। दूसरे दिन उन्हें यह देख कर आश्चर्य हुआ कि स्थानीय पत्रों में बड़े शीर्षक से इस चाय पार्टी का समाचार प्रकाशित किया गया जिसमें उन सब व्यक्तियों के नाम दिये गये जो उस सभा में उपस्थित थे और जिन्होंने वहां चाय पी। स्वभावतः लोकमान्य तिलक का नाम प्रमुख रूप से दिया गया। हिन्दू धर्म के नियमानुसार कोई हिन्दू और विशेषकर ब्राह्मण यदि किसी गैर हिन्दू के साथ खाता है या पीता है तो वह जाति बहिष्कृत समझा जाता है। जो कट्टरपन्थी लोग तिलक को अपने ही वर्ग का एक मुखिया समझते थे वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि वह इस प्रकार का निषिद्ध व्यवहार करें। परिणामस्वरूप सरदार नातु जो एक धनी जमींदार और कट्टरपन्थी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हिन्दुओं के नेता थे उन्होंने एक सार्वजनिक सभा बुलाई और तिलक को जाति बाहर करने की घोषणा करके उनके व्यवहार को हिन्दू धर्म पर एक बड़ा आघात घोषित किया। लोकमान्य तिलक हिन्दू धर्म शास्त्रों के जानकार थे और संस्कृत के विद्वान् थे। तिलक ने अपने विरोधियों का मुंहतोड़ उत्तर देकर उनको चुप कर दिया। किन्तु वे नहीं चाहते थे कि इस विवाद के कारण अपने मित्रों के साथ उनका चिरस्थायी वैमनस्य बना रहे। इसलिए उन्होंने स्वयं यह सुझाव दिया कि उनके द्वारा की गई छोटी-सी सामाजिक अनियमितता को धार्मिक रीति-रिवाज के अनुसार दूर कर दिया जाय जिसके द्वारा इस प्रकार के तथाकथित पाप से दोषी व्यक्ति मुक्त समझा जाता है। किन्तु साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि केवल चायपान करने मात्र से किसी प्रायश्चित की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि चाय केवल दूध, पानी और शक्कर का मिश्रण मात्र है, उसे पीने में कोई पाप नहीं है। अपने इस विश्वास के उपरान्त भी अपनेक्षुब्ध अनुयायियों को सन्तुष्ट करने के लिए तिलक ने प्रायश्चित करना स्वीकार किया और इस प्रकार यह मामला समाप्त हो गया।

तिलक और दूसरे सामाजिक सुधारकों में क्या अन्तर है यह इस घटना से स्पष्ट हो जाता है। तिलक चाहते थे कि वे जनता को अपने साथ लेकर चलें इसलिए वे इस बात की बड़ी सावधानी रखते थे कि उनकी धार्मिक भावनाओं को चोट न पहुँचे। उनका कहना था कि पुराने रीति-रिवाजों का मजाक उड़ाने से समाज सुधार सम्भव नहीं है, क्योंकि इन रिवाजों के पीछे लम्बी परम्परा होती है। जब कुछ प्रगतिशील विरोधियों ने लूथर का उदाहरण दिया जिसने ईसाई धर्म में सुधार किया तो उन्होंने उत्तर दिया कि लूथर को इसलिए सफलता मिली कि वह ईसाई धर्म में विश्वास करता था और उसके सिद्धान्तों का आदर करता था। उसने बाईबिल का विरोध नहीं किया हमारे इन समाज सुधारकों को चाहिये कि वे हिन्दू धर्म शास्त्रों का आदर करें और फिर वे देखेंगे कि लोगों के दृष्टिकोण में कैसा चमत्कारिक परिवर्तन होता है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपरोक्त घटना के विवरण से जाहिर है कि लोकमान्य तिलक जैसे महान् व्यक्ति जो राजनीति में उग्र विचारों के समर्थक और प्रणेता समझे जाते थे उनमें भी धार्मिक और सामाजिक सुधारों के मामले में वह साहस नहीं था जिसका परिचय स्वामी दयानन्द ने दिया। यदि तिलक यह जानते और मानते कि विधर्मी के हाथ की चाय पीना मात्र धर्म शास्त्रों के विपरीत नहीं है तो उन्हें अपनी इस बात पर दृढ़ रहना चाहिये था। चाहे जो हो स्वामी दयानन्द ने धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उग्र और क्रान्तिकारी दृष्टिकोण अपना कर भी हिन्दुओं के पूज्य वेदों के प्रति वास्तविक रूप में तथा लूथर से कहीं अधिक आस्था बनाये रखी जैसा स्वयं तिलक समाज सुधारकों से अपेक्षा करते थे। किन्तु खान-पान सम्बन्धी जिन रीति-रिवाजों का वेदोक्त धर्म शास्त्रों से सम्बन्ध नहीं था उन्हें यदि तिलक जैसे व्यक्ति अस्वीकार कर देते तो इन सुधारों के क्षेत्र में भी उनका बड़ा योगदान रहता। राजनीति में अपने क्रान्तिकारी विचारों के उपरान्त भी तिलक सामाजिक सुधारों के क्षेत्र में नरम दल ने नेता थे यह उपरोक्त घटना से स्पष्ट है। तिलक के समर्थन में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उन दिनों अधिकांश समाज सुधारक अंग्रेजों से या पश्चिमी विचारों से प्रभावित थे और राजनीति में भी वे विदेशी राज्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष समर्थन करते थे। तिलक के समान पूर्ण स्वराज्य के स्थान में उनकी महत्वाकांक्षा अंग्रेजी राज्य की छत्रछाया में राजनैतिक और आर्थिक अधिकार प्राप्त करना मात्र था। परिणाम-स्वरूप लोकमान्य तिलक तथा उनके अनेक प्रमुख साथियों की दृष्टि में ऐसे व्यक्तियों द्वारा धार्मिक और सामाजिक सुधारों की बात करना उनकी विदेश भक्ति का परिचायक था। अंग्रेज शासक और ईसाई मिश्नरी हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं का विरोध किसी सुधार की सभद्‌भावना से नहीं करते थे अपितु यह सिद्ध करने के लिए करते थे कि इन अन्धविश्वासों और कुरीतियों के रहते हिन्दू एक राष्ट्र बनकर स्वराज्य या स्वाधीनता प्राप्त करने या उसकी रक्षा करने के योग्य नहीं

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। सम्भवतः तिलक यह चाहते थे कि इस प्रकार के सुधारों का कार्य करने का अधिकार केवल उन्हीं को है जो लूथर के समान अपने धर्म के वास्तविक स्वरूप और सिद्धान्तों में विश्वास रखते थे। स्पष्ट है कि भारत के आधुनिक धार्मिक और सामाजिक सुधारकों में केवल ऋषि दयानन्द ही तिलक की इस कसौटी पर सही उतरते हैं। दयानन्द न केवल विकृत हिन्दू धर्म को उसके विशुद्ध वैदिक स्वरूप में बदलना चाहते थे अपितु साथ ही वे भारत की राजनैतिक स्वतन्त्रता के भी कट्टर समर्थक थे, किन्तु साथ ही यह मानते थे कि विदेशी या विधर्मी हिन्दू धर्म पर चाहे जिस दुर्भवना से आक्रमण करते हों फिर भी यदि इनके आक्रमण का आधार वास्तविक है तो एक नादान मित्र के सामान इन सब निर्बलताओं का समर्थन करने के स्थान में उनका निराकरण करना ही हिन्दू समाज के प्रति सच्ची मित्रता का प्रमाण है। तिलक युग के बाद महात्मा गांधी ने स्वामी दयानन्द के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करके हिन्दुओं में प्रचलित अनेक कुरीतियों और सामाजिक निर्बलताओं के निराकरण का कार्य अपने स्वराज आन्दोलन का ही एक अंग बना लिया। स्वामीजी के समान महात्माजी भी यह समझते थे कि छुआ-छूत, महिलाओं की अशिक्षा और असमानता, बाल-विवाह आदि सामाजिक निर्बलताओं से मुक्त हुए बिना बहुसंख्यक हिन्दू समाज राजनैतिक स्वाधीनता प्राप्त करने में समर्थ नहीं होगा जिसके लिये लोकमान्य तिलक ने स्वयं इतना संघर्ष और त्याग किया था।

मदन मोहन मालवीय

लोकमान्य तिलक के समान ही महामना मदन मोहन मालवीय का भी दूसरा उदाहरण हमारे सामने है। राजनैतिक क्षेत्र में देशभक्त और सुधारवादी होते हुए भी वे एक परम्परागत ब्राह्मण और हिन्दुओं के धार्मिक नेता थे। 1930 में जब वे गोलमेज कॉन्फ्रेन्स में भाग लेने लन्दन गये तो वे अपने साथ एक ब्राह्मण रसोइया तथा कई कलश गंगाजल के भर कर ले गये और लौटने के बाद उन्होंने भी तिलक के समान प्रायश्चित किया क्योंकि उन्होंने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विदेश यात्रा और भोजन सम्बन्धी छुआछूत दोनों के धार्मिक बन्धनों का उल्लंघन किया था। स्वामीजी की दृष्टि में इन बन्धनों का कोई धार्मिक आधार या औचित्य नहीं था और साथ ही वे यह भी मानते थे कि समुद्र यात्रा और खान-पान सम्बन्धी इन प्रतिबन्धों के कारण हमारा देश संसार के अन्य देशों में होने वाले परिवर्तनों, नवीन आविष्कारों और अन्य प्रगतियों से सर्वथा अनभिज्ञ हो गया और परिणामस्वरूप कुँए के मेंढक के समान उसका दृष्टिकोण इतना संकुचित हो गया कि देश का राजनीतिक, आर्थिक तथा अन्य सब दृष्टि से पतन होता गया।

श्यामजी कृष्ण वर्मा

स्वामीजी ने अपने सत्यार्थप्रकाश में विदेश यात्रा तथा खान-पान सम्बन्धी हिन्दुओं के अन्धविश्वास के बारे में विशेषरूप से विवेचन किया है। इस सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में उनके विचारों को उद्धृत कर चुके हैं। भोजन बनाने का काम शूद्रों का क्यों है यह बताते हुए उन्होंने जो तर्क दिया है उससे स्पष्ट है कि स्वामीजी शिक्षित और विदुषी स्त्रियों को भी चौके चुल्हे से मुक्त रखना चाहते थे। प्रसिद्ध क्रान्तिकारी श्यामजी कृष्ण वर्मा को उन्होंने विदेश जाने की न केवल प्रेरणा ही दी अपितु उसमें सहायता भी की। श्यामजी कृष्ण वर्मा बाद में उनके अनुयायी और भक्त बन गये। अपने पत्रों में उन्होंने श्यामजी के सस्कृत अध्ययन की प्रशसा करते हुए आशा व्यक्त की कि इग्लैंड में अपने निवास से जहां उन्हें व्यक्तिगत लाभ होगा वहां उससे दोनों देशों का भी हित होगा। स्वामीजी की यह आशा जिस प्रकार पूरी हुई यह श्यामजी कृष्ण वर्मा के बाद की जीवनी से स्पष्ट है। लौटने पर वे कई देशी राज्यों के दीवान पद पर रहे और अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध यूरोप आदि में भारतीय नवयुवकों द्वारा क्रान्तिकारी गतिविधियों में सहयोग देते रहे। आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के संस्कृत के प्रोफेसर सर मोनियर विलियम ने उन्हें उदीयमान पंडित कह कर बीस वर्ष की आयु में ही आक्स-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
फोर्ड आने का निमन्त्रण दिया। वहां उन्होंने संस्कृत में एम. ए. करने के अतिरिक्त ग्रीक और लेटिन भाषाओं में भी निपुणता प्राप्त की और 1885 में बैरीस्टर बन कर जब वे लौटे तो कई प्रसिद्ध अंग्रेजों के प्रमाण-पत्र उनके पास थे जिनमें एक भूतपूर्व वायसराय लोर्ड नोर्थब्रुक भी थे। 28 वर्ष की कम आयु में वे रतलाम राज्य के दीवान नियुक्त हुए और उदयपुर तथा जुनागढ़ में भी दीवान पद पर रहे किन्तु उन्होंने शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया कि वे कितने भी योग्य हों और अंग्रेजों के प्रसंशापात्र रहे हों, किन्तु शासक जाति के अंग्रेजों से उन्हें समानता का अधिकार नहीं मिल सकता। इंग्लैंड के दिनों के उनके एक अंग्रेज मित्र की प्रार्थना पर उसे उन्होंने अपने दीवान पद के काल में जूनागढ़ में एक उच्च स्थान पर नियुक्त कर दिया। किन्तु इसी अंग्रेज ने अपने भारतीय मित्र शुभचिंतक को दीवान पद से हटाने के लिये नवाब के साथ षड्यन्त्र किया। अंग्रेज पोलिटिकल एजेण्ट भी अपने सहजाति के अंग्रेज के विरुद्ध श्यामजी को न्याय नहीं दे सके। सम्भवत: इस अन्यायपूर्ण घटना के कारण ही अंग्रेजों के महान् प्रशंसक श्यामजी कृष्ण वर्मा अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध क्रान्ति के समर्थक हो गये और इस प्रकार उन्होंने अपने आध्यात्मिक गुरु स्वामी दयानन्द की इस युक्ति की सत्यता अनुभव कर ली कि 'विदेशी राज्य कितना ही अच्छा हो, स्व-राज्य की बराबरी नहीं कर सकता।' श्यामजी कृष्ण वर्मा की जीवनी के लेखक श्री इन्दुलाल याजनिक ने श्यामजी के जीवन पर स्वामीजी के प्रभाव का विस्तृत विवरण दिया है। वे कहते हैं "यद्यपि कांग्रेस की तत्कालीन दब्बू नीति तथा लोकमान्य तिलक की देशभक्ति और उनके साथ विदेशी राज्य में किये गये व्यवहार ने श्यामजी के विचारों में परिवर्तन लाने में सहायता दी, किन्तु स्वामी दयानन्द ही उनके मुख्य प्रेरणास्रोत थे। यद्यपि इस प्रेरणा को फलवती होने में कुछ देर लगी। श्री याजनिक लिखते हैं कि "श्यामजी प्रारम्भ से ही स्वामी दयानन्द के चरणों में अपने-आप को समर्पित करके सामाजिक और धार्मिक मामलों में उनके विचारों के उत्साही समर्थक हो गये थे। आज यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि स्वामीजी की कल्पना का वैदिक धर्म क्रान्तिकारी विचारों का प्रेरक था। आर्यसमाज को इस बात का गौरव है कि उसके

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अनुयायियों की एक से अधिक पीढ़ी ने राष्ट्रीय नेता ही उत्पन्न नहीं किये अपितु देश की स्वाधीनता के लिये वलिदान करने वाले युवकों को भी प्रेरणा दी। मेडम ब्रेवास्टिकी तथा कर्नल अलकाट जैसे विदेशियों ने सुदूर अमेरिका में ही स्वामी दयानन्द के देशभक्तिपूर्ण सन्देश का अनुभव कर लिया था और इन्हीं विचारों ने श्यामजी कृष्ण वर्मा जैसे युवकों को यह प्रेरणा दी कि अपने शासकों के देश इंग्लैन्ड में रहकर भी वह मोनियर विलियम जैसे कृपालु व्यक्तियों के सामने भी घुटने न टेकें। वाद में थियोसोफिस्ट सोसायटी के साथ स्वामीजी का मतभेद भी उनकी प्रखर देशभक्ति का प्रमाण था जिससे यह सिद्ध होता है कि अत्यन्त मैत्रीपूर्ण विदेशियों द्वारा देश की कुछ बातों में प्रशंसा या सहायता स्वामीजी के सम्पूर्ण स्वदेशी विचारधारा के लिये पर्याप्त नहीं थी। जिस साहस और वीरता के साथ स्वामीजी ने देश में धार्मिक क्रान्ति के लिये संघर्ष किया उसी प्रकार भारत की प्राचीन गौरव-गाथाओं और स्वराज्य तथा आर्य साम्राज्य की प्रशंसा में उनके द्वारा उच्चारित वैदिक मन्त्रों के घोषों ने श्यामजी के समान उनके अनेक शिष्यों को राजनैतिक स्वाधीनता संघर्ष में वैसे ही साहस का परिचय देने के लिये तत्पर कर दिया। इससे पूर्व किसी देशी रियासत का ऐसा सफल दीवान अचानक राजनैतिक क्रान्ति का समर्थक नहीं बना था और न ही एक सम्पन्न भारतीय युवक इंग्लैण्ड या किसी वाहरी देश में भारत की स्वाधीनता के लिये सतत् प्रचार और प्रयत्न करने की पूर्व निष्ठा के साथ देश छोड़कर गया था। श्यामजी न केवल एक सफल वेरिस्टर ही थे अपितु अनेक देशी राज्यों में एक राजनयिक के रूप में उनका बड़ा सम्मान था। वे चाहते तो इंग्लैण्ड में वकालत या राजदूत के रूप में सफल हो सकते थे किन्तु उन्होंने अपने जीवन का एक ही लक्ष्य चुना और वह था विदेश में रहने वाले भारतीय युवकों को देश की स्वाधीनता के लिये तैयार करना। इसके लिये उन्होंने व्यक्तिगत लाभ या सफल जीविका सब का त्याग कर दिया। उन्होंने अपना सारा समय, सम्पत्ति और विद्वत्ता तथा योग्यता मातृभूमि की सेवा के लिये अर्पित कर दी।" श्री याजनिक अंत में लिखते हैं कि "यहां हम उनके बाद के राजनैतिक क्रांतिकारी जीवन से अधिक इस बात को महत्त्व देना चाहते हैं कि किस प्रकार स्वामी दयानन्द की देश के बाहर की दुनिया से सम्पर्क रखने की दूरदर्शितापूर्ण नीति महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।"
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समुद्र यात्रा और विदेशियों के छुए हुए भोजन आदि के बारे में धर्म के नाम पर प्रचलित मूर्खतापूर्ण बन्धन इन व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर अंकुश के ऐसे उदाहरण हैं जिनके द्वारा ब्राह्मण समाज में अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहते थे। दयानन्द स्वयं एक उच्च ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे फिर भी उन्होंने ब्राह्मणों के इस प्रकार के धार्मिक एकाधिकार को चुनौती दी क्योंकि वे समझते थे कि हिन्दुओं के अनेक अन्धविश्वासों और कुरीतियों के मूल में वंश परम्परागत ब्राह्मणों का यह निराधार दावा था कि वेद और शास्त्रों पर उनका एकाधिकार है चाहे वे स्वयं उनसे कितने भी अनभिज्ञ क्यों न हों? स्वामीजी का कहना था कि व्यक्ति अपने ऊँचे चरित्र और विद्वत्ता के आधार पर ही ब्राह्मण समाज का नेता होने का अधिकार रख सकता है किन्तु इन दोनों गुणों के अभाव में जब उसने केवल जन्म के आधार पर अपने इस एकाधिकार को बनाये रखने का प्रयत्न किया तो स्वामीजी ने उसका विरोध किया। ये ब्राह्मण अपने आप को भू-देव अर्थात् पृथ्वी के देवता मानने लगे थे और ये दावा करते थे कि देवता मन्त्रों के अधीन है और मन्त्र ब्राह्मणों के अधीन हैं। स्वामीजी ने उनके इस दावे को चुनौती दी और कहा कि केवल जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं हो सकता। इतना ही नहीं उन्होंने न केवल वेद पढ़ने अपितु ब्राह्मणों के अन्य कार्यों का अधिकार भी उन सब को दे दिया जो इस प्रकार की योग्यता प्राप्त कर ले चाहे वे जन्म से शूद्र कुल में ही क्यों न उत्पन्न हुवे हों। इसी प्रकार स्त्रियों को भी उन्होंने यह अधिकार दिया। विद्या और गुणों से रहित केवल जन्म के आधार पर ब्राह्मणत्व का दावा करने वाले अथवा केवल ब्राह्मण होने के कारण लोक परलोक के बारे में व्यवस्थायें देने के लिये अधिकृत समझे जाने वालों को उन्होंने 'पोप' की संज्ञा दी। जिस प्रकार रोम में स्थित कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्मगुरू 'पोप' परलोक में पाप मुक्त होने अथवा वहां भी सांसारिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए पैसा लेकर प्रमाण पत्र (इन्डलजेन्सेज) देने लगे उसी प्रकार हमारे देश के पौराणिक ब्राह्मण भी पापों का निराकरण और पुण्य-लाभ के लिये अनेक प्रकार के पाखण्ड करते थे जिनका उद्देश्य केवल अपना वर्चस्व स्थापित कर धर्मभीरु हिन्दुओं को ठगना मात्र था।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे ब्राह्मणों के बारे में स्वामीजी लिखते हैं कि इन ब्राह्मणों ने पोप के समान स्वर्ग की ठेकेदारी चलाना प्रारम्भ किया किन्तु जैसे यूरोप में विद्या और ज्ञान के प्रसार के साथ यह पाखण्ड समाप्त हो रहा है वैसे ही यहां भी समाप्त होगा। लेटिन भाषा में पोप का अर्थ पिता या श्रेष्ठ व्यक्ति होता है किन्तु जब उन्होंने धर्म के नाम पर अज्ञानी लोगों को ठगना शुरू किया तो उनकी प्रतिष्ठा गिरने लगी। यही स्थिति ब्राह्मणों की भी है। कोई व्यक्ति केवल इस आधार पर ब्राह्मण होने का दावा नहीं कर सकता कि उसके माता-पिता ब्राह्मण थे अथवा वह किसी सन्त या विद्वान् का शिष्य है। ब्राह्मण वही है जिसमें ब्राह्मणत्व का ऊंचा चरित्र, त्याग और निष्ठा तथा विद्वत्ता आदि के गुण हैं।

आर्यसमाज का भविष्य

कुछ समय से आर्यसमाज के भविष्य के बारे में आर्यजगत् का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। एक ओर यह कहा जा रहा है कि एक सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलन के रूप में उसका कार्य समाप्त हो गया है, अब भविष्य में उसकी विशेष आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके द्वारा निर्देशित प्रायः सब सामाजिक सुधार कम से कम सिद्धान्त रूप से स्वीकार कर लिये गये हैं और उन्हें हमारे संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त हो चुकी है। इस प्रकार उनका कार्यान्वयन अब निश्चित हो गया है भले ही इसमें कुछ समय लगे ऐसी स्थिति में आर्यसमाज अब अप्रासंगिक हो गया है और उसे अब अपना कोई अन्य कार्यक्षेत्र चुनना चाहिये। उसके अनेक अदूरदर्शी मित्र चाहते हैं कि उसे अब सत्ता की राजनीति में प्रवेश करना चाहिये।

आर्यसमाज के बारे में उपरोक्त सारी धारणाऐं स्वामी दयानन्द के वास्तविक उद्देश्यों के विपरीत हैं। समाज सुधार, आर्यसमाज के आन्दोलन का केवल एक और वह भी तात्कालिक तथा प्रारम्भिक उद्देश्य था। उसका वास्तविक लक्ष्य प्राचीन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना और प्रचार करना है। वस्तुतः जिन सामाजिक सुधारों के कार्य में उसे सफलता मिली तथा जिसके

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये उसकी प्राय: सब जगह प्रशंसा की जाती है वे भी अब या तो नष्ट होते जा रहे हैं या धूमिल हो रहे हैं और उसका कारण है हमारे देश की वर्तमान विकृत राजनीति। जिन साम्प्रदायिक जातिवादी तत्वों और धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध स्वामी दयानन्द और बाद में महात्मा गांधी तक ने आवाज उठाई थी उन्हीं बुराइयों के साथ हमारे वर्तमान राजनैतिक नेता स्वयं समझौता करते जा रहे हैं। उन्हें भय है कि इन निहित सामाजिक और धार्मिक स्वार्थियों को अप्रसन्न करने से चुनावों में उनके वोटों से हाथ धोना पड़ सकता है। इस प्रकार समाज सुधार के सीमित क्षेत्र में भी आर्यसमाज की उपलब्धियां सुनिश्चित नहीं रहीं। उनके प्रमुख उद्देश्य अर्थात् "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" की बात तो अभी तक एक स्वप्न मात्र प्रतीत होती है। विश्व भर की बात तो दूर स्वयं भारत में भी इस दिशा में आर्यसमाज को विशेष सफलता नहीं मिली है। यह कार्य हिन्दू धर्म को विस्थापित करके किया जाना था किन्तु उसे अब राजनैतिक कारणों से नया जीवन प्राप्त हो रहा है। इसलिए आर्यसमाज की अब पहले से कहीं अधिक आवश्यकता है किन्तु वह अपना यह लक्ष्य पूरा कर सकेगा या नहीं यह बात इस पर निर्भर है कि स्वयं उसका अपना स्वतन्त्र और प्रभावकारी अस्तित्व बना रहेगा या नहीं। बिना शक्ल सूरत के तथाकथित हिन्दू धर्म में विलीन होने के खतरे के प्रति उसकी वर्तमान उदासीनता के कारण पहले ही उसका प्रभाव और शक्ति कुण्ठित हो चुकी है। आर्यसमाज के वर्तमान नेतृत्व की इस भूल के लिए भावी इतिहास उसे कभी क्षमा नहीं करेगा। किन्तु मेरा विश्वास है कि इन दुर्भाग्यपूर्ण असफलता के बावजूद भी ऋषि दयानन्द का मिशन आज नहीं तो कल अवश्य पूरा होगा। संभव है भविष्य में यह कार्य किसी और अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली माध्यमसे पूरा हो। आर्यसमाज जैसे अन्य प्रचारक आन्दोलन जो अपने समय और स्थान में एक क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में प्रारम्भ हुए, उनके जीवन में भी इस प्रकार के उतार-चढ़ाव आते रहे हैं। आधुनिक समय में इस्लाम और इसराइल में यहूदी धर्म इसके उदाहरण हैं जिनका यहां संकेत केवल धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास में होने वाले उतार-चढ़ावों की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए किया जा रहा है उनका समर्थन करने के लिए नहीं। वस्तुत:

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इस्लाम का वर्तमान आन्दोलन उसकी प्रगति के स्थान में उसे सदियों पीछे ले
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जा रहा है। आर्यसमाज के संस्थापक का दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत था यद्यपि उन्होंने प्राचीन वेदों को अपनी शिक्षाओं का आधार माना किन्तु अपनी प्रत्येक मान्यता को उन्होंने आधुनिक आवश्यकता तथा बुद्धिवाद के परिप्रक्ष्य में देखने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए ईश्वर, जीव तथा स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य जैसी परम्परागत मान्यताओं की उनके द्वारा की गई मौलिक परिभाषा से हैं।

दयानन्द की देन

मनुष्य के ज्ञान में भी समयानुकूल परिवर्तन या उतार-चढ़ाव होना स्वाभाविक है। वह सदा प्रकाश की ओर न जाकर कभ-कभी पुनः अन्धकार के युग में प्रवेश कर बैठता है किन्तु बड़ी खोजों तथा जानकारी का दौर आने पर, जैसा कि वर्तमान वैज्ञानिक कहे जाने वाले युग में आ रहा है, मनुष्य के धार्मिक और सामाजिक विचारों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक है। दयानन्द ने हमें जो एक नवीन बौद्धिक दर्शन दिया है वह इस बात की जमानत है कि न केवल हिन्दू धर्म बल्कि इस्लाम और ईसाइयत जैसे अपेक्षाकृत नये धर्म भी दयानन्द की इस कसौटी को मानने के लिए विवश हो रहे हैं मूर्ति-पूजा का इतिहास इसका उदाहरण है। प्रत्येक धर्म में ईश्वर विश्वास के साथ किसी न किसी रूप में मूर्तिपूजा प्रचलित रही है। वर्तमान हिन्दू धर्म आज भी मूर्तिपूजा का सबसे पुराना और बड़ा गढ़ है। यद्यपि अपने प्रारम्भिक काल में अन्य धर्मों में भी मूर्तिपूजा और यहां तक कि देवी-देवताओं की कल्पना रही है। किन्तु अन्य किसी धर्म या देश में आज वह इतने व्यापक और विकृत रूप में शेष नहीं रह सकी जितनी आधुनिक भारत में। आधुनिक नवीन धर्मों के अनुयायी आज भी इसीलिए हिन्दू धर्म को आदिवासियों की नास्तिक, बहुदेवतावादी तथा बुतपरस्त धर्म कहते हैं क्योंकि प्राचीन युग में मनुष्य प्रत्येक प्राकृतिक घटना, शक्ति या न समझ में आने वाले रहस्य को कोई न कोई देवी या देवता मानता था। जिसकी वह भय और आशंका के कारण पूजा करता था जैसे आज भी अनेक जंगली जातियां करती हैं, किन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि ये कथित आधुनिक और एकेश्वरवादी धर्म भी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी ऐसे ही मुसलमान या रोमन थे। वे अपने जीवनकाल में वैसे ही कम ज्यादा मात्रा में देवी-देवता तथा मूर्तियों के उपासक थे जैसा आज का हिन्दू। मिश्र, रोम और ग्रीस जैसे प्राचीन देशों की सभ्यताओं में अपने-अपने अनेक देवी-देवता, मन्दिर और मूर्तियां प्रचलित थीं किन्तु आज ऐथेन्स, रोम और मिश्र में केवल उनके टूटेफूटे खण्डहर और अवशेष मात्र हैं जहां लोग केवल प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों अथवा वस्तुकला देखने जाते हैं पूजा और अर्चना के लिए नहीं। वे अब केवल यात्रियों के आकर्षण अथवा विशेषज्ञों के अध्ययन के केन्द्र मात्र रह गए हैं। इसलिए यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि विशुद्ध एकेश्वर-वाद तथा निराकार उपासना पर आधारित प्राचीन वैदिक धर्म के जन्मस्थान भारत में आज भी हिन्दू धर्म के नाम पर अनेक देवी-देवता तथा उनके मन्दिरों में व्यापक पूजा और उपासना व्याप्त है। केवल तान्त्रिकों के खजुराहो और कोणार्क के मन्दिर मात्र ही पूजा के स्थान में केवल मूर्तिकला के आकर्षण समझे जाते हैं। स्वामी दयानन्द के अनुसार इसका एक कारण यह है कि हमारा देश सदियों तक संसार के अन्य देशों से अलग-थलग रहा और उन देशों में हुए धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवर्तनों से अनभिज्ञ बना रहा।

उनका नवीन दृष्टिकोण

प्राचीन समय में भारतवासी अन्य देशों में व्यापार या विजय के लिये जाते थे वह क्रम भी हिन्दूकालीन भारत में समाप्त प्रायः होता गया उल्टे विदेशी आक्रामक हमारे देश में आने लगे जिनके धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक आक्रमणों का सफल मुकाबला करने में असमर्थ हिन्दू धर्म केवल अपनी अच्छी बुरी धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं को बचाने में ही अपनी सुरक्षा मानता रहा। किन्तु 19 वीं सदी में उसमें नव जागरण के चिह्न दिखाई देने लगे। मुस्लिम शासन का शिकंजा टूट-फूट कर बिखरने लगा तब भी हमारे देशवासी उसके स्थान में अपना स्वराज्य स्थापित करने में असफल रहे और परिणामस्वरूप पश्चिम की अनेक

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोपियन जातियों ने समुद्र के नवीन मार्ग से पहले व्यापार और बाद में अपना राज्य स्थापित करने के लिये अनुकूल परिस्थिति देखकर भारत में प्रवेश किया। इस प्रतिस्पर्धा की परिणति देश में अंग्रेजी शासन की स्थापना से हुई। राज्य स्थापना के साथ पश्चिम से ईसाई मिशनरियों का आगमन प्रारंभ हुआ। हिन्दू धर्म और समाज की अनेक निर्बलताओं के कारण उनके लिये अपने धर्मप्रचार का कार्य भी सुलभ हो गया।

हिन्दू धर्म पर उनके द्वारा कठोर प्रहार किये जाने लगे। राजनैतिक और सांस्कृतिक इन दोनों संगठित आक्रमणों के विरुद्ध जिन प्रारम्भिक देशभक्तों ने आवाज उठाई वे स्वभावतः यह विश्वास करने लगे कि हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक मान्यताओं की समीक्षा विदेशी शासकों और प्रचारकों की चाल है। यहां तक कि लोकमान्य तिलक की भी यह मान्यता थी कि हिन्दू धर्म और समाज की प्रत्येक अच्छी बुरी बात का समर्थन देशभक्ति का प्रमाण है। उन्होंने रानाडे जैसे नरम समाज सुधारकों तक का विरोध किया स्वयं स्वामी दयानन्द को ईसाई प्रचारकों का ऐजेन्ट कहा गया। दुर्भाग्य से राममोहन राय और ब्रह्मसमाज ने समाज सुधार का जो दृष्टिकोण अपनाया उसके कारण समाज सुधार के प्रत्येक प्रयत्न को शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा और उसे अंग्रेजों के विदेशी राज्य का सहायक समझा गया। केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्मसमाज को ईसाई चर्च का भारतीय संस्करण बना कर सन्देह को और भी पुष्ट किया।

केवल आर्यसमाज को ही इस बात का श्रेय है कि उसने एक ओर जहां अंग्रेजों के विदेशी शासन का स्पष्ट विरोध किया वहां दूसरी ओर क्रान्तिकारी धार्मिक और सामाजिक सुधारों का आधार प्राचीन वैदिक धर्म और संस्कृति पर रखा। वस्तुतः स्वामी दयानन्द की तो मान्यता ही यह थी कि भारत के राष्ट्रीय अस्तित्व और राजनैतिक स्वाधीनता दोनों के लिए इस प्रकार का समन्वित दृष्टिकोण अनिवार्य है। उनके बिना हिन्दू समाज न एक राष्ट्र का अंग ही बन सकता है और न ही स्वाधीनता प्राप्त करके उसकी रक्षा ही कर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सकता है। इस पृष्ठभूमि में विचार करने से यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति देख कर किसे आश्चर्य और दुःख नहीं होगा कि हमने धार्मिक और सामाजिक सुधार के क्षेत्र में अंग्रेजी काल में भी जो प्रगति की थी वह स्वाधीनता प्राप्ति के बाद गत 37 वर्षों में धूमिल हो रही है। आर्यसमाज जैसे क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रभाव और लोकप्रियता में होने वाली वर्तमान कमी भी इसी का एक परिणाम है। स्वराज्य के बाद के इन कुछ वर्षों में सम्भवतः बाल-विवाह, नर-बली और सती होने की जितनी घटनायें हुई हैं वह अंग्रेजी राज्य के लम्बे समय में भी नहीं हुई थीं। अभी कुछ समय पूर्व राजस्थान के नागौर जिले की नीमडी कोठरी गाँव की एक राजपूत विधवा सुगन कंवरी ने सार्वजनिक रूप से घोषणा करके हजारों स्त्री पुरुषों के समक्ष अपने मृत पति की चिता पर आत्मदाह कर लिया। जिस स्थान पर यह घटना हुई वह पुलिस चौकी के निकट था। इतना ही नहीं राजधानी देहली तक में सैंकड़ों स्त्री पुरुषों ने सती के सम्मान में जुलूस निकाले, सती प्रथा जैसे कानूनी अपराध के प्रति जनता और सरकार दोनों की यह उदासीनता स्वाधीन भारत में सामाजिक सुधारों के प्रति दोनों के रवैये और दृष्टिकोण का प्रतीक है। आज भी सैंकड़ों स्त्री-पुरुष सती के उस स्थान को पवित्र मानकर वहां दर्शनों के लिए जाते हैं जहां सुगन कंवरी सती हुई थी। इस प्रकार न केवल रातोंरात एक साधारण स्त्री देवी बन गई बल्कि उसके नाम पर मृत शैया पर पड़े रोगी स्त्री पुरुषों और बच्चों के इलाज के चमत्कार भी प्रारम्भ हो गये।

उल्टी प्रतिक्रिया

इस उल्टी हवा से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विदेशी राज्य के बन्धनों से मुक्त होने के बाद हम शायद पुनः उस धार्मिक और सामाजिक अन्ध युग में प्रवेश कर रहे हैं जो हमारी राजनैतिक दासता का एक कारण था और जिससे मुक्ति दिलाने के लिए अनेक सन्तों, महापुरुषों और समाजसुधारकों ने प्रयत्न किया था। विदेशी दासता के दिनों में समाज को इस प्रकार के अन्धविश्वासों से मुक्त करने की इच्छा के पीछे जो प्रेरणा थी वह अब समाप्त होती प्रतीत होती है। स्वराज्य प्राप्ति के बाद धार्मिक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व सामाजिक पुनर्जागरण का यह लक्ष्य अनावश्यक समझा जाने लगा है किन्तु यह कोई आशा नहीं करता था कि जिस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हमने यह सुधार किये उस लक्ष्य की प्राप्ति के बाद हम उन्हें न केवल समाप्त कर देगें बल्कि सब धर्मों के प्रति आदर के नाम पर उन अन्धविश्वासों और सामाजिक बुराइयों को पुनः प्रचलित करेंगे। हमारी तथाकथित धार्मिक निर्पेक्षता और हिन्दू धर्म की उदारता दोनों की यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि हमने अपने राजनैतिक स्वार्थ और चुनावों में वोट प्राप्त करने के लिए देश की धार्मिक और सामाजिक प्रगति को पुनः 100 वर्ष पीछे धकेल दिया है और इस प्रकार न केवल स्वामी दयानन्द अपितु महात्मा गांधी जैसे महान् समाज सुधारकों की उपलब्धियों पर पानी फेर दिया है। वस्तुतः ये महापुरुष हमारे राजनैतिक स्वाधीनता के भी जनक थे इसलिए सत्ता के भूखे राजनैतिक दलों को यह स्मरण रखना चाहिये कि जिस स्वराज्य के वृक्ष के मीठे फल वे आज चख रहे हैं उसको जिन लोगों ने सींचकर उनको सौंपा उनके कार्यों के प्रति उनका यह कृतघ्नतापूर्ण व्यवहार लज्जाजनक है। प्रायः सब राजनैतिक दल और यहां तक कि राष्ट्रीय कांग्रेस जैसी पार्टी भी धर्म के नाम पर उन सब अन्धविश्वासों और कुरीतियों को नवीन जीवन प्रदान कर रही है जिसका उसके मंच से निरन्तर निषेध किया जाता रहा। क्या हम आशा करें कि यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति केवल एक अस्थायी घटना है जो हमारे देश के पतन का दुबारा कारण नहीं बनेगी ?

⊙⊙

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 13

दयानन्द का शिक्षा दर्शन

धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से भी आर्यसमाज शिक्षा को कितना महत्वपूर्ण समझता है यह बात उन हजारों डी.ए.वी. तथा आर्यसमाज द्वारा संचालित गुरुकुलों तथा अन्य विद्यालयों से स्पष्ट है। आर्यसमाज की अनेक शिक्षण संस्थायें देश के बाहर भी चल रही हैं। स्वामी दयानन्द स्वयं प्राचीन गुरु-शिष्य प्रणाली में शिक्षित एक प्रसिद्ध विद्वान् थे जिसका आधार ब्रह्मचर्य था इसीलिए विद्यार्थी जीवन को ब्रह्मचर्य आश्रम का काल कहा जाता है। एक प्रकार से विद्यार्थी और ब्रह्मचारी पर्यायवाची हैं। ब्रह्मचारी के लिये अपनी आयु के 25 वर्ष तक अविवाहित रहना आवश्यक था। घर-बार, माता-पिता से अलग गुरुकुल में रहकर अत्यन्त सादे जीवन और सात्विक भोजन के अतिरिक्त उसे अपना सब कार्य स्वयं करना और गुरु की सब प्रकार से सेवा करना आवश्यक था। कठोर अनुशासन द्वारा विद्याध्ययन और चरित्र निर्माण यही उसके दो लक्ष्य थे। दयानन्द ने गुरुकुल की इस प्राचीन प्रणाली की मृत परम्पराओं को पुनः प्रारम्भ करने का प्रयत्न किया जिसमें शिष्य गुरु के परिवार का ही एक अंग समझा जाता था जैसे कि गुरुकुल शब्द से स्पष्ट है। जाहिर है कि इस पद्धति में गुरु और शिष्य का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध बना रहता था और अध्ययन के अतिरिक्त गुरु के चरित्र, व्यवहार और मान्यताओं का भी शिष्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता था। आजकल के स्कूलों और कॉलजों में भीड़-भाड़ के विपरित गुरुकुलों में विद्यार्थियों की संख्या स्वभावतः सीमित होती थी। कोई गुरु 2-4 से अधिक शिष्य अपने पास नहीं रखता था। प्रसिद्ध गुरु के प्रायः एक ही शिष्य होता था जैसे स्वामी दयानन्द अपने गुरु विरजानन्द के उस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

समय अकेले ही पूर्णकालीन विद्यार्थी थे, अन्य शिष्य केवल उनके अध्ययन के लिये आते थे।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीजी की शिक्षा प्रगोष्ठी की यही विशेषता थी कि वे शिक्षा को केवल ज्ञान प्राप्ति का साधन नहीं मानते थे बल्कि चरित्र निर्माण को भी उसका एक मुख्य उद्देश्य समझते थे। इसी प्रकार शिक्षा केवल पाठशालाओं में या अध्यापकों द्वारा ही नहीं अपितु वास्तविक शिक्षा माता-पिता द्वारा ही दी जानी चाहिए, ऐसी उनकी मान्यता थी। इसलिए उन्होंने कहा है "मातृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेदः।"

इसीलिये सत्यार्थप्रकाश शताब्दी के अवसर पर आर्यसमाज अजमेर द्वारा सत्यार्थप्रकाश के शिक्षा सम्बन्धी समुल्लासों पर जो छोटी-छोटी पुस्तिकाएं प्रकाशित की गई थीं उनका शीर्षक "आदर्श माता-पिता बच्चों के निर्माता" तथा "शिक्षा और चरित्र निर्माण' दिया गया है।

इसी पकार उन्होने सन्तानों के लिए आचार संहिता पर भी बल दिया जिसके माध्यम से लड़के लड़कियों को दैनिक व्यवहार की शिक्षा दी जा सके इसमें बच्चों को अपने माता-पिता, भाई-बहनों, अध्यापकों और यहां तक कि सेवकों तक से जैसा व्यवहार करना चाहिये और अपने से बड़ों के प्रति उनका क्या दृष्टिकोण होना चाहिये यह भी सम्मिलित है। स्वामीजी ने चेतावनी देते हुए लिखा है कि माता-पिता और गुरु क्या कहते हैं या उपदेश देते हैं इससे अधिक प्रभावकारी शिक्षा का माध्यम उनका अपना चरित्र और व्यवहार है। इसलिये स्वामीजी ने जहां लड़के-लड़कियों को अपने माता-पिता और बड़ों के अच्छे कामों का अनुकरण करने का आदेश दिया है वहीं उन्हें उनके अवगुणों की नकल न करने की भी चेतावनी दी है। शिक्षा सम्बन्धी अपने इस विवेचन के अन्त में उन्होंने अनुशासन पर बल देते हुये लिखा है कि जो माता-पिता आवश्यक होने पर भी बच्चों को ताड़ना नहीं करते वे वस्तुतः उनके शत्रु हैं। तीसरे समुल्लास में उन्होंने विशेष रूप से शिक्षा के सम्बन्ध में ही विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि माता-पिता अपने बच्चों को स्नेह और प्रेम की सबसे ऊंची भेंट दे सकते हैं, वे उन्हें महंगे वस्त्र, सोने के गहने आदि नहीं

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपितु अच्छी शिक्षा जो उनके भावी जीवन के नैतिक और व्यावहारिक उपयोग और विकास में सहायक हो सके। उन्होंने आठ वर्ष से ऊपर के बच्चों के लिये अनिवार्य शिक्षा का समर्थन भी किया है और लड़के तथा लड़कियों के लिये पृथक् शिक्षण संस्थाओं की उपादेयता स्वीकार की है। जो माता-पिता अपने बच्चे को स्कूल न भेजें उनको दण्ड दिये जाने के भी वे पक्षधर थे। इसी प्रकार स्वामीजी ने बहुत समय पहले ही अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा की कल्पना की थी जिसे अब प्रगतिशील राज्य स्वीकार करने लगे हैं।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान की धारा 30 के संदर्भ में यह स्वीकार किया है कि शिक्षा धर्म का ही एक अंग है, किन्तु स्वामीजी ने बहुत समय पूर्व इसी बात का प्रतिपादन किया था। उनकी मान्यता थी कि कोई शिक्षा पद्धति धार्मिक और नैतिक शिक्षा के बिना व्यर्थ है। यद्यपि उनकी धर्म की व्याख्या किसी वर्तमान पन्थ या मजहब और रीलिजन तक सीमित नहीं थी उनकी शिक्षा-प्रणाली में ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणियों के लिये प्रति दिन ईश्वर प्रार्थना करना आवश्यक है और उसके बाद ही पठन-पाठन का कार्यक्रम प्रारम्भ करने का विधान है। वे विद्यार्थीकाल में अनुशासन, सादा जीवन और ब्रह्मचर्य सम्बन्धी शर्तों का पालन भी आवश्यक समझते थे। इसी तृतीय समुल्लास में उन्होंने स्त्री शिक्षा का भी समर्थन किया है और उन्हें न केवल शिक्षा का समान अधिकार देने की बात कही है अपितु अब तक निषिद्ध संस्कृत और वेद पढ़ने तक के उनके अधिकार को स्वीकार किया है। स्त्री शिक्षा और ब्रह्मचर्यकाल लड़के लड़कियों दोनों के लिये आवश्यक मान कर, बाल-विवाह का निषेध किया है और वेद का प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि शिक्षा समाप्त होने के बाद ही लड़कियों का विवाह होना चाहिये जिसके लिये उन्होंने लड़कियों की कम से कम 16 वर्ष और लड़कों की 25 वर्ष आयु निर्धारित की है।

दयानन्द की शिक्षा-प्रणाली में अक्षर ज्ञान से अधिक महत्व नैतिक और शारीरिक विकास को दिया गया है। उन्होंने इसी बात को ध्यान में रखकर, 'व्यवहारभानु' नामक पुस्तिका लिखी है जिसमें इस आचारसंहिता का विवेचन

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किया है और उसे शिक्षा-प्रणाली का अनिवार्य अंग बताया है । इस छोटी-सी पुस्तिका में उन्होंने अच्छे और बुरे शिक्षक के लक्षण तथा शिक्षा का क्षेत्र और उद्देश्य क्या है, बच्चे के प्रति माता-पिता के कर्त्तव्य और अधिकार क्या हैं, गुरु और शिष्य में क्या सम्बन्ध होना चाहिये ? व्यक्तिगत और सामाजिक कर्तव्य कौन-कौन से हैं और आदर्श शिक्षा किसे कहते हैं आदि महत्वपूर्ण बातों का संक्षेप में विवेचन किया है ।

ऐसी स्थिति में उनके द्वारा आर्यसमाज के नियमों में ही शिक्षा प्रसार का समावेश किया जाना आश्चर्यजनक नहीं है । आर्यसमाज के आठवें नियम में उन्होंने आदेश दिया है कि अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करना आर्यसमाज का उद्देश्य है ।

गुरुकुल बनाम डी. ए. वी.

आर्यसमाज के इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय उसके शिक्षा सम्बन्धी आन्दोलन से जुड़ा हुआ है । स्वामीजी ने अपने जीवन काल में ही अनेक स्थानों पर सस्कृत विद्यालयों और पाठशालाओं की स्थापना की थी, क्योंकि वे शिक्षा के कार्य को अपने आन्दोलन तथा आर्यसमाज के कार्यों का एक मुख्य साधन मानते थे । किन्तु आर्यसमाज के शिक्षा आन्दोलन का संगठित प्रारम्भ डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर की स्थापना से हुआ यह कहना उपयुक्त होगा । इस संस्था की स्थापना स्वामीजी की सन् 1883 में अजमेर में मृत्यु के बाद उनकी स्मृति को चिरस्थायी करने का एक प्रयत्न समझकर किया गया था । लाहौर का यह डी. ए. वी. कॉलेज शीघ्र ही सारे देश में एक राष्ट्रीय शिक्षा के आन्दोलन के प्रतीक के रूप में देखा जाने लगा, उसकी स्थापना करने वालों में महात्मा हंसराज, पं. गुरुदत्त विद्यार्थी, लाला साँईंदास तथा लाला लाजपत राय जैसे आर्यसमाज के प्रसिद्ध और प्रमुख व्यक्ति थे । लाला लाजपत राय बाद में देश के स्वाधीनता आन्दोलन के एक प्रमुख नेता के रूप में भी प्रसिद्ध हुए । उन्होंने लोकमान्य तिलक के साथ राष्ट्रीय काँग्रेस को ब्रिटिश सरकार की समर्थक एक नरम दल की संस्था के स्थान में एक प्रखर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
राष्ट्रीय संस्था में बदलने का ऐतिहासिक कार्य किया। लाहौर डी. ए. वी. कॉलेज के संस्थापकों का मुख्य उद्देश्य देश में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार करना था जिसमें आधुनिक विज्ञान और अंग्रेजी का अध्यापन होने के साथ-साथ इस बात का ध्यान रखना था कि हमारे युवक-युवतियों के मन में अपनी प्राचीन संस्कृति, धर्म और भाषा के विरुद्ध अनास्था उत्पन्न न होने पाये और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ हमारे शिक्षित युवक अपने देश, धर्म और संस्कृति पर भी अभिमान कर सकें।

डी. ए. वी. आन्दोलन

इस सम्बन्ध में डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर के संविधान की निम्नलिखित धाराएं स्मरण रखने योग्य हैं अर्थात् : -

1. यह कि पंजाब में एक एंग्लो वैदिक संस्थान की स्थापना की जाये जिसमें स्कूल, कॉलेज और बोर्डिंग हाउस सम्मिलित हो। यह सब स्वामीजी की स्मृति बनाये रखने के लिए निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखकर किया जाये—

   (अ) भारतीय साहित्य को प्रोत्साहन देना और भारतीय दर्शन का अध्ययन करना।

   (ब) वेद और संस्कृत साहित्य के प्रसार के लिए अध्ययन करना।

2. दूसरा मुख्य उद्देश्य यह स्वीकार किया गया कि दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज की संस्थाओं में यथासंभव तकनीकी शिक्षा का प्रावधान किया जाये बशर्ते कि उसके कारण संस्था के प्रथम और मुख्य उद्देश्य को किसी प्रकार हानि न हो।

स्वयं लाला लाजपत राय जी ने इन उद्देश्यों के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लिखा है कि 'यह एक सर्वथा नवीन और साहसपूर्ण प्रयत्न था।' कुछ लोगों को शंका थी कि भारतीयों के अन्य प्रयत्नों के समान यह प्रयत्न भी असफल सिद्ध होगा, क्योंकि उनकी दृष्टि में उसके लिए न उपयुक्त वातावरण था और न उनको व्यावहारिक रूप देने के कोई लिए साधन।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किन्तु जिन लोगों ने इसका प्रारम्भ किया उनका विश्वास था, जिस प्रकार स्वामी दयानन्द का कार्य और मिशन की असफलता निश्चित है वैसे ही उनकी स्मृति में स्थापित यह आन्दोलन भी अवश्य सफल होगा और हुआ भी ऐसा ही। अनेक विकट परिस्थितियों और विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करके इस शुभ राष्ट्रीय प्रयत्न को कार्यान्वित करने के लिए उसके संचालक मैदान में उतर पड़े। इस प्रयोग की विशेषता और नवीनता यह थी कि अभी तक जितनी शिक्षण संस्थाएं देश में चल रही थीं वे या तो सरकारी थीं अथवा ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित थीं। इस दिशा में इस प्रकार का कोई स्वदेशी प्रयत्न करना अव्यावहारिक ही नहीं दुःसाहसपूर्ण समझा जाता था, क्योंकि वह नेटिव अर्थात् स्थानीय लोगों द्वारा किया गया यह प्रयत्न था और नेटिव लोगों में अर्थात् भारतीय लोगों में इस प्रकार की क्षमता या योग्यता नहीं है कि वे सरकारी सहायता से अपनी शिक्षण संस्थाओं का संचालन कर सकें। वास्तव में इसलिए अंग्रेज सरकार डी. ए. वी. कॉलेज की स्थापना के इस प्रयत्न को प्रारम्भ से ही शंका की दृष्टि से देखने लगी। क्योंकि उन्हें डर था कि आज यदि ये लोग अपनी शिक्षण संस्थाओं का संचालन स्वयं कर सकते हैं इस प्रकार का स्वावलम्बन और त्याग विदेशी सरकार के लिए एक चुनौती था जो स्वामी दयानन्द की स्वराज्य और स्वदेशी मान्याओं का ही एक परिणाम था। लाला लाजपत राय ने अन्त में इसलिए यह आशा व्यक्त की थी कि ऐसे महापुरुष के नाम और कार्य के साथ जुड़ा हुआ यह आन्दोलन अवश्य सफल होगा।

गुरुकुल आन्दोलन

स्वामी दयानन्द ने जिस क्रान्ति और विद्रोह की भावना देश में प्रसारित की थी डी. ए. वी. और गुरुकुल शिक्षा आन्दोलन उसी के प्रतीक थे। डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर के संस्थापकों में श्री गुरुदत्त विद्यार्थी आदि अनेक ऐसे प्रतिभाशाली युवक थे जो स्वामीजी के जीवन और कार्यों से अत्यंत प्रभावित थे। गुरुदत्त के नेतृत्व में शिक्षित युवकों के इस दल ने डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर की स्थापना में सक्रिय सहयोग दिया था। किन्तु उनकी यह

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
मान्यता थी कि डी. ए. वी. कॉलेज में अंग्रजी शिक्षा का माध्यम स्वीकार करना और सरकारी विश्वविद्यालय से उसे सम्बन्धित करना न केवल स्वामी दयानन्द की शिक्षा पद्धति के ही विपरित था बल्कि स्वामीजी की राष्ट्रीय भावना के भी मिरुद्ध था।

इसलिए वे एक विशुद्ध भारतीय और राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति प्रचलित करना चाहते थे जो विदेशी ब्रिटिश सरकार के साथ किसी प्रकार से सम्बन्धित न हो और जिसमें केवल संस्कृत के माध्यम से शिक्षा दी जाये। उनका यह आग्रह था कि स्वामीजी के नाम पर स्थापित शिक्षण संस्थाओं में ब्रह्मचर्य के आदर्श का पालन किया जाये और तपस्वी वैदिक जीवन और चरित्र-निर्माण उसका आधार हो।

स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा गुरुकुल की स्थापना इसी विचारधारा का परिणाम था। यह गुरुकुल उत्तर प्रदेश में गंगा के किनारे हरिद्वार के पास कांगड़ी ग्राम के नैसर्गिक वातावरण में स्थापित किया गया जो आज एक विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। जैसा गुरुकुल नाम से प्रकट है कि इस संस्था की स्थापना शिक्षा के उस प्राचीन आदर्श को पुनः प्रचलित करने के लिए की गई थी जिसमें प्रकृति के सान्निध्य में गुरु और शिष्य तब तक एक परिवार की तरह से रहते हैं जब तक कि वे अपने अध्ययनकाल अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम की अवधि पूरी नहीं करते। स्वयं स्वामी श्रद्धानन्द जी ने गुरुकुल का परिचय देते हुए कहा है कि "गुरुकुल की स्थापना प्राचीन ब्रह्मचर्य के आदर्श को पुनः प्रचलित करने के निश्चित उद्देश्य से ही की गई है। इसमें प्राचीन भारतीय दर्शन साहित्य का अध्ययन और अनुसंधान मुख्य कार्य होगा। साथ ही वहां प्राच्य विचारधारा की जो विशेषता है उसे वैदिक साहित्य में आत्मसात् करके वैदिक धर्म के ऐसे प्रचारक और प्रसारक उत्पन्न होंगे जो अच्छे नागरिक और सुसंस्कृत मनुष्य बनकर प्राचीन और आधुनिक सभ्यता का समन्वय कर सकें जिसके कारण यह प्राचीन देश कभी ऋषियों और महान् विचारकों की भूमि समझा जाता था।"

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डी. ए. वी. आन्दोलन के समान गुरुकुल भी शीघ्र ही आर्यसमाज का दूसरा शिक्षा आन्दोलन बन गया। शीघ्र ही देश के अनेक भागों में गुरुकुलों की स्थापना की गई जिनमें से अधिकांश हरियाणा प्रान्त में ही हैं।

डी. ए. वी. और गुरुकुल संस्थाएं राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन के ही दो विभिन्न रूप हैं और दोनों यह मानते हैं कि वे दयानन्द के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु फिर भी स्वामीजी के देहान्त के कुछ दिन बाद इन दोनों धाराओं के समर्थकों के आर्यसमाज में भी दो दल बन गए। यद्यपि दोनों ही यह चाहते थे कि स्वामीजी की स्मृति को चिरस्मरणीय रखने के लिए सबसे अच्छे मार्ग का अनुसरण किया जाये। डी. ए. वी. कॉलेज आन्दोलन के समर्थकों को कॉलेज पार्टी और दूसरों को गुरुकुल पार्टी का अनुयायी कहा जाने लगा। दुर्भाग्य से इसी काल में एक और विवाद, सामिष और निरामिष भोजन के सम्बन्ध में इसी मतभेद के साथ जुड़ गया। कॉलेज पार्टी के कुछ व्यक्ति माँसाहारी थे जो पंजाब में एक साधारण बात है, इसलिए सारी कॉलेज पार्टी को ही मांस पार्टी कहा जाने लगा और प्रत्युत्तर में उन्होंने गुरुकुल वालों को घास पार्टी कहना शुरू कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि दोनों ही इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द की मान्यता को अपना आधार मानते थे। कॉलेज पार्टी के कुछ नेताओं का कहना था कि दयानन्द न तो पश्चिमी शिक्षा के विरोधी थे और न ही माँसभक्षण के।

O*O

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 14

आर्यसमाज और शिक्षा

आर्यसमाज की अनेक बहुमूल्य सेवाओं में से एक उसका राष्ट्रीय शिक्षा आन्दोलन है जो सर्वाधिक लोकप्रिय और व्यापक सिद्ध हुआ। एक प्रकार से देश में वास्तविक अर्थों में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रारम्भ करने का श्रेय आर्यसमाज को ही है। स्वामीजी की मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने शिक्षा सम्बन्धी उनके दर्शन और आदेश को कार्यान्वित करने के लिये एक निश्चित योजना बनाई और शनैः-शनैः वह एक देशव्यापी आन्दोलन बन गयी। आज भी भारत में और विशेषकर उत्तरी राज्यों और अनेक विदेशों में डी. ए. वी. आदि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं का एक जाल-सा बिछा हुआ है। इसी आन्दोलन का एक दूसरा स्वरूप कांगड़ी की स्थापना से प्रारम्भ हुआ, इसी कारण प्राचीन भारत की इस शिक्षा पद्धति का पुनरोद्धार करने का श्रेय भी आर्यसमाज को है। देश में उसके द्वारा अनेक गुरुकुलों की स्थापना की गई है जिनमें कन्या गुरुकुल भी हैं। ऋषि दयानन्द के प्रारम्भिक अनुयायियों में महात्मा मुंशीराम का नाम उल्लेखनीय है जो बाद में स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए और जिन्होंने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के स्वाधीनता आन्दोलन में प्रमुख भूमिका निभाई। हरिद्वार के पास कांगड़ी में पहले गुरुकुल की स्थापना कर उन्होंने आर्यसमाज की राष्ट्रीय विचारधारा को वहां सबसे अधिक प्रोत्साहित किया। गुरुकुलों ने अपनी स्वाधीनता अक्षुण्ण रखने के लिये सरकार से न कोई अनुदान लेना स्वीकार किया और न ही किसी सरकारी विश्वविद्यालय से अपना सम्बन्ध रखा। उसकी इस स्वावलम्बी और राष्ट्रीय नीति के कारण अंग्रेज उसे विदेशी राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र का एक केन्द्र समझते रहे। अनेक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अंग्रेज अधिकारियों और विशेषकर विदेशी ईसाई मिशनरियों ने गुरुकुल की इन विशेषताओं को राजद्रोह का प्रमाण मानकर सरकार के मन में उसके प्रति अनेक शंका उत्पन्न कीं। सर वेलनटाइन सिरोल ने अपनी पुस्तक "इण्डियन अनरेस्ट" (भारतीयों में असन्तोष) में विशेषरूप से इस बात का उल्लेख किया और तत्कालीन अंग्रेज भक्त "पॉयोनियर" नामक अंग्रेजी दैनिक ने स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज को भारत में राजद्रोह की विचारधारा उत्पन्न करने के लिये उत्तरदायी बताया तथा उसके द्वारा चलाई गई इन शिक्षण संस्थाओं को इस विद्रोह के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया।

गुरुकुल और डी. ए. वी. दोनों आन्दोलनों में डी. ए. वी. आन्दोलन मध्यम श्रेणी के शिक्षित वर्ग में अधिक लोकप्रिय और व्यापक सिद्ध हुआ। उसका एक कारण अंग्रेजी शिक्षा का आकर्षण था। चाहे जो हो भारत के पुनरोद्धार में इन दोनों संस्थाओं का विशेष योगदान रहा है।

अंग्रेजी शिक्षा का इतिहास

भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ कैसे और क्यों किया गया इसका इतिहास दिलचस्प है। इस सम्बन्ध में न केवल भारतीयों में विवाद और मतभेद था बल्कि अंग्रेजों में भी विवाद और मतभेद था। इसमें एक दल जो ओरन्टियलिस्ट कहलाता था वह भारतवासियों को भारतीय भाषाओं के माध्यम से ही शिक्षा देने के पक्ष में था और चाहता था कि उनके आने से पूर्व जिस प्रकार हिन्दू संस्कृत पाठशालाओं में और मुसलमान अरबी तथा उर्दू मदरसों में शिक्षा ग्रहण करते थे, उसे जारी रखा जाये। इसी विचार के लोगों ने ओरियन्टल कॉलेज को एंग्लो इण्डियन कॉलेज के रूप में परिवर्तित करने का इसीलिये जोरदार विरोध किया, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि इस कॉलेज में अंग्रेजी साहित्य और विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ करके संस्कृत और फारसी को हटाया जाये। दूसरा दल जो अपने आप को ही एंग्लिसिस्ट

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कहता था वह इस पक्ष में था कि देश में अंग्रेजी को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाये और वहां आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाये। इस विवाद का एक दिलचस्प पहलू यह भी था कि भारतवासियों के एकमात्र प्रतिनिधि राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षा का जोरदार समर्थन किया। उनकी यह मान्यता थी कि भारत जैसे पिछड़े देश में अंग्रेजी साहित्य और आधुनिक ज्ञान की शिक्षा के परिणामस्वरूप लोगों में जागृति उत्पन्न होगी। अंग्रेजी शिक्षा के समर्थन में दो और कारण थे। पहला ईस्ट इण्डिया कम्पनी को अपने कार्यालयों में अंग्रेजी जानने वाले भारतीय क्लर्कों की आवश्यकता थी ताकि इस कार्य के लिये अधिक महंगे अंग्रेजों को इंग्लैण्ड से न मंगाना पड़े।

इस प्रकार भारतीयों को भी यह आशा थी कि अंग्रेजी पढ़ने के बाद उन्हें इस प्रकार की नौकरियों में स्थान मिल सकेगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त होने के बाद ब्रिटिश पार्लियामैण्ट ने देश के शासन की बागडोर संभाली। उस समय अनेक अंग्रेज शिक्षित भारतीयों को शासन में नौकरियों का भी अवसर प्राप्त हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के परिणामस्वरूप अन्य अनेक राजनैतिक, सांस्कृतिक और यहां तक कि धार्मिक क्षेत्रों में भी नवीन विचारधाराएँ उत्पन्न होने लगीं। और इस प्रकार यह मिलाजुला वरदान और अभिशाप सिद्ध हुआ। अंग्रेजी शिक्षा के अंग्रेज समर्थकों के सामने दूसरा महत्वपूर्ण लक्ष्य या उद्देश्य था कि अंग्रेजी राज्य का एक उद्देश्य भारत का ईसाईकरण है और इसलिये वे समझते थे कि अंग्रेजी शिक्षा से देश में ईसाई धर्म के प्रसार को सहायता मिलेगी तथा कम से कम ईसाई विचारों और मान्यताओं के लिये रास्ता खुल जायेगा।

लार्ड मैकाले की रिपोर्ट

ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकाले को इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट और सिफारिश देने के लिये नियुक्त किया और अन्त में उस समय के गवर्नर जनरल लार्ड बैंटिक ने मैकाले की रिपोर्ट स्वीकार करके इस

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विवाद में अंग्रेजी शिक्षा के समर्थकों के पक्ष में अपना निर्णय दिया जिसका दूसरे पक्ष ने तब भी विरोध किया। लार्ड बैंटिक के जीवन-चरित्र के लेखक ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण दिया जो पढ़ने योग्य है। वह लिखता है--"लार्ड बैंटिक के शासनकाल में अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। किन्तु उन सब में जिसके दूरगामी परिणाम हुए वह 1934 में उनके द्वारा स्वीकृत शिक्षा सम्बन्धी निर्णय था। जिसके द्वारा अंग्रेजी को देश की राजभाषा का स्थान मिल गया। इससे पूर्व राजकाज के काम में उर्दू और परिशियन की परम्परा जारी थी।" बैंटिक की यह घोषणा और निश्चय एक नवीन परिवर्तन था जिसके बारे में भारत का अनुभव रखने वाले अनेक अंग्रेजों को अनेक आशंकाएँ थीं और वे उसे एक खतरनाक निश्चय मानते थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यकाल में न केवल यहां के निवासियों की भाषा अपितु उनके धार्मिक और सामाजिक विश्वासों और रीति-रिवाजों का यथावत् आदर किया जाता था। इसलिये इस नीति के समर्थक यह मानते थे कि नवीन शिक्षा प्रणाली के कारण स्थानीय लोगों के विचार और विश्वासों में हस्तक्षेप के कारण अनेक बुराइयां और खतरे उत्पन्न होंगे। वे समझते थे कि अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने का परिणाम होगा कि देशी लोगों की जीवन पद्धति, विश्वास तथा विचार धीरे-धीरे बदल जायेंगे। यह आशंका कहां तक सही साबित हुई और उसकी संभावित बुराइयां और खतरे किस सीमा तक सही सिद्ध हुए उसका यहां विवेचन करना अप्रासांगिक होगा किन्तु मैकाले के नाम से प्रसिद्ध इस नवीन शिक्षा प्रणाली को प्रारम्भ करने के पीछे उसके समर्थकों का वास्तविक उद्देश्य क्या था उसकी चर्चा करना आवश्यक है क्योंकि आर्यसमाज द्वारा प्रसारित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के महत्व को समझने के लिये यह विवेचन आवश्यक है।

काले अंग्रेज

तात्कालीन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि लार्ड मैकाले और विशेषकर ईसाई मिशनरी जो भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रारम्भ करने के पक्ष में थे उनका

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतवासियों के मन में उनकी सांस्कृतिक और धार्मिक मान्यताओं के प्रति अनास्था उत्पन्न करना था। स्वतः मैकाले के शब्दों में इस शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य भारत में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना था जो रंग और रक्त के अतिरिक्त अन्य सब बातों में अंग्रेज हो। होलमेन नामक प्रसिद्ध अंग्रेज मिशनरी ने अपनी पुस्तक "इंग्लिश नेशनल एजूकेशन" के पृष्ठ 50 पर स्पष्ट रूप से यह विश्वास व्यक्त किया था कि कोई भी हिन्दू जिसने अंग्रेजी पढ़ी हो अपने धर्म के प्रति निष्ठावान् नहीं रह सकता। उनमें से कुछ केवल नीति के कारण हिन्दू बने रहते हैं और अन्य या तो नास्तिक बन जाते हैं या ईसाई धर्म स्वीकार लेते हैं। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि हमारी शिक्षा योजना का पालन किया गया तो अब से 30 वर्ष के बाद बंगाल के उच्च वर्ग के लोगों में एक भी मूर्तिपूजक नहीं रहेगा।"

स्वयं मैकाले ने संस्कृत और अरबी साहित्य का उपहास करते हुए लिखा है कि "यूरोप के पुस्तकालय की एक अलमारी समस्त भारतीय और अरब साहित्य से अधिक मूल्यवान् है।" यद्यपि उसने स्वीकार किया कि न उसे संस्कृत का ज्ञान था और न अरबी का। फिर भी उसने भारतीय साहित्य और धर्म की खुली खिल्ली उड़ाने में कसर नहीं रखी। वह पूछता है कि "क्या यह उपयुक्त है कि हम झूठे इतिहास, काल्पनिक ज्योतिष और जादू टोने की दवाई के प्रशिक्षण का समर्थन केवल इसलिए करते रहें कि उनका सम्बन्ध वैसे ही झूठे धर्म से है"[1]

श्री बी. डी. श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक "मार्डन इण्डियन एज्यूकेशन 1963 के पृष्ठ 181 पर अंग्रेजी शिक्षा के इतिहास का विवेचन करने के बाद लिखा है कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी का उद्देश्य भी इस शिक्षा द्वारा अपनी व्यापारिक कम्पनी की आवश्यकता पूरी करने के लिए भारतीय क्लर्कों के निर्माण से अधिक ऊंचा नहीं था।

---

1. देखें जे. पी. नैय्यर द्वारा हिस्ट्री आफ एज्यूकेशन 1984 पृष्ठ136

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय के एक और प्रसिद्ध शिक्षा विशेषज्ञ डॉ. एलेग्जेण्डर डफ जिस ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का समर्थन किया था वह लिखता है कि " यद्यपि हमें इस बात की प्रसन्नता है कि हमने झूठे इतिहास और विज्ञान के स्थान पर सच्चे विज्ञान और साहित्य की शिक्षा प्रारम्भ की है किन्तु हमें इस बात का खेद है कि इस शिक्षा-प्रणाली में एकमात्र सच्चे धर्म अर्थात् ईसाई मत को असत्य धर्म का स्थान लेने के लिए स्पष्ट प्रावधान नहीं किया गया है यद्यपि हमारे साहित्य और विज्ञान के प्रसार के परिणामस्वरूप यह असत्य धर्म निश्चय ही समाप्त हो जायगा ।[1] सर वेलन्टाइन सिरोल ने अपनी पुस्तक "दी इण्डियन अनरेस्ट[2]" में स्पष्ट लिखा कि "डफ का यह निश्चित मत था कि देशी भाषा के स्थान में अंग्रेजी को विशिष्टता देना इसलिए भी आवश्यक है कि उसके परिणामस्वरूप सारे भारत का ईसाईकरण किया जा सकता है ।" सिरोल आगे लिखते हैं कि "डफ ने न केवल कलकत्ता के उच्च वर्ग में एक अध्यापक के रूप में सफलता प्राप्त की थी बल्कि एक मिशनरी के रूप में भी वे सफल सिद्ध हुए थे और परिणामस्वरूप डफ ने यह आशा व्यक्त की कि भविष्य में भारत का ईसाईकरण अवश्यसंभावी है । सरकार इस कार्य में सक्रिय सहयोग न भी दे तो भी केवल अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार के परिणामस्वरूप ही ईसाई नैतिकता और इसाई धर्म का प्रचार अनिवार्य है ।" श्री सिरोल ने आगे लिखा है कि "यही कारण है कि ईसाई स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या सरकारी स्कूलों से चौगुनी रहती है ।" सन् 1909 में सिरोल द्वारा कहीं गई यह बात भारत की स्वाधीनता के 37 वर्ष के बाद आज भी सही है यह कितने बड़े आश्चर्य और खेद की बात है इसका मुख्य कारण हमारी स्वतन्त्र सरकार की अंग्रेजीपरस्त नीति रही है यह

---

1. देखें सर राधाकृष्णन् की "एज्यूकेशशन कमीशन रिपोर्ट भाग-1, 1950 पृष्ठ 288 ।
2. देखें पृष्ठ 209–210

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहने की आवश्यकता नहीं है। हमें यह स्वीकार करने में संकोच- नहीं होना चाहिए। स्वामी दयानन्द और उनके नाम पर स्थापित शिक्षण संस्थाओं ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए जो प्रयत्न किया वह एक प्रकार से अभी तक सफल नहीं हो सका है।

शिक्षा नहीं धर्मान्तरण

अंग्रेजी शिक्षा के इतिहास के एक अन्य लेखक श्री सैय्यद नरूल्ला के अनुसार ईसाई शिक्षण संस्थाओं का उद्देश्य शिक्षा प्रचार कभी नहीं था उनका मुख्य लक्ष्य धर्मान्तरण रहा है और उन्होंने जो शिक्षण संस्थाएं खोलीं वह इसलिए कि उनके द्वारा ईसाई धर्म प्रचार के लिए भारतीय सहायक उत्पन्न किए जायें और इन भारतीय ईसाइयों की शिक्षा की आवश्यकता को पूरा किया जाये। डफ़ के सम्बन्ध में श्री नरूल्ला लिखते हैं कि "डफ़ को केवल छोटी जाति के लोगों और अनाथों को ईसाई बनाने से संतोष नहीं था जिन्हें हम "राइस क्रिश्चयन" कहते हैं अर्थात् जो केवल भूखे, नंगे लोग चावल के दानों के लिए ईसाई बनते रहें। डफ़ का उद्देश्य तो ब्राह्मण और अन्य उच्च जातियों को मिशनरी शिक्षण संस्थाओं द्वारा ईसाई बनाकर हिन्दू धर्म को जड़मूल से समाप्त करने का था। उसको आशा थी कि इन शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से लोग धड़ाधड़ ईसाई धर्म स्वीकार कर लेंगे।

आर्यसमाज के विरोध का कारण

अंग्रेजी शिक्षा के प्रारम्भ और प्रसार के पीछे आज इन विस्मृत तथ्यों पर यदि हम विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि डी. ए. वी. आदि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को प्रारम्भ करने वाले स्वामी दयानन्द के शिष्यों के मन में जो भय और शंकाएं थीं वे सारी सही और यथार्थ थीं। इसलिए उन्होंने आर्यसमाज के तत्वावधान में जिस नवीन राष्ट्रीय शिक्षा-प्रणाली की स्थापना की थी उसका एक उद्देश्य ईसाई शिक्षण संस्थाओं द्वारा भारतीय

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संस्कृति, धर्म और साहित्य को नष्ट करने के प्रयत्न को रोकना था, मिशनरी शिक्षण संस्थाओं की चुनौती का मुकाबला करने के इस प्रयत्न के कारण आर्यसमाज और विशेषकर उसकी शिक्षण संस्थाओं को न केवल मिशनरियों द्वारा बल्कि अंग्रेज सरकार द्वारा भी शंका की दृष्टि से देखा जाता था। मायरन फैलफर्स नामक एक तात्कालीन अमेरिकन यात्री ने लिखा है कि "आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के विरुद्ध सरकार के मन में यह भ्रम फैलाने का कार्य कि ये शिक्षण संस्थाएं राजद्रोह का प्रचार करती हैं, मुसलमान और ईसाई मिशनरी दोनों ने किया। ईसाई मिशनरियों के लिए अंग्रेजी शासकों से सम्पर्क करना आसान था। इसलिए इस भ्रम प्रचार के कार्य में उनका विशेष भाग रहा है। मैं स्वयं ऐसे ईसाई मिशनरियों को जानता हूँ जिन का हवाला देकर सरकारी अधिकारियों ने मुझे गुरुकुल और आर्यसमाज के विरुद्ध ऐसी बातें कहीं हैं जो बिल्कुल निराधार और बदनाम करनेवाली थीं[1]"

आर्यसमाज की इन शिक्षण संस्थाओं को अंग्रेज सरकार के विरुद्ध राज-द्रोह फैलाने का गढ़ या केन्द्र क्यों समझा जाता था उसका एक अन्य कारण लाला लाजपतराय जी के शब्दों में हम बता चुके हैं अर्थात् ये शिक्षण संस्थाएं बिना सरकारी सहायता तथा हस्तक्षेप के संचालित होती थीं और उनमें देशभक्ति और आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ाया जाता था। यही कारण उनके विरुद्ध शंका उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त था।

आर्यसमाज का राष्ट्रीय और सार्वभौम स्वरूप

स्वामी दयानन्द केवल एक सामाजिक और धार्मिक सुधारक ही नहीं थे वे राजनैतिक जागृति और राष्ट्रीय भावना के भी एक पुरोधा थे। हम देख चुके हैं कि आर्यसमाज की स्थापना भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस से 10 वर्ष पूर्व सन् 1875 में की गई थी। इस प्रकार उन्होंने कांग्रेस के जन्म से पूर्व ही राजनैतिक जागृति के लिए उपयुक्त भूमि तैयार कर दी थी। इतना ही नहीं उन्होंने तात्कालीन राजभक्त कांग्रेस की आकांक्षाओं से कहीं अधिक

1. देखें लाला लाजपत राय जी की 'दी आर्यसमाज' 1967

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ऊँची यह दूरदर्शितापूर्ण घोषणा भी उसी समय कर दी थी कि अच्छा से अच्छा विदेशी राज्य भी स्वराज्य की बराबरी नहीं कर सकता। कांग्रेस में सबसे पहले स्वराज्य शब्द का उपयोग भी दादाभाई नौरोजी तथा लोकमान्य तिलक ने स्वामीजी की इस निर्भीक घोषणा के अनेक वर्षों बाद किया। अंग्रेज सरकार संभवतः स्वामी जी की इस क्रान्तिकारी विचारधारा के दूरगामी परिणामों से पहले ही अवगत हो चुकी थी। अनेक विदेशी समीक्षकों ने तभी यह भांप लिया था कि आर्यसमाज जिस विचारधारा का प्रचारक है वह देश में राजद्रोह की पूर्व घोषणा है। इसलिए लाला लाजपत राय जी ने अपनी अंग्रेजी की प्रसिद्ध पुस्तक "दी आर्यसमाज"[1] 1915 में लिखा है कि:—

"भारत के विदेशी शासक आर्यसमाज के प्रति सदा शंकित रहे हैं। उन्हें उसके स्वावलम्बन के आदर्श, आत्मनिर्भरता के प्रचार और स्वतः अपने बलबूते पर कार्य करने की क्षमता के प्रति शंका रही है। उसकी राष्ट्रीय विचारधारा के कारण अंग्रेज सरकार उसकी विरोधी बन गई। आर्यसमाज ने जिस तेजी से प्रगति की, और जनमानस पर उसका जो प्रभाव पड़ा और उसे जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह सरकार के लिए एक चुनौती थी। अंग्रेज शासकों को यह देखकर और भी अधिक आश्चर्य होता था कि यद्यपि आर्यसमाज कट्टरपन्थी हिन्दुओं की अनेक मन्यताओं में से विशेषकर मूर्तिपूजा आदि का विरोध करता है फिर भी हिन्दुओं में धीरे-धीरे वह लोकप्रिय होता जा रहा है। उसके प्रभाव के परिणामस्वरूप हिन्दुओं में राष्ट्रीय विचारों का प्रसार और प्रगति की भावना उत्पन्न होने लगी है। आर्यसमाज आन्दोलन जिस तेज गति से देशभर में फैला और उसके कारण विदेशी राज्य में विरुद्ध असन्तोष बढ़ने लगा यह सब नौकरशाही को शंकित करने के लिये काफी था। यही कारण है कि सरकार ने आर्यसमाज के सदस्यों के विरुद्ध समय-समय पर सख्त कदम उठाये और यहां तक कि उन्हें देश निकाला दिया तथा उनको सरकारी नौकरियों से पृथक् तक कर दिया और वह भी केवल इसलिए कि वे आर्यसमाजी थे। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से भी उनको दण्डित करने का भी प्रयत्न किया गया।"

1. देखें पृष्ठ 155

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पिछले अध्याय में हम बता चुके हैं कि किस प्रकार तत्कालीन अंग्रेज अधिकारी और अनेक विदेशी दर्शक आर्यसमाज को एक राजद्रोही संस्था समझते थे। उनके द्वारा यहां तक कहा गया कि "स्वामी दयानन्द का वास्तविक उद्देश्य हिन्दुओं में समाज सुधार करना न होकर उन सब विदेशी प्रभावों को नष्ट करना था जिनके कारण हिन्दू अपनी राष्ट्रीयता की भावना खोते जा रहे हैं। " लालाजी आगे लिखते हैं कि "इस प्रकार जब आर्यसमाज सरकार की दृष्टि में एक राजद्रोही संगठन समझा जाने लगा तो विदेशी शासकों ने उसके अनेक सदस्यों को सेना तथा अन्य सरकारी सेवाओं से पृथक् कर दिया। इस संकट की स्थिति में कुछ कमजोर व्यक्ति आर्यसमाज को छोड़कर ही चले गए किन्तु उसके अधिकांश नेता जो यद्यपि सक्रिय राजनीति में नहीं थे उन्होंने अपनी दृढ़ता और साहस का परिचय दिया और स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि आर्यसमाज को यह बात छिपाने की आवश्यकता नहीं है कि उसका मुख्य उद्देश्य मनुष्यों को नैतिक, बौद्धिक, धार्मिक और सामाजिक सभी दृष्टियों से अधिक श्रेष्ठ बनाना है और न ही उसे यह कहने में संकोच करने की आवश्यकता है कि जिन लोगों के साथ उसकी धार्मिक और सामाजिक आत्मीयता है और जो वेदों को अपनी धार्मिक पुस्तक मानते हैं उन सब में एकता उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है ताकि वे अपने महान् पूर्वजों के योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हो सकें। इसे राष्ट्रीय एकता भी कहा जा सकता है और उसकी प्राप्ति के लिए उसका यह प्रयत्न हो कि वह अपने देशवासियों को उन धार्मिक, नैतिक और सामाजिक तथा बौद्धिक दासताओं से मुक्त करे जिसमें वे सदियों से जकड़े हुए हैं। आर्यसमाज प्रत्येक अच्छे कार्य का समर्थक है और यदि अपने देश और समाज से प्रेम करना अच्छा है तो अर्यसमाज यह कार्य करता है इसके लिये उसे किसी प्रकार लज्जित होने का कारण नहीं। आर्यसमाज दृढ़ नींव पर प्रगति का समर्थक है और इसलिए वह लोगों के चरित्र निर्माण कार्य में संलग्न है। आर्यसमाज जो कुछ करता है खुले आम करता है। हमारी शिक्षण संस्थाएँ, हमारे सेवाकार्य खुले रूप से संचालित होते हैं और इसलिए यह हमारी चुनौती है कि कोई एक भी ऐसा प्रमाण नहीं दे सकता

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिससे यह सिद्ध हो कि आर्यसमाज अपना कार्य गुपचुप करता है । वस्तुतः उसके विरुद्ध एक शिकायत तो यही है कि वह आवयश्कता से अधिक स्पष्ट-वक्ता और खुला संगठन है । इतना ही नहीं वह हर प्रकार की चापलूसी और दोहरे व्यवहार के विरुद्ध है यदि इन सब का परिणाम देश की राजनैतिक स्वतंत्रता है तो उसे भी अस्वीकार करने का आर्यसमाज के लिए कोई कारण नहीं है ।"

आर्यसमाज द्वारा की गई यह अधिकृत और सार्वजनिक घोषणा उसकी प्रखर देशभक्ति का सबूत है और उसका इसलिए विशेष महत्व है कि वह उस समय की गई जब केवल "बन्दे मातरम्" कहने मात्र के कारण लोगों को जेल में भेज दिया जाता था । आर्यसमाज ने ऐसे समय इस प्रकार की घोषणा करके जो खतरा मोल लिया उसकी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की वर्तमान पीढ़ी के लोगों द्वारा प्रशंसा करना तो दूर अक्सर भुलाने का प्रयत्न किया जाता है यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है ।

राष्ट्रीयता बनाम राजनीति

आर्यसमाज के इतिहास में उपरोक्त स्पष्टीकरण महत्त्व का है । लाला लाजपतराय द्वारा आर्यसमाज की स्थिति के सम्बन्ध में किए गए इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि आर्यसमाज एक राष्ट्रीय संगठन है जो देश की सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्थिति में सुधार करके उसे एक प्रगतिशील और सशक्त राष्ट्र के रूप में देखना चाहता है । इस प्रकार आर्यसमाज की प्रखर देशभक्ति और उसके लिए आवश्यक त्याग और बलिदान करने की क्षमता देश में किसी प्रकार के राजनैतिक संगठन या संस्था की स्थापना से बहुत पूर्व स्पष्ट हो चुकी थी । किन्तु आर्यसमाज ने अपने प्रारम्भिक काल से ही यह स्पष्ट कर दिया था कि वह मुख्य रूप से एक सांस्कृतिक, सामाजिक, और राष्ट्रीय ही नहीं अपितु अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है और इसलिए देश की या विवादास्पद दलगत राजनीति और चुनावों से उसका सामूहिक रूप से कोई सम्बन्ध नहीं है । दूसरे शब्दों में वह राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
होने पर भी राजनैतिक संगठन नहीं है। उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द का जन्म इस देश में हुआ है इसलिए इस देश के प्रति उनकी निष्ठा स्वाभाविक है। राजनैतिक और राष्ट्रीय क्षेत्रों में क्या भेद है यह बताने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु आज सत्ता की दौड़ में जुटे हुए राजनेता इस अन्तर को जानबूझ कर समझना नहीं चाहते हैं।

चाहे जो हो आर्यसमाज अपना राष्ट्रीय आधार भूले बिना अपने अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता। वस्तुतः राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रथम सीढ़ी है। बिना इस आधार के अन्तर्राष्ट्रीयता या सार्वभौम संगठन एक प्रभावहीन आदर्श मात्र है। भारत में विदेशी दासता का एक लम्बा दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास रहा है। अंग्रेजों राज्य को इस देश के अनेक प्रमुख व्यक्ति एक वरदान समझते थे जिनमें राजा राममोहन राय भी एक थे। अंग्रेजी राज्य के गुण-दोषों के सम्बन्ध में यहां विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। वर्तमान संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि अंग्रेज इस देश में राष्ट्रीयता और राजनीति में कोई अन्तर नहीं करते थे और यह स्वाभाविक था क्योंकि वे हमारी प्रत्येक प्रगतिशील विचारधारा को शंका की दृष्टि से देखते थे। यहां तक की धर्म तथा समाज सुधार जैसे कार्यों के सम्बन्ध में उनकी तथाकथित निष्पक्षता का मुख्य कारण धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति नहीं थी जितनी यह आशंका थी कि जिन धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों के कारण हिन्दू समाज निरन्तर अधोगति को प्राप्त होता जा रहा है, उनके निराकरण के बाद वह एक संगठित और शक्तिशाली राष्ट्रीय शक्ति ही नहीं राजनैतिक शक्ति भी बन सकता है जो अंग्रेजी राज्य के लिए एक खतरे की घण्टी सिद्ध होगी। परिणामस्वरूप अंग्रेज प्रत्येक ऐसी गतिविधि को अपने नियंत्रण में रखना चाहते थे। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना भी एक अंग्रेज सर ह्यूम के माध्यम से और तत्कालीन वायसराय के आशीर्वाद से की गई थी। इतना ही नहीं कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में पहले अंग्रेजी राज्य के प्रति वफादारी का प्रस्ताव स्वीकार किया जाता था और उसके बाद नरम दल के लोगों द्वारा कुछ छोटी-मोटी राज-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक रियायतों की मांग की जाती थी और वह भी आवेदन तथा प्रार्थना के रूप में। कांग्रेस के मंच से लोकमान्य तिलक और लाला लाजपतराय से पूर्व किए गए शासन सम्बन्धी सुधारों और भारतवासियों को नौकरियों में स्थान देने सम्वन्धी प्रस्तावों से यह वात स्पष्ट हो जायेगी।

आर्यसमाज का योगदान

लोकमान्य तिलक और लाला लाजपत राय इसलिए गरम दल के अतिवादी नेता कहे जाते थे क्योंकि वे कांग्रेस के इस राजभक्त स्वरूप को वदल कर उसे वास्तविक अर्थों में एक राष्ट्रीय आन्दोलन वनाना चाहते थे। उन पर राजद्रोह के मुकद्दमे चलाए गए और उन्हें हिंसा तथा हत्या आदि मन-गढंत आरोपों के नाम पर देश निकाले तक की सजाएं दी गई। उनका वास्तविक अपराध केवल इतना ही था कि वे स्वामी दयानन्द के समान स्व-राज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानते थे और कुछ राजनैतिक सुधारों या मांगों से सन्तुष्ट नहीं थे और न ही वे अपने स्वाभिमान को खोकर केवल आवेदन और प्रार्थना द्वारा विदेशी राज्य के प्रति स्वामीभक्ति सिद्ध करना चाहते थे। वस्तुतः महात्मा गांधी से पूर्व कांग्रेस सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्था नहीं वन पाई थी। उसे गांधी जी ने ही एक जन आन्दोलन का स्वरूप दिया और इस परिवर्तन के कार्य में आर्यसमाज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

हमारे भू. पू. राष्ट्रपति डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हुए लिखा है कि गांधीजी द्वारा चलाए गए प्रायः सब आन्दोलनों की पृष्ठभूमि में आर्यसमाज का योगदान है, विशेषकर सामाजिक और धार्मिक सुधारों को गांधीजी ने कांग्रेस के राजनैतिक मंच का एक मुख्य आधार वनाकर आर्यसमाज की इस वात को स्वीकार किया कि सामाजिक और धार्मिक सुधारों के विना यह देश न स्वतन्त्र हो सकता है और न ही एक राष्ट्र बन सकता है। इससे पूर्व कांग्रेस के मंच से समाज सुधारों का विरोध होता रहा और आश्चर्य की वात यह है कि यह विरोध अंग्रेज प्रशासक नरम दल के गोखले और रानाडे जैसे नेताओं द्वारा न होकर लोकमान्य तिलक जैसे गरम दल के राजनैतिक नेता और उनके

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुयायी कहते थे। इनका कहना यह था कि धार्मिक और सामाजिक सुधारों का तर्क अंग्रेजों की एक चाल है जो यह कहते थे कि यह देश भाषा, जात-पांत, छुआ-छूत, बाल-विवाह और अन्य सामाजिक व धार्मिक अंधविश्वासों से इतना जरजरित और विभाजित है कि वह स्वराज्य के योग्य तो दूर उसे प्राप्त करने के बाद उसकी रक्षा के लिए भी समर्थ नहीं हो सकता। समाज सुधार विरोधी इन नेताओं का एक दूसरा कहना यह था कि देश-भक्ति का अर्थ यह है कि अपने देश की प्रत्येक वस्तु चाहे वह अच्छी हो या बुरी हो, उसके प्रति हमें अभिमान है जिनमें हमारे देश की सामाजिक और धार्मिक मान्यताएं भी सम्मिलित हैं। दुर्भाग्य से नरम दल के नेता जहाँ सामाजिक सुधारों का समर्थन करते थे वहाँ वे अंग्रेजों की इस बात को भी स्वीकार करते थे कि देश अभी पूर्ण स्वराज्य के योग्य नहीं है और शासन में धीरे-धीरे भारतीयों को स्थान देकर उसके लिए उन्हें समर्थ बनाया जा सकता है।

देशभक्ति का अर्थ

इन दो विरोधी विचारधाराओं के अतिरिक्त जो उस समय की परि-स्थियों में तर्कसंगत हो सकती हैं, आर्यसमाज ने एक नवीन और तीसरा दृष्टिकोण देश के सामने रखा और वह यह कि राजनैतिक स्वतन्त्रता और सामा-जिक तथा धार्मिक सुधार परस्पर विरोधी नहीं एक दूसरे के पूरक आन्दोलन हैं। इतना ही नहीं स्वामी दयानन्द ने देशभक्ति की हमारी कल्पना भी बदल दी। उनका कहना था कि अपनी कमजोरियों को दूर करने के बजाय उन्हें छिपाना या उनका समर्थन करना वास्तविक देश भक्ति नहीं है। शरीर में बढ़ते हुए फोड़े को केवल पट्टियों से ढकने मात्र से सारा शरीर ही विषाक्त बन कर मृत्यु का कारण बन सकता है, इसलिए उन्हें खोलकर आवश्यक हो तो उसकी चीर-फाड़ करके शरीर को रोग मुक्त करना अधिक बुद्धिमानी है। इसलिए स्वामीजी ने निर्भय होकर हिन्दुओं की सब सामाजिक और धार्मिक दुर्बलताओं का विवेचन करके उससे हिन्दू समाज को मुक्त करने का आह्वान किया। वे इन सामाजिक और धार्मिक सुधारों को देश की राष्ट्रीय प्रगति के लिए अनिवार्य समझते थे। परिणामस्वरूप लाला लाजपत

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राय जैसे उनके अनुयायियों ने कांग्रेस में इस दृष्टिकोण का समर्थन किया और यह सिद्ध कर दिया कि प्रगतिशील और क्रान्तिकारी राजनेता होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि हम अपनी धार्मिक और सामाजिक बुराइयों का भी समर्थन करें। गाँधीजी ने स्वामीजी के इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर कांग्रेस का जो कायाकल्प किया उसी का परिणाम है कि अंत में उसमें छुआछूत का निराकरण और स्त्रियों की समानता जैसे समाज सुधार के कार्यक्रम स्वीकार किए गए।

गांधीजी और कांग्रेस

आर्यसमाज के राष्ट्रीय और सामाजिक आन्दोलन की यह विशेषता थी कि वह जहां एक ओर देश की राजनैतिक स्वतन्त्रता का खुला समर्थन करता था वहीं राष्ट्रीय जागृति के लिए सामाजिक और धार्मिक सुधारों को भी अनिवार्य समझता था। इसलिए गांधी जी ने जब राजनैतिक और सामाजिक दोनों प्रकारों के सुधारों को कांग्रेस के मंच का आधार बना लिया तो आर्यसमाजियों के लिए यह आन्दोलन स्वभावतः आकर्षण का विशेष कारण बन गया। ऐसा गांधीजी ने स्वीकार भी किया है कि उनके समर्थकों में अनेक प्रमुख कार्यकर्त्ता और नेता आर्यसमाजी रहे हैं। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के शब्दों में "भारतीय पुनर्जागरण का आन्दोलन स्वामी दयानन्द ने शुरू किया था उसे व्यापक राजनीतिक नेतृत्व गांधीजी ने दिया।" इसलिए यह खेद की बात है कि स्वतन्त्रता के बाद सत्ता की राजनीति के कारण कांग्रेस ने धीरे-धीरे अपना यह स्वरूप खोकर अपने को केवल एक राजनैतिक दल बना लिया है। गांधीजी ने स्वतन्त्र भारत में पुरानी कांग्रेस को समाप्त करने की सलाह दी थी, क्योंकि वे चाहते थे कि राष्ट्रीय कांग्रेस सत्ता के स्थान में राजनैतिक और सामाजिक पुनर्निर्माण का कार्य अपना मुख्य लक्ष्य समझे। गांधीजी जिन नैतिक आदर्शों और मूल्यों के प्रतीक समझे जाते हैं वे सब कांग्रेस में शनैः शनैः किस प्रकार समाप्त होते जा रहे हैं यह बात स्वतन्त्रता के बाद उसकी स्थिति से स्पष्ट है। राजनैतिक सत्ता व्यक्तिगत लाभ और उसके लिए पनपने वाले भ्रष्टाचार के कारण आज कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था तो दूर श्रद्धास्पद दल भी नहीं

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
समझा जाता। अन्य राष्ट्रीय दलों ने भी अपनी स्थिति ऐसी ही बना ली है। उनकी आपसी फूट और मतभेदों के कारण ही वे एक सशक्त विरोधी दल या विकल्प की भूमिका भी निभाने में असमर्थ हैं। यह उदाहरण आर्यसमाज के लिए गंभीर चुनौती है। यदि उस जैसी धार्मिक और राष्ट्रीय संस्था भी चुनाव के राजनीतिक अखाड़े में उतरने की मूर्खता करे तो उसकी इससे भी अधिक दुर्गति हो सकती है। इसलिए हमारी यह मान्यता है कि आर्यसमाज को सामूहिक रूप से दलगत राजनीति से अलग या पृथक् रहने की अपनी नीति को न केवल जारी रखना चाहिए बल्कि इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि आर्यसमाज का नेतृत्व उन लोगों के हाथ में न रहे जो सत्ता की राजनीति में सक्रिय हैं।

आर्यसमाज और राजनीति

आज भी आर्यसमाज की अवनति का एक मुख्य कारण यह है कि राजनीति में सक्रिय उसके अनेक प्रमुख कार्यकर्त्ता अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए आर्यसमाज के वास्तविक स्वरूप को धुंधला करने का प्रयत्न करने से नहीं झिझकते। सस्ती लोकप्रियता के कारण उसके क्रान्तिकारी, सामाजिक व धार्मिक सुधार आन्दोलन को बड़ी क्षति हुई है, क्योंकि जिन्हें सब धर्मों, समुदायों और समूहों से वोटों की अपेक्षा बनी रहती है उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे इनमें प्रचलित उन सामाजिक और धार्मिक बुराइयों का विरोध तो दूर समालोचना तक करें जिसके विना स्वामीजी के धार्मिक और सामाजिक सुधारों का वास्तविक लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता और न ही गांधी जी के स्वप्न के भारत का निर्माण हो सकता है। आर्यसमाज मुख्य रूप से एक धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन है इस दृष्टि से उसका सदस्य व्यक्तिगत रूप से किसी भी राजनैतिक दल को समर्थन दे सकता है बशर्ते कि उस दल का लक्ष्य और नीति आर्यसमाज के विरुद्ध न हो। किन्तु साथ ही आर्यसमाज के जो कार्यकर्त्ता राजनीति को अपना मुख्य क्षेत्र समझते हैं अथवा जिन्हें राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा है उन्हें चाहिए कि वे आर्यसमाज के संगठन या मंच का उपयोग इस कार्य के लिए न करें अन्यथा आर्यसमाज अपना प्रगतिशील सामाजिक और धार्मिक स्वरूप खो देगा।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आर्यसमाज की वर्तमान स्थिति के लिए कुछ हद तक जिम्मेदार उसके नेताओं की वह समझौतावादी मनोवृत्ति है जिसके पीछे स्पष्ट रूप से राजनैतिक स्वार्थ और प्रभाव कार्य कर रहा है।

यह स्थिति भले ही अस्थायी हो फिर भी कम चिन्ताजनक नहीं है। लाला लाजपत राय की सन् 1915 में प्रकाशित अंग्रेजी की प्रसिद्ध पुस्तक "दी आर्य-समाज" उस युग से सम्बन्धित है जब आर्यसमाज अपने प्रभाव और शक्ति के शिखर पर था किन्तु सन् 1920 के बाद और विशेषकर गांधीजी के नेतृत्व में जब कांग्रेस ने समाज सुधार का कार्य अपने राजनैतिक मंच का अंग बना लिया तब से आर्यसमाज की निर्बलता का प्रारम्भ हुआ। इससे पूर्व आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसा शक्तिशाली आन्दोलन था जिसके बारे में उसके समर्थक ही नहीं उसके समालोचक भी उससे अनेक आशाएं लगाए बैठे थे।

इस प्रकार देश की राजनीति को विशेषकर स्वाधीनता संघर्ष की राज-नीति को जो एक नवीन रूप दिया गया उसका असर आर्यसमाज के प्रभाव और गतिविधियों और लोकप्रियता सभी पर पड़ा यद्यपि आर्यसमाज की यह क्षति देश के स्वाधीनता अन्दोलन में उसका गौरवपूर्ण योगदान समझा जा सकता है किन्तु स्वाधीनता के बाद भी उसे अपनी पूर्व स्थिति प्राप्त करने में सफलता नहीं मिल सकी और परिणाम यह हो रहा है कि धीरे-धीरे आर्यसमाज हिन्दू धर्म की नमक की खान में क्षत-विक्षत होकर विलीन होता जा रहा है।

हिन्दू मुस्लिम राजनीति

कांग्रेस के राष्ट्रीय अन्दोलन में लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानन्द जैसे वरिष्ठ नेताओं के सक्रिय होने के कारण उनका धीरे-धीरे आर्यसमाज से सम्बन्ध कम हो गया। इसी प्रकार हजारों कांग्रेसी कार्यकर्त्ता जिनका प्रेरणास्त्रोत आर्यसमाज था वे भी राजनीति के इस दौर में आर्यसमाज से बिछड़ गए अथवा केवल नाममात्र के लिए सम्बन्धित रहे।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधीजी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को आवश्यक बताया, परिणामस्वरूप खिलाफत जैसा विशुद्ध मुस्लिम धार्मिक आन्दोलन कांग्रेस के कार्यक्रम का ही अंग बन गया किन्तु खिलाफत का यह विदेशी तथा धार्मिक आन्दोलन असफल हो गया और देश में हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष और भी तीव्र होता गया । हिन्दू नेता जिनमें से अनेक कांग्रेस के इस आन्दोलन में गांधीजी के साथ थे उन्होंने यह अनुभव करना शुरू किया कि गांधीजी ने मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित करने के लिए उन्हें जो कीमत दी है वह न केवल राष्ट्रीयता को कमजोर करने वाली थी बल्कि वह हिन्दुओं के उचित और न्यायपूर्ण अधिकारों की सर्वथा उपेक्षा करके दी जा रही थी। ये मांगें अधिकांश केवल अनुचित ही थीं बल्कि उनमें से अधिकांश हिन्दुओं के हितों का बलिदान करके ही दी जा सकती थीं इस सब का परिणाम यह हुआ कि देश के प्रारम्भिक धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रीय आन्दोलन में सांप्रदायिक राजनीति का युग प्रारम्भ हो गया । अनेक हिन्दू नेताओं ने इसके लिए गांधीजी को उत्तरदायी बताया । उनका कहना था कि गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस का वास्तविक राष्ट्रीय स्वरूप बदलने लगा है । मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के लिए गांधीजी को अंग्रेज शासकों के साथ प्रतिस्पर्द्धा करना आवश्यक था । विदेशी शासक देश की मुस्लिम जनता को राजभक्त और अपने शासन का समर्थक बनाये रखने के लिए कई प्रकार के प्रलोभन दे रहे थे, इसलिए मुसलमानों को अंग्रेजी शासन के प्रति इस निष्ठा से हटाकर राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित करने के लिए गांधीजी के लिए भी उनकी उचित-अनुचित मांगें स्वीकार करना आवश्यक हो गया । मौहम्मद अली जिन्ना गांधी को देश का राष्ट्रीय नेता नहीं मानते थे उन्होंने सदा उन्हें एक हिन्दू नेता मानकर और यहां तक कि कांग्रेस को भी एक हिन्दू संगठन मानकर हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर गांधीजी से समझौता वार्ता की । कांग्रेस में मौलाना आजाद आदि जो मुस्लिम नेता थे उन्हें जिन्ना कांग्रेस के 'शो बॉय' अर्थात् केवल दिखावा समझते थे। दूसरी ओर हिन्दू महासभा गांधीजी को हिन्दुओं का नेता स्वीकार नहीं करती थी । उनका कहना था कि गांधीजी और उनके नेतृत्व में कांग्रेस एक हिन्दू विरोधी आन्दोलन बनता जा रहा है । इस सबका परिणाम यह हुआ कि देश में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू संगठन का एक नवीन आन्दोलन आरम्भ हो गया। जो कांग्रेस तथा गांधीजी की तथाकथित मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति की प्रतिक्रिया समझी जा सकती है।

हिन्दू संगठन

सावरकर जैसे अनेक देशभक्त हिन्दू नेता जिन्होंने देश की स्वाधीनता के लिए महान् बलिदान किया था, उनका यह आरोप था कि मुस्लिम संगठन विशेषकर मुस्लिम लीग जो केवल जमींदार या पढ़े-लिखे मुसलमानों का राजभक्त संगठन रहा है, वह स्वाधीनता आन्दोलन का लाभ उठाकर गांधीजी को अपनी अनुचित मांगें मनाने के लिए विवश करता है जो एक राजनैतिक ब्लेकमेल है और अंग्रेजों की "बांटों और राज करो" की नीति का परिणाम है। उनकी मान्यता थी कि देश के इतने बड़े बहुमत वाले हिन्दू न केवल राष्ट्र की वास्तविक रीढ़ की हड्डी के समान हैं बल्कि देश की स्वाधीनता के लिए किए गए आन्दोलनों में सबसे अधिक बलिदान और त्याग उन्हीं के द्वारा किया गया है। इसलिए उनके उचित अधिकारों को बलिदान करके मुस्लिम लीग का संदिग्ध समर्थन प्राप्त करना न सिर्फ हिन्दुओं के साथ न्याय होगा और न ही देश के वास्तविक राष्ट्रीय हित में ही होगा। सावरकर हिन्दू सभा को मुस्लिम लीग के समान एक साम्प्रदायिक आन्दोलन नहीं मानते थे, उनका कहना था कि यदि ऐसा समझा भी जाये तो भी हिन्दुओं की साम्प्रदायिकता कभी भी देश विरोधी नहीं रही है जबकि मुस्लिम साम्प्रदायिकता न केवल हिन्दू विरोधी बल्कि देश विरोधी भी रही है। आज भी अपनी धार्मिक मान्यताओं के आधार पर अनेक मुसलमान, मुस्लिम देशों के प्रति अपनी आस्था के कारण अपनी मातृभूमि भारत के प्रति वैसे वफादार नहीं हैं जैसे हिन्दू हैं।

नागरिकता का आधार

स्वाधीनता से पूर्व और बाद में भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की गांधीजी तथा कांग्रेस द्वारा प्रतिपादित नीति सफल नहीं हो सकी यह अनेक तथ्यों से स्पष्ट है। इस नीति के आधार पर न तो साम्प्रदायिक सद्भावना और एकता उत्पन्न की जा सकी और न ही एक समान धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र की

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
नींव ही रखी जा सकी। देश का जो विभाजन हुआ उसका वास्तविक आधार हिन्दू-मुसलमानों का धार्मिक मतभेद रहा है। इतना ही नहीं देश के विभाजन के समय जो रक्त-पात और धन-जन का विनाश हुआ आधुनिक इतिहास में वैसा कभी नहीं हुआ। स्वतः देश का विभाजन और पाकिस्तान की स्थापना भी इसी नीति का अनिवार्य परिणाम समझा जा सकता है। विचित्र बात तो यह है कि जहाँ एक ओर धर्मनिरपेक्ष समझे जाने वाले कांग्रेसी नेता साम्प्रदायिक और धार्मिक मतभेदों को स्वीकार करते रहे और राजनैतिक क्षेत्र में भी उन्हें मान्यता देते रहे वहां दूसरी ओर साम्प्रदायिक समझे जाने वाले हिन्दुत्वनिष्ठ नेता बारबार इस बात पर आग्रह करते रहे कि देश की नागरिकता का एकमात्र आधार नागरिकों की स्वदेश भक्ति होनी चाहिए न कि उनकी जाति, धर्म या सम्प्रदाय। इसके उत्तर में यह आक्षेप जरूर किया जा सकता है कि चूंकि हिन्दू बहुत बड़े बहुमत में हैं इसलिए इस प्रकार की नागरिकता के आधार पर भी उनका वर्चस्व बना रहेगा। इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में यह तर्क दिया जाता है कि प्रजातन्त्र में बहुमत के न्यायपूर्ण अधिकारों की उपेक्षा नहीं की जा सकती जहाँ तक धार्मिक अल्पसंख्यकों का प्रश्न है वह केवल इस आधार पर सुलझाना चाहिए कि उनके धार्मिक अधिकार तो सुरक्षित रहें। सार्वजनिक राजनैतिक क्षेत्र में इस आधार पर अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक के सिद्धान्त को स्वीकार करना धर्मनिरपेक्षता के भी विरुद्ध है।

चाहे जो हो इस घटनाचक्र से आर्यसमाज पुनः प्रभावित हुआ। स्वामी दयानन्द की स्वराज्य सम्बन्धी स्पष्ट घोषणा से प्रभावित होकर जिस प्रकार आर्यसमाजी गांधी जी के स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने से अपने आपको नहीं रोक सके, उसी प्रकार उसके अनेक नेता खिलाफत के बाद हिन्दुओं की कठिन घड़ी में उनकी सहायता करने से भी इंकार नहीं कर सके। आर्यसमाज के अनेक नेता जिनमें भाई परमानन्द जैसे अंग्रेजों द्वारा फांसी तथा बाद में जन्म कैद की सजा पाने वाले स्वतन्त्रता सेनानी भी थे। वे स्वाधीनता के जिन्दा शहीद श्री वीर सावरकर के समान यहाँ तक घोषणा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करने के लिए विवश हुए कि अब हिन्दू संगठन ही उनका नवीन धर्म है। इस प्रकार आर्यसमाज के प्रभाव और शक्ति को एक बार फिर हिन्दू संगठन और एकता के लिए अपने असली स्वरूप का त्याग करना पड़ा। स्वाधीनता के बाद तो सत्ता का लोभ अनेक व्यक्तियों के लिए आर्यसमाज के प्रति निष्ठा से कहीं अधिक आकर्षक सिद्ध हुआ। जो कांग्रेस के माध्यम से राजनैतिक सत्ता और अधिकार प्राप्त नहीं कर सके अथवा जिन्होंने अंग्रेजों की मुस्लिमपरस्त नीति को स्वीकार नहीं किया वे भी जनसंघ और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसी हिन्दुत्वनिष्ठ संस्थाओं में सम्मिलित हो गए। इतना ही नहीं इन सब माध्यमों से वंचित अनेक व्यक्ति जो आर्यसमाज में बने रहे उनका भी मुख्य उद्देश्य आर्यसमाज के माध्यम से अपनी अन्य महत्वाकांक्षा की पूर्ति बन गया। वास्तव में जिन लोगों ने आर्यसमाज छोड़कर दूसरे संगठन का सहारा लिया उनसे कहीं अधिक समाज को हानि उनसे हुई जो इस प्रकार आर्यसमाज में बने रहे या उसमें आये। इनमें से कुछ व्यक्ति तो राजा से अधिक राजभक्त बनने के प्रयत्न में आर्यसमाज के सिद्धान्तों और नीतियों का विरोध करके भी अपनी धर्म निरपेक्षता सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे और कुछ लोगों ने स्वामी दयानन्द के धार्मिक सिद्धान्तों तक को तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न किया। हिन्दू धर्म और संगठन के समर्थक इस उद्देश्य से आर्यसमाज में प्रवेश करने लगे कि वे उस पर अधिकार प्राप्त कर सकें और इस प्रकार अंत में उसे तथाकथित हिन्दू धर्म या सम्प्रदाय में विलीन कर ले अथवा कम से कम उसे हिन्दू धर्म का ही एक सुधरा हुआ सम्प्रदाय बना लें।

आत्मरक्षा का प्रश्न

आर्यसमाज के लिए उसके बाहर और अन्दर के ये दोनों ही तत्व घातक हैं और उनसे बचने के दो उपाय हैं। एक तो यह कि समाज को हर प्रकार की राजनीति से सर्वथा अलग रखा जाये और दूसरा उपाय है कि उसका हिन्दू धर्म से पृथक् अस्तित्व सुरक्षित रखा जाये।

स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति की पहले ही कल्पना कर ली थी। उन्होंने लिखा था कि "जहाँ एक ओर कट्टरपंथी हिन्दुओं के साथ आर्यसमाज की बढ़ती हुई मित्रता से उसको बल मिल सकता

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वहां दूसरी ओर उसमें एक खतरा भी छिपा हुआ है और वह यह कि उसका समाज सुधारक स्वरूप निर्बल हो सकता है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज हिन्दुओं के विशाल समुद्र में विलुप्त न हो इस बात की सावधानी रखना जरूरी है।" स्व. लालाजी के स्वर्गवास के बाद लगभग 70 वर्ष की इस अवधि में आर्यसमाज की स्थिति में जो परिवर्तन हुए हैं उसके परिणामस्वरूप अब यह खतरा और भी बढ़ गया है। आर्यसमाज हिन्दुओं की रक्षा करने में समर्थ हो या न हो किन्तु यह स्पष्ट है कि वह स्वयं अपने रक्षा करनी की क्षमता भी खोता जा रहा है।

आज हिन्दू पहले से कहीं अधिक संगठित हैं और हिन्दू समाज की रक्षा के लिए अन्य दूसरे संगठन जो शायद कहीं ज्यादा प्रभावशाली हैं, मौजूद हैं इस-लिए भी आर्यसमाज को अब पहले स्वयं अपनी रक्षा और अस्तित्व की चिन्ता करनी चाहिए। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि आर्यसमाज के पृथक् अस्तित्व के मेरे इस आग्रह का कारण हिन्दू समाज के प्रति अनास्था या उसकी उन्नति के सम्बन्ध में उपेक्षा नहीं है, इसके विपरीत मेरी मान्यता है कि ऐसा हिन्दुओं के हित में भी आवश्यक है क्योंकि हिन्दू धर्म में विलीन होकर आर्यसमाज समाप्त तो हो सकता है किन्तु वह हिन्दू समाज का उद्धार नहीं कर सकता। उसका पृथक् अस्तित्व बना रहे तभी वह हिन्दुओं के पुनर्जागरण का कार्य जारी रख सकता है तथा वर्तमान जटिल हिन्दू धर्म को एक तर्कपूर्ण सीधा-सादा और प्रगतिशील वैदिक धर्म का स्वरूप दे सकता है जिसकी स्वामी दयानन्द ने कल्पना की थी।

आर्यसमाज की भूमिका

पिछले अध्याय में आर्यसमाज की वर्तमान स्थिति के बारे में जो विचार व्यक्त किये गये है उनसे स्पष्ट है कि अब आर्यसमाज के एक ऐसे पुनः-संगठन की आवश्यकता है कि जो भारत के वर्तमान राजनैतिक उतार-चढ़ावों से सर्वथा मुक्त हो और अपने सार्वभौम वैदिक धर्म प्रचार का लक्ष्य उसका मुख्य कार्यक्रम हो। आर्यसमाज की इस प्रकार के कायाकल्प के बाद

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ही वह अपने गौरवपूर्ण भूतकाल के अनुरूप अपनी भूमिका निभा सकेगा और इस प्रकार ऐसी नवीन पीढ़ी का निर्माण कर सकेगा जो हमारे देश के वर्तमान पतनोन्मुख सार्वजनिक जीवन को पुनः शुद्ध करने में समर्थ होगा। नव निर्माण के इस कार्य में उसकी शिक्षण संस्थाओं की मुख्य भूमिका होगी। साथ ही उपदेशकों, प्रचारकों, विचारकों और लेखकों का जो अभाव आज दिखाई दे रहा है उसको भी पूरा किया जा सकेगा।

राष्ट्रीय चरित्र

आज देश को सबसे अधिक आवश्यकता एक राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण की है। मैंने अपनी पुस्तक "राष्ट्रीय चरित्र और एकता" में इसी दृष्टि से चरित्र की एक व्यापक परिभाषा की है और व्यक्तिगत तथा सामाजिक चरित्र के अन्तर को समझाने का प्रयत्न किया है। हमारे देश में धार्मिक और नैतिक परम्परा का आधार मुख्यतः व्यक्तिगत चरित्र ही रहा है। चरित्र का अर्थ ही हम व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान विचार-व्यवहार तथा नैतिकता के संकीर्ण अर्थ में करते हैं। सामाजिक कर्त्तव्यों और व्यवहार का इनमें प्रायः समावेश नहीं होता है। वैसे तो व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है व्यक्तियों से मिलकर ही समाज बनता है फिर भी सामाजिक जीवन की एक स्पष्ट और कई अर्थों में भिन्न आचार-संहिता होती है और होनी चाहिए, जैसा संसार के अनेक प्रगतिशील देशों में समझा जाता है। इस दृष्टि से कई क्षेत्रों में व्यक्तियों के रहन-सहन, खान-पान और सर्वथा निजी व्यवहार को सार्वजनिक जीवन से पृथक् समझा जाता है।

हमारे देश में व्यक्तिगत जीवन या व्यवहार के आधार पर ही मनुष्य के सामाजिक महत्व और उपयोगिता का मूल्यांकन किया जाता है किन्तु संसार के इतिहास और महान् पुरुषों के जीवन से स्पष्ट है कि जिन छोटी-मोटी बातों के कारण हम किसी व्यक्ति को चरित्रहीन समझते हैं उनका अनेक क्षेत्रों में महानता और असाधारण प्रतिभा प्राप्ति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अपनी इन तथाकथित व्यक्तिगत कमजोरियों के बावजूद भी यह प्रसिद्ध व्यक्ति अपने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
क्षेत्रों में उल्लेखनीय विशेषता प्राप्त करने में सफल होते हैं और इतिहास को एक नया मोड़ देते हैं। इतना ही नहीं व्यक्तिगत जीवन की ये मर्यादाएं काल तथा देश के अनुसार बदलती रहती हैं। इसलिए एक विशेष समय तथा देश की मान्यताओं को हम सार्वभौम चरित्र का मापदण्ड नहीं बना सकते। उदाहरण के लिए भारत के बाहर के अनेक पूर्वी तथा पश्चिमी देशों में एक माँसाहारी व्यक्ति भी बौद्धिक, साहित्यिक और यहाँ तक की धार्मिक जगत् में भी अपनी उपलब्धिओं के कारण सब के सत्कार और आदर का पात्र समझा जाता है। दूसरी ओर अनेक प्रभावशाली उपलब्धियों और गुणों के उपरान्त भी हम अपने यहाँ किसी व्यक्ति को इसलिए निकृष्ट समझते हैं क्योंकि उसका आहार-विहार हमारी मान्यताओं के अनुकूल नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मांसभक्षण उचित और निर्दोष है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि इसप्रकार के व्यक्तिगत दोषों के कारण किसी व्यक्ति की सामाजिक महत्ता नष्ट नहीं हो जाती। यही बात व्यक्तिगत चरित्र सम्बन्धी अन्य कमजोरियों और भिन्न मान्यताओं के सम्बन्ध में भी कहीं जा सकती है। दूसरी ओर सामाजिक जीवन में सच्चाई, ईमानदारी निष्पक्षता, समानता सुदृढ़ता और निस्वार्थता और दूसरों के हित-अहित की चिन्ता, त्याग, संवेदनशीलता समय की पावन्दी आदि मर्यादाएं ऐसे गुण हैं जिनका राष्ट्रीय दृष्टि से अधिक महत्व और उपयोगिता है।

स्वतन्त्र राष्ट्र का चरित्र

स्वाधीनता के बाद देश की स्थिति और विशेषकर राजनैतिक क्षेत्र के अनुभव से स्पष्ट है कि हमने अपने देशवासियों और विशेषकर नई पीढ़ी के युवक-युवतियों के लिए किसी ऐसी आचार-संहिता के निर्माण का प्रयत्न नहीं किया जिसे हम स्वाधीन भारत के नागरिकों का 'राष्ट्रीय चरित्र' कह सकें। यहाँ तक कि हमारी अपनी शिक्षा-प्रणाली में आज भी इस प्रकार की किसी आचार संहिता को शामिल नहीं किया जिसके आधार पर प्रारम्भ से ही बच्चों को दीक्षित किया जा सके। ऐसा समझा जाता है कि भारतीय

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
और विशेषकर हिन्दू अपनी जीवन-पद्धति, आचार-विचार, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का निर्णय किसी न किसी धार्मिक विश्वास या रीति-रिवाजों के अनुसार करने का प्रयत्न करते हैं यह दृष्टिकोण हमारे व्यक्तिगत व्यवहार के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है, किन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार का व्यक्तिगत जीवन-दर्शन स्वतंत्र भारत की नवीन सामाजिक और राष्ट्रीय आवश्यकताओं को कहाँ तक पूरा कर सकता है ? हिन्दू धर्म या हिन्दू जीवन-दर्शन इस लोक से कहीं अधिक परलोक की चिन्ता करना सिखाता है जिसके कुछ ऐतिहासिक कारण भी हैं। हजारों वर्षों की राजनैतिक दासता और धार्मिक आक्रमण का शिकार कोई भी व्यक्ति सबसे पहले अपनी आत्म-रक्षा या बचाव का मार्ग तलाश करता है। हिन्दू धर्म ने इस दिशा में विशेष सफलता और अनुभव प्राप्त किया है, इसमें कोई संदेह नहीं। अंग्रेजी में कहावत है कि अपने से अधिक शक्तिशाली आक्रमण से बचने का एक तरीका उससे समझौता करना है जिसे झुक कर विजय प्राप्त करना कहा जाता है। हिन्दुओं ने सब धर्मों के प्रति आदर और बिना धार्मिक भेदभाव के सब धर्मों के महापुरुषों, देवी-देवताओं और यहाँ तक की कब्रों और समाधियों तक के सामने झुककर अपनी आत्मरक्षा के इस उपाय का सहारा लिया जिसके कारण उसका अस्तित्व बचा रहा, किन्तु ऐसा अस्तित्व केवल अस्तित्व मात्र ही सिद्ध हुआ वास्तविक जीवन और उत्कर्ष का प्रतीक नहीं बन सका। चाहे जो हो इसका एक दूरगामी दुष्परिणाम यह हुआ कि अनेक सम्प्रदायों, रीति-रिवाजों, जातियों, भाषाओं और प्रान्तों में बँटा हुआ हिन्दू समाज कभी एक संगठित राष्ट्र नहीं बन पाया। जिस प्रकार पुष्कर या कुम्भ के मेले में एकत्रित लाखों की भीड़ को सामाजिक दृष्टि से संगठित इकाई नहीं कह सकते उसी प्रकार करोड़ों हिन्दू केवल व्यक्तिगत कल्याण और सुरक्षा में प्रयत्नशील, राष्ट्र की किसी परिभाषा में नहीं आ सकते।

स्वाधीनता आन्दोलन के तात्कालिक नेताओं ने राजनैतिक एकता प्राप्त करने के लिए पश्चिम की धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार किया किन्तु हमारे देश की उपरोक्त भिन्नताओं और विशेषकर विरोधी धार्मिक मान्यताओं के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कारण उसे आज एक विकृत रूप मिल गया है और परिणामस्वरूप एक धर्मनिरपेक्ष समाज या सेक्यूलर राज्य के लाभ प्राप्त करने के स्थान में हम एक सर्वधर्म साक्षेप राज्य की प्रायः सब हानियों के शिकार हो गए हैं। यदि एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी एक धर्म का अनुयायी या समर्थक अथवा प्रतिपादक न हो तो जो राज्य अनेक धर्मों का समर्थक और प्रतिपादक बनने का प्रयत्न करे तो उसे हम और क्या कह सकते हैं! सब धर्मों के प्रति समान निष्ठा और धर्मनिरपेक्षता ये दोनों पारस्परिक विरोधी आदर्श हैं। स्पष्ट है कि किसी एक धर्म के राज्य की हानियों से सब धर्मों के राज्य से होने वाली हानियाँ उतनी ही अधिक होंगी जैसा हम अपने देश में देख रहे हैं।

हमारी विचित्र धर्मनिरपेक्षता

इतना ही नहीं धर्म को हमने पश्चिम के रिलीजन या महजब का पर्यायवाची मानकर जो धर्मनिरपेक्षता स्वीकार की उसके परिणामस्वरूप व्यापक अर्थ में धर्म पर आधारित कर्त्तव्यनिष्ठ नैतिक मूल्य भी समाप्त हो गये। वस्तुतः धर्म का अंग्रेजी, उर्दू या फारसी में कोई पर्यायवाची है ही नहीं। यदि कोई विचार उसके अत्यन्त निकट हो सकता है तो वह अंग्रेजी का ड्यूटी यानी कर्त्तव्य और फंकशन अर्थात् 'कार्य' हो सकता है और इस दृष्टि से प्रत्येक का कर्त्तव्य चाहे वह फिर अपने प्रति, अपने समाज के प्रति, अपने देश अथवा समस्त मानव समाज के प्रति हो, उसे धर्म कहा जा सकता है। धर्म के इसी अर्थ में हमने कुछ नैतिक मूल्यों को अपने धर्म या संस्कृति का आधार स्वीकार किया था किन्तु रिलीजन या मजहब से राज्य को पृथक् करने की धुन में हमने अपने इन प्राचीन नैतिक मूल्यों को भी तिलांजलि दे दी और दूसरी ओर सब धर्मों के प्रति आदर और समानता के नाम पर पारस्परिक विरोधी धार्मिक विश्वासों और अंधविश्वासों तथा रीति-रिवाजों और यहाँ तक कि अनेक धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों को भी नव जीवन प्रदान किया। हमारी शिक्षा-प्रणाली में से भी हमने इस तथाकथित धर्मनिरपेक्षता के नाम पर उन सब नैतिक और सामाजिक मूल्यों और व्यावाहारिक मापदण्डों को निकाल फेंका जो न केवल व्यक्तिगत बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
चरित्र निर्माण के लिए अनिवार्य थे। स्वतन्त्र भारत की नई पीढ़ी इसीलिए न केवल इन मूल्यों के प्रति उदासीन है बल्कि व्यवहार में उन सब की विरोधी है। हमारे राजनैतिक नेता, प्रशासक, सरकारी कर्मचारी और सा।ाजिक नेता भी स्वभावतः इसी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका न व्यक्तिगत और न ही सामाजिक व्यवहार किसी आदर्श और नैतिक संहिता पर आधारित है। उनका एकमात्र लक्ष्य संकीर्ण व्यक्तिगत स्वार्थ या राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना है, चाहे फिर वह किसी तरीके और साधन से क्यों न हो। परिणाम यह है कि हमारे देश की प्रायः सारी प्रजातन्त्रात्मक संस्थाएं लड़-खड़ा रही हैं। कुछ लोग इसे केवल एक परिवर्तन के दौर की विकृति समझते हैं किन्तु यदि ऐसा है तो भी वह कम चिंतनीय नहीं है क्योंकि परिवर्तन काल में ही यदि हमने गलत मार्ग चुन लिया तो वह हमें अपने लक्ष्य के ठीक विपरीत दिशा में ले जा सकता है। इस सारे विवेचन का उद्देश्य यह देखना है कि इस निराशाजनक स्थिति में आर्यसमाज की क्या भूमिका हो सकती है ?

इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति स्वीकार करनी होगी कि स्वाधीनता के बाद के पिछले 37 वर्षों में देश का जो पतन हुआ है और हमारे सामाजिक और राजनैतिक जीवन में जो गिरावट आई है उससे स्वय आर्यसमाज भी अछूता नहीं रह सका है। मेरी सम्मति में उसका एक कारण यह भी है कि अन्य अनेक धार्मिक संगठनों के विपरीत आर्यसमाज का संगठन प्रजातन्त्रात्मक आधार पर बनाया गया है। प्रजातन्त्र केवल एक प्रणाली नहीं है वह एक जीवन-पद्धति और सामाजिक आदर्श भी है। सार्वजनिक और विशेषकर राजनैतिक क्षेत्र में उसकी विकृति से इसीलिए आर्यसमाज भी नहीं बच सका।

स्वाधीनता के बाद वे सामाजिक और धार्मिक सुधार भी धीमे पड़ गये जो स्वाधीनता आन्दोलन के समय राष्ट्रीय चेतना के लिए आवश्यक समझे जाते थे। राजनैतिक क्षेत्र में भ्रष्टाचार के कारण पहले की सामाजिक और धार्मिक उपलब्धियाँ भी धीरे-धीरे प्रभावहीन हो रही हैं। हमें स्मरण

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखना चाहिए कि मनुष्य ही सब मूल्यों का माध्यम है इसलिए हमारे देशवासियों और विशेषकर नेताओं के चरित्र का ह्रास होता है तो कोई भी शासन प्रणाली या समाज-व्यवस्था चाहे वह कितनी अच्छी हो, सफल नहीं हो सकती। राजनैतिक उद्देश्यों के लिए और विशेषकर चुनाव के संघर्ष में हमारे प्रायः सारे पुराने आदर्श और नैतिक मापदण्ड विकृत होने लगे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि हमारी वर्तमान अनेक कठिनाइयों का एक कारण जनसंख्या का विस्फोट भी है। हमारी बहुत-सी आर्थिक और नैतिक समस्याओं के लिए तीव्र गति से बढ़ने वाली हमारे देश की जनसंख्या है यह कहने कि आवश्यकता नहीं है।

पुराने 33 करोड़ देवताओं का यह देश अब लगभग 80 करोड़ में से 30 करोड़ भूखे नंगे और निरक्षर लोगों का निवास स्थान है। जिस देश में कभी दूध और दही की नदियाँ बहती थीं आज वहाँ गरीब और निरक्षरत था निर्बल लोगों की आपार भीड़ ही दिखाई देती है चाहे फिर वह बाजार हो, स्कूल हो, रेलवे का प्लेटफार्म हो या गन्दी बस्तियां। जहाँ केवल अपना पेट भरने और तन ढकने के लिए लोगों का एक दूसरे से संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा अनिवार्य हो वहां नैतिक मूल्यों के लिए कहां गुंजाइश है ?

कहा जाता है कि पण्डित जवाहरलाल नेहरू धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करते थे या यों कहना चाहिए कि उनके प्रति वे सर्वथा उदासीन थे संभवतः उन्होंने इसीलिए धर्म और राजनीति में एक अन्तर बनाये रखने का प्रयत्न किया। किन्तु आज उनके उत्तराधिकारी राजनैतिक स्वार्थ के लिए धर्म का मनमाना दुरुपयोग करने लगे हैं। धार्मिक समन्वय की दुहाई देने वाले इन लोगों के बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे न अशिक्षा के कारण अंधविश्वास के शिकार हैं अथवा उनके द्वारा तीर्थों मन्दिरों की यात्रा तथा गुरुओं सन्तों से भेंट अथवा समाधियों और मजारों पर चढ़ावे उनकी धार्मिक मान्यताओं और श्रद्धा के द्योतक हैं। ये सब नाटक उनके द्वारा केवल राजनैतिक लाभ के लिए किये जाते हैं। देश के प्रमुख नेता तक यह स्वीकार

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करते हैं कि वे यह सब दिखावा इसलिए करते हैं ताकि वे धर्मभीरू तथा उनके गुरुओं में अपनी लोकप्रियता बनाए रख सकें। यदि यह भी मान लिया जाये कि प्रजातन्त्र में जन साधारण से अपनी निकटता और सम्पर्क रखने के लिए यह आवश्यक है, तब भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसी सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले इन व्यवहारों से अंधविश्वासों और दकियानुसियत को प्रोत्साहन मिलता है और देश को एक प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र बनाने का हमारा लक्ष्य पिछड़ जाता है। साथ ही ऐसे ढोंगी प्रदर्शनों से अवाञ्छनीय तत्वों को प्रोत्साहन मिलता है। वस्तुत: यह सब वास्तविक धर्मनिरपेक्षता की एक बड़ी विकृति है जिसके कारण हमारा देश मध्यकालीन और आधुनिक युग का एक विचित्र अजायबघर बन रहा है।

मानव निर्माण

हमने अपने देश में आर्थिक विकास के लिए अनेक योजनाएं बनाई किंतु उनकी सफलता के लिए आवश्यक मानवीय चरित्र के निर्माण का यत्न नहीं किया जिसके बिना कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। हमने अपनी शिक्षा-पद्धति में सुधार करने के अनेक प्रयत्न किए किन्तु उसकी जड़ को सींचने के बदले केवल पत्तों और टहनियों को काटते-छांटते रहें। कितने वर्षों का पाठ्यक्रम हो, क्या-क्या विषय पढ़ाए जाये और परिक्षाएं कितनी बार हों, इन बातों की ओर हमने आवश्यकता से अधिक ध्यान दिया किंतु शिक्षा के राष्ट्रीय लक्ष्य की हमने उपेक्षा की जिसके बिना हमारे स्वप्न के भारत का निर्माण संभव नहीं है। गत 37 वर्षों में हम ऐसी एक भी पीढ़ी का निर्माण अपने स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों द्वारा नहीं कर सके जो उस स्वतन्त्र और नवीन समाज व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक था जिसे हम लाना चाहते थे। हमारी सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी कि हम ऐसे युवक-युवतियों का निर्माण करते जिनमें एक नवीन राष्ट्र के निर्माण की लगन, योग्यता और महत्वाकांक्षा स्पष्ट दिखाई देती। राजनीति से धर्म को पृथक् करने का जो प्रयत्न हमने किया सैद्धान्तिक दृष्टि सही था किन्तु व्यवहार में उसका ठीक विपरीत उपयोग किया गया। परिणाम यह हुआ कि धर्मनिरपेक्षता

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के वास्तविक उद्देश्य को भूलकर सब क्षेत्रों में राजनीति को प्रोत्साहन मिल गया। खरबूजा चाहे छुरी पर गिरे या छुरी खरबूजे पर, दोनों का परिणाम एक ही होता है इसलिए राजनीति से धर्म को पृथक् करने के नाम पर हमने राजनीति को धर्म से जोड़ दिया। इतना ही नहीं शिक्षा और नैतिकता सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन तक में राजनीति का यह विष फैल गया। हमारा विश्वास था कि राजनैतिक स्वतन्त्रता हमारी सारी कठिनाइयों और बुराइयों को दूर कर देगी किन्तु हमारे राजनेताओं ने उन पुराने मूल्यों को भी नष्ट कर दिया जिन्हें हम लम्बी राजनैतिक दासता के उपरान्त भी सुरक्षित रख पाये थे। यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि नव प्राप्त राजनैतिक स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के इस दुरुपयोग के कारण हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की प्रायः सारी बुराइयां फिर उभर कर ऊपर आ रही हैं। ऐसा लगता है कि राजनैतिक स्वतंत्रता ने उन बन्धनों और अंकुशों को भी हटा दिया है जिनके कारण हमारी अनेक सामाजिक और व्यक्तिगत निर्बलताएं एक सीमा से बाहर नहीं फैल सकती थी। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के नाम पर हमने उन नैतिक धार्मिक और सामाजिक मर्यादाओं की भी उपेक्षा करना प्रारम्भ कर दिया है, जिनके बिना कोई व्यवस्थित समाज व्यवस्था टिक नहीं सकती। जैसा रूसो ने कहा है कि "सारा समाज तभी पूर्ण रूप से स्वतंत्र रह सकता है जब प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता पर थोड़ा-थोड़ा बन्धन बना रहे। सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त और विशेषकर नैतिक मर्यादाओं से शून्य, समाज स्वतंत्र नहीं अपितु उच्छृंखल हो सकता है। स्वाधीनता के 37 वर्षों के बाद भी देश के जिन करोड़ों लोगों को अपनी रोटी और कपड़े की चिंता सदा व्यथित करती रहती है और जो आज भी अपनी दकियानुसी अन्ध परम्पराओं की जंजीरों में बन्धे हुए हैं उनसे यह अपेक्षा कैसे की जा सकती है वे अपनी नव प्राप्त राजनैतिक आजादी के साथ जुड़े उत्तरदायित्व को समझकर पूरा कर सकेंगे पहले वे सामन्तों राजा महा राजाओं पण्डित और मौलवियों के दास थे अब वे सत्ताधारी राजनैतिक नेताओं को ही अपना सर्वेसवी समझने लगे हैं। सदियों से अपनी सब कठिनाइयों और आपदाओं के लिए केवल अपने भाग्य को दोषी ठहराने के अभ्यस्त इन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे अपने इन नवीन भाग्य विधाताओं द्वारा जकड़ी गई इन बेड़ियों को तोड़ फैंके। हमारे देश में इस परम्परावादी जनमानस की अपने दुख और कष्ट चुपचाप सहने की क्षमता अपार है आज भी इस देश में हजारों लाखों ऐसे व्यक्ति हैं जो अपना दुःख और कष्ट केवल अपने कर्मों का फल मानते हैं या देवी-देवताओं की अप्रसन्नता का परिणाम समझते हैं।

इण्डियन एक्सप्रैस से भूतपूर्व संपादक श्री मूलगांवकर ने 19 जनवरी 1980 के अपने एक संपादकीय में इस स्थिति का विवेचन करते हुए लिखा है "स्वतंत्र भारत में भी व्याप्त भयंकर दरिद्रता, असंख्य सामाजिक अन्याय, शासक दल और सरकार का भ्रष्टाचार मगरूर नौकरशाही, पुलिस में व्याप्त अराजकता, व्यापक बेरोजगारी, प्रतिदिन बढ़ने वाले अपराध, मुद्रा स्फीति और आवश्यक वस्तुओं का अभाव इन सब को हमारे देश के लोग जिस धैर्य और निर्विरोध रूप से सहन करते हैं वह सचमुच आश्चर्यजनक है। इसका भयभीत करने वाला उत्तरदायित्व उन पर है जिनके हाथ में राजनैतिक सत्ता और शासन है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। सबसे बड़ी आवश्यकता एक नवीन मार्गदर्शन की है। जिसके द्वारा निर्वाचन पद्धति में सुधार राजनीतिक दलों से प्रभावित न होने वाली न्यायपालिका का प्रमुख है। शासक दल की भ्रष्ट स्वार्थपरता से सरकारी तंत्र को सुरक्षित करना भी आवश्यक है। इसी प्रकार हमारी शिक्षा पद्धति जो अपना उद्देश्य और रास्ता भूल चुकी है उसका पुनर्गठन भी आवश्यक है।

यह प्रसिद्ध कहावत है कि जनता को वही राज्य मिलता है जिसके वह योग्य है, यह आधुनिक भारत में पूरी तरह से चरितार्थ होती है। प्रजातंत्र में राजनैतिक दल अनिवार्य समझे जाते हैं किन्तु हमने उन्हें सर्वथा विकृत रूप दे दिया है। एक ओर जहां शासक दल इस बात का निरन्तर प्रयत्न करता है कि देश में विरोधी या विपक्षी दल पनपने ही न पाए दूसरी ओर विरोधी दल यह मानकर चलते हैं कि उनका अस्तित्व और औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब वे शासक दल की प्रत्येक बात का विरोध करें और शासन

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था ठप्प करदें । जब शासक दल विरोधी बन जाता है तब वह भी उसका अनुकरण करने लगता है और परिणामस्वरूप हड़ताल, धरना, हिंसक जुलूस और अवांछनीय विरोध तथा देश की सम्पत्ति और निर्दोष व्यक्तियों की जान का विनाश हमारे सार्वजनिक जीवन की विशेषता बन गई है। कानून के प्रति लोगों का आदर घटता जाता है और उसका उल्लंघन करते समय भय अनुभव नहीं होता। भूतपूर्व मुख्यमंत्री और यहाँ तक कि सेवामुक्त मुख्य न्यायाधीश तक आन्दोलनों का नेतृत्व करके अपनी गिरफ्तारियां देते हैं और सरकार विरोधी नारे लगाते हैं, अपने अनुयायियों को कानून तोड़ने को उकसाते हैं। जब यही मुख्यमंत्री तथा मंत्री पुनः सत्ता में आ जाते हैं तब निर्लज्जतापूर्वक जनता कोकानून का पालन करने और आन्दोलन न करने का उपदेश देते हैं। परिणामस्वरूप यह धारणा बन गई कि हमारी वर्तमानशासन-प्रणाली में किसी मांग का औचित्य इतना महत्व का नहीं है जितना उसके लिए किए जाने वाले आन्दोलन की ताकत और सफलता। उचित से उचित माँग तब तक नहीं मानी जाती जब तक उसके लिए कोई संगठित आन्दोलन न हो। दूसरी ओर मांगें कितनी ही अनुचित और हानिकर हों वे स्वीकार हो जाती हैं बशर्ते कि उनके नाम पर होने वाला आन्दोलन और विरोध काफी जोरदार और जनजीवन को अस्त-व्यस्त करने वाला हो। जहां तक कॉलेज और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों का प्रश्न है उन्हें इस क्षेत्र में विशेष अधिकार प्राप्त हैं क्योंकि तोड़फोड़ और दंगा-फिसाद करने और सारे जन-जीवन को ठप्प करने की उनमें क्षमता अधिक है। इतना ही नहीं जिन गैर कानूनी कार्यों और अपराधों के लिए अन्य व्यक्ति दण्डित किए जाते हैं विद्यार्थी उनसे मुक्त समझे जाते हैं। इन सबका परिणाम यह है कि प्रदर्शन, बॉयकाट, धरना और हड़ताल कैसी भी अन्यायपूर्ण और अनुचित और यहाँ तक कि हानिकर मांगों के लिए हो उन्हें मनवाने के लिए विद्यार्थी लोकप्रिय साधन बन गए हैं। विदेशी राज्य में हमें कानून बनाने या उसको बदलने की स्वतंत्रता नहीं थी इसलिए गांधीजी ने उनकी अवज्ञा का मार्ग अपनाया था किन्तु आज जब हम स्वयं कानून बनाते हैं और उन्हें संवैधानिक तरीकों से बदल सकते हैं, तब भी हम उन्हीं पुराने अवज्ञापूर्ण तरीकों का सहारा लेते हैं। शायद अब यह हमारे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

स्वभाव का अंग बन गया है। सब प्रकार के आक्रमण चाहे वे राजनैतिक दलों द्वारा हों या समाचार पत्रों द्वारा किये जाएं, सहन किये जाते हैं। अव्यवस्था फैलाना, शिक्षा अथवा उद्योग धंधों में उत्पादन ठप्प करना ट्रेड यूनियनों का अधिकार बन गया है। गांधी जी ने हमें यह सिखाया था कि हमारे साध्य भी उतने ही निर्दोष होने चाहिए जितने हमारे साधन, किन्तु आज सब की आँखें केवल अपने लक्ष्य प्राप्ति पर टिकी हुई हैं चाहे वह कितना भी स्वार्थपूर्ण और अहितकर हो और उसके लिए चाहे जो उपाय करने पड़े। कहने को तो सब दल यह घोषणा करते हैं कि व्यक्ति के ऊपर दल और दल के ऊपर देश का हित है लेकिन व्यवहार में ठीक इसका उल्टा हो रहा है। अपने दल के अनुयायियों को चाहे जो करने की छूट दी जाती है और किसी अपराध के लिए उनको दोषी नहीं समझा जाता जबकि अपने राजनैतिक विपक्षियों द्वारा किया अच्छा और ईमानदारी पूर्ण कार्य भी अपराध समझा जाता है। आपातकाल और उसके बाद अनेक अपराध, धोखाधड़ी और अन्य निन्दनीय व्यवहार करने वालों को इसलिए अभयदान दिया गया कि वे शासक दल के समर्थक थे। न्यायालयों में उनके विरुद्ध विचाराधीन मुकद्दमे तक वापस ले लिये गये। दूसरी ओर अनेक राजनैतिक विरोधी पीड़ित किए गए और उन अपराधों के लिए दंडित किए गए जो उन्होंने कभी नहीं किये थे। ये सब बातें इस बात का प्रमाण हैं कि हमारे राजनैतिक जीवन का कितना अधोगति हो गयी है।

दयानन्द का प्रजातन्त्र

दयानन्द ने जिस सामाजिक और धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्रांति को प्रारम्भ किया था उसे गांधी जी ने राजनैतिक आन्दोलन के द्वारा सफल बनाया। वर्तमान निराशाजनक स्थिति में यदि हम पुनः दयानन्द के आदर्श और मार्ग को स्वीकार करने का प्रयत्न कर सके तो हो सकता है कि इस स्थिति में सुधार हो और यह कार्य आर्य समाज ही कर सकता है बशर्ते कि वह अपने वास्तविक स्वरूप और क्षमता को बनाए रखे।

उदाहरण के लिए दयानन्द का प्रजातन्त्र एक व्यक्ति एकमत या केवल बहु-सख्यकों के निर्णय पर आधारित नहीं था वे मत देने वाले और मत

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्राप्त करने वाले दोनों के लिए कुछ आवश्यक गुणों और योग्यता समझते थे। नैतिक चरित्र और बौद्धिक योग्यता उनकी दृष्टि में संख्या से कहीं अधिक आवश्यक थी। आधुनिक भारत में संम्भवतः आर्य समाज ही पहला संगठन था जिसका अपना लिखा हुआ सँविधान था जो निर्वाचन के प्रजातंत्रात्मक आदर्शों पर बनाया गया था। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि दयानन्द ने केवल सदस्यों को भर्ती और चन्दे को चुनाव की योग्यता के लिए पर्याप्त नहीं समझा। उनके द्वारा प्रसारित आर्य समाज के नियम-उपनियमों में सदस्यों की ईमानदारी सच्चरित्रता, त्याग, सेवाभाव, परोपकार आदि की योग्यतायें भी आवश्यक थी। इसलिए उन्होंने यह शर्त रखी कि पूर्ण सदस्यता से पहले प्रत्येक व्यक्ति को सहायक सदस्य के रूप में अपनी योग्यताओं का परिचय देना होगा। इसी प्रकार इस संविधान में विशेष योग्यता और विद्वत्ता के अतिरिक्त व्यक्ति को सार्वजनिक सेवा और परोपकार के आधार पर चन्दा और उपस्थिति आदि की शर्तों से मुक्त करने का भी प्रावधान है। स्पष्ट है कि आज हमारे देश में जिस प्रकार का प्रजातंत्र प्रचलित है दयानन्द उसका कभी समर्थन नहीं कर सकते थे। उनकी दृष्टि में एक विद्वान् और निस्वार्थ व्यक्ति की राय सैंकड़ों मूर्खों और स्वार्थियों के बहुमत से कहीं अधिक महत्त्व रखती थी। रूसो के समान उनको भी यह विश्वास था कि असली जनमत वह है जो केवल जनता की इच्छा का प्रतीक न होकर उनके हित का भी प्रतिपादक हो। गांधी जी के समान इसलिए वे इस प्रकार के प्रबुद्ध अल्पमत और यहां तक की एक व्यक्ति की सम्मति को अधिक महत्व देते थे।

⊙ ⊙

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 15

दयानन्द और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता का सम्बन्ध उन लोगों की जन्मभूमि से है जो भावनात्मक दृष्टि से एक सूत्र में बंधे होते हैं। उस देश को उनकी मातृभूमि या पितृभूमि कहा जाता है। आधुनिक या पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार राष्ट्र एक भौगोलिक और भावनात्मक इकाई है। जिसके लिये राजनैतिक स्वतन्त्रता आवश्यक समझी जाती है। इसलिये हम उसे राष्ट्र, राज्य, नेशन या स्टेट कहते हैं जो सार्वभौम और किसी बाहरी नियंत्रण से सर्वथा मुक्त है।

इस्लाम और राष्ट्रीयता

राष्ट्रीयता की उपरोक्त कल्पना के विपरीत इस्लाम आदि कुछ धर्मों के अनुयायी धार्मिक एकता को राष्ट्रीयता का आधार मानते हैं, इसी प्रकार नस्ल, जाति या भाषा को भी राष्ट्रीयता का आधार समझा जाता है। आज भी इस प्रकार के राज्य हैं। उदाहरण के लिये पाकिस्तान, ईरान, सऊदी अरब आदि जिनकी एकता का आधार उनका धर्म है और इसलिये वे उसे इस्लामी राज्य कहते हैं, उन्हें थिओक्रेसी या धर्मतन्त्र भी कहा जा सकता है। यह केवल इसलिये नहीं कि वहां रहने वालों का बहुमत ईस्लाम धर्म का अनुयायी है बल्कि इसलिये भी कि इस्लाम उनका राज्य धर्म है। वहां के गैर मुसलमान पूरे नागरिक न होकर द्वितीय श्रेणी के नागरिक होते हैं। उनके कोई मौलिक अधिकार भी नहीं हैं यहां तक कि धार्मिक विषयों में भी वे स्वतन्त्र नहीं हैं। वास्तव में शरिअत अर्थात् इस्लामी कानून के अनुसार वहां रहने वाले गैर मुसलमानों को एक विशेष प्रकार का टैक्स

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

अर्थात् जजिया देना होता है। मुसलमान में औरंगजेब ने हिन्दुओं पर 'जजिया' नामक यह कर इसी कारण लगाया था कि उसने अपने राज्य को एक इस्लामी राज्य घोषित किया था। यद्यपि भारत देश का बहुमत गैर मुसलमान अर्थात् हिन्दू था। कहने का तात्पर्य यह है कि इस्लाम किसी देश विशेष या जन्मभूमि को राष्ट्रीयता का आधार नहीं मानता। उसकी दृष्टि में धर्म ही उनकी राष्ट्रीयता का आधार है और इस प्रकार मुसलमान चाहे वह किसी नस्ल, देश या भाषा बोलने वाले हों, वे सब एक राष्ट्र हैं। वस्तुतः राष्ट्र शब्द एक आधुनिक कल्पना या विचार है, उसका आधार समान विचार, समान भावना है जिन्हें बिरादरी या भ्रातृभाव आदि शब्दों से भी व्यक्त किया जा सकता है। 'पान इस्लामीज्म' के अनुसार सब मुसलमान इस दृष्टि से एक बिरादरी या एक राष्ट्र के अंग हैं। अनेक अलग-अलग इस्लामी देश होने पर भी उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता की कल्पना भी इसी धार्मिक एकता के आधार पर स्थित है। इसलिये कुछ समय पूर्व यह प्रयत्न किया गया था कि सारे इस्लामी देशों को संगठित कर संयुक्त राष्ट्र के समान एक समानान्तर अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में खड़ा किया जाए। अलग-अलग मुस्लिम देश या राज्य केवल प्रशासन या विकेन्द्रीकरण की वर्तमान आवश्यकता के कारण अस्तित्व में आये हैं अन्यथा पहले सारे इस्लामी देशों का सर्वोच्च शासक एक खलीफा होता था जो पैगम्बर मौहम्मद का अपने को उत्तराधिकारी समझोता था। जैसा कभी रोम का पोप सब ईसाई राज्यों का सर्वोपरि अधिष्ठाता समझा जाता था।

हिन्दू राष्ट्रीयता

कुछ विदेशी लेखकों ने स्वामी दयानन्द को हिन्दू राष्ट्रीयता का प्रतिपादक कहा है। वास्तव में यह सही नहीं है। यदि इसका अर्थ हिन्दू धर्म पर आधारित राष्ट्रीयता है जैसा कि साधारणतः समझा जाता है तो यह और भी भ्रमपूर्ण है, क्योंकि जैसा हम पहले बता चुके हैं कि हिन्दू धर्म नाम का कोई एक संगठित और स्पष्ट धर्म है ही नहीं। इसलिये उसे ऐसी राष्ट्रीयता का माध्यम कैसे बनाया जा सकता है जिसका आधार ही

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
एकरूपता है। राष्ट्रीयता के लिये सबसे आवश्यक तत्व ऐसी ही एकता की भावना है जो स्पष्ट और तीव्र हो। इस प्रकार की एकता में हिन्दुओं को बांधने के लिये सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक आधार भले ही हों किन्तु उनका धर्म इसमें सहायक न होकर बाधक है। हिन्दू शब्द की व्युत्पत्ति भी भौगोलिक है जैसे अमेरिका में रहने वाले अमेरिकन वैसे हिन्दुस्तान के निवासी हिन्दू, अमेरिकन किसी धर्म का नाम नहीं है; इसी प्रकार हिन्दू भी धर्मवाचक नहीं है। वीर सावरकर जैसे हिन्दू राष्ट्रवाद के समर्थक भी हिन्दू शब्द का यही भौगोलिक और धर्मविहीन आधार स्वीकार करते हैं। जहां तक स्वामी दयानन्द का प्रश्न है हिन्दुओं के धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों पर आधारित राष्ट्रीय एकता की कल्पना उनकी सब मान्यताओं और विचारों के विपरीत है, फिर भी कुछ विदेशी लेखकों ने उनके गौ-रक्षा आन्दोलन को उनके हिन्दू राष्ट्रवाद का प्रमाण माना है। इन लेखकों का कहना है कि स्वामीजी ने गाय के प्रति हिन्दुओं की इस धार्मिक भावना को इसलिये उभारा कि उसके आधार पर वे हिन्दू राष्ट्र का निर्माण करना चाहते थे। पूर्व अध्याय में हम यह बता चुके हैं कि स्वामी दयानन्द के बारे में यह मूल्यांकन कितना वेबुनियाद है। दयानन्द की अंग्रेजी राज्य विरोधी विचार धारा के आधार पर भी राष्ट्रीयता का निर्माण नहीं किया जा सकता था। जैसा हम देख रहे हैं कि कुछ लोगों की यह धारणा भी गलत निकली कि अंग्रजी राज्य समाप्त होते ही देश एक राष्ट्र बन जायेगा। स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीयता का आधार इससे कहीं अधिक रचनात्मक था। उनका विश्वास था कि इस उद्देश्य की प्राप्ति में विदेशी दासता की सबसे बड़ी बाधा को दूर करना आवश्यक होने पर भी वह केवल पहला कदम है। राष्ट्रीयता का वास्तविक निर्माण तो सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक और यहां तक कि आर्थिक पुनर्निर्माण के द्वारा ही रखा जा सकता है।

राष्ट्रीयता का सामाजिक आधार

राष्ट्रीयता के आधार पर एक स्वतन्त्र राज्य के निर्माण के लिए एक संगठित समाज आवश्यक है। दुर्भाग्य से सामाजिक एकता की दृष्टि से हिन्दू

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज अनेक दुर्बलताओं का शिकार हो चुका था स्वामी दयानन्द संभवतः आधुनिक युग के पहले सुधारक थे जिन्होंने हिन्दुओं की इस निर्बलता का सही विश्लेषण किया। उनकी यह मान्यता थी की हिन्दुओं के विशाल शरीर को जिस क्षय के रोग ने ग्रसित किया है उसके कीटाणु उनके धार्मिक और सामाजिक विश्वासों और रीतिरिवाजों में भी निहित हैं। उनके अनुसार हिन्दुओं की अधिकांश सामाजिक कुरुतियां और विभाजक रीति-रिवाज उनके धार्मिक अन्धविश्वासों और मान्यताओं के ही परिणाम हैं। इसलिए वे चाहते थे पौराणिक हिन्दू धर्म को पूरी तरह से विस्थापित कर उसके स्थान में सीधे-सादे किन्तु शक्ति और प्रगति पर आधारित वैदिक धर्म को पुनः रोपित किया जाये। उदाहरण के लिए हमारी सर्वविदित राजनैतिक और सामाजिक निर्बलता जिस जातिप्रथा का परिणाम है जिसका सड़ा हुआ फल छुआ-छूत की अमानवीय प्रथा है उसकी जड़ भी चार वर्णों की उत्पत्ति के बारे में हिन्दुओं का मूर्खतापूर्ण धार्मिक विश्वास है। सिर से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, पेट से वैश्य तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति सम्बन्धी अलंकारिक उपमा को उन्होंने व्यवहार में शाब्दिक अर्थ में चरितार्थ कर दिया जिसके कारण ब्राह्मण सिर के शिखर पर बैठ कर शूद्र को पैर की जूती के समान निकृष्ट और अपवित्र समझने लगा। पुरुषार्थ के स्थान में केवल भाग्य, छोटे बच्चों का विवाह, विधवाओं को जीवित जलाने की सती प्रथा और स्त्रियों के साथ अन्याय यह सब उनके ऐसे ही अन्य धार्मिक विश्वासों की विकृति के परिणाम हैं जैसा स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश में लिखा है। हिन्दुओं की प्रायः सब व्यक्तिगत और सामाजिक दुर्बलताओं का आधार किसी न किसी धार्मिक अंधविश्वास से जुड़ा हुआ है। उदाहरण के लिए भाग्यवाद, दब्बूपन, आपसी कलह और होली पर अश्लील व्यवहार और यहां तक कि अवतारों में विश्वास, जादू टोना, तन्त्र और मंत्र और विशेषकर भौण्डी और डरावनी मूर्तियों के निर्माण और उनके नाम पर सैंकड़ों देवी-देवताओं की पूजा ये सब उनकी ऐसी विकृत धार्मिक मान्यताओं के परिणाम हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत का वर्तमान पुनर्जागरण 19 वीं सदी के धार्मिक और सामाजिक सुधार आन्दोलन का परिणाम है। प्रायः सब स्वीकार करते हैं कि देश में जो राजनैतिक जागृति और राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई उसकी नींव इन्हीं सामाजिक और धार्मिक अन्दोलनों द्वारा रखी गई थी ! भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास के लेखक श्री बी. पट्टाभि सीतारमैया के अनुसार राष्ट्रीय कांग्रेस के जन्म से लगभग 50 वर्ष पूर्व से ही देश में राष्ट्रीय चेतना प्रारम्भ हो चुकी थी। कांग्रेस के एक अन्य प्रमुख नेता डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, जो दो बार भारत के राष्ट्रपति रहे हैं, वे कहते हैं—

"भारत स्वामी दयानन्द का सदा ऋणी रहेगा वे एक प्रकांड विद्वान् और निर्भय नेता और समाज सुधारक थे और उन्होंने आर्यसमाज आन्दोलन के माध्यम से देश की अमूल्य सेवा की। हर कसौटी से वे राष्ट्र पुरुष और एक दीर्घदृष्टा नेता थे। यह देखकर सचमुच आश्चर्य होता है कि उन्हें इतने समय पूर्व उन सब बातों का कैसे आभास हुआ जिनको बाद में गाँधी जी ने अपने रचनात्मक कार्यक्रम में शामिल किया और विदेशी राज्य के विरुद्ध अपने संघर्ष में इतना महत्त्व दिया। स्वामी दयानन्द ने एक राष्ट्रभाषा का प्रचार करके जिस दूरदर्शिता का परिचय दिया वह आश्चर्यजनक था। हरिजनोद्धार, स्त्री-शिक्षा, हाथ के कते-बुने वस्त्रों का उपयोग और स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार, जिन्हें हम महात्मा गाँधी के स्वतन्त्रता आन्दोलन से सम्बन्धित करते हैं उन सबका प्रारम्भ 50 वर्ष पूर्व स्वामी दयानन्द ने किया था। जीवन-भर दयानन्द देश की स्वाधीनता के स्वप्न देखते रहे।"

एक समय जवाहरलाल नेहरू के केन्द्रीय मन्त्रीमण्डल के सदस्य डॉ. केसकर ने इसलिए यह स्वीकार किया कि "स्वामी दयानन्द ने जो कार्य प्रारम्भ किया उसे गांधी जी ने पूरा किया।"

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
राजा राममोहन राय की भूमिका

यह धारणा प्रचलित है कि राजा राममोहन राय भारतीय राष्ट्रीयता के मसीहा और आधुनिक भारत के पिता थे। मैं अत्यंत नम्रता के साथ यह निवेदन करना चाहता हूँ कि इस प्रकार का मूल्यांकन वास्तविकता पर आधारित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि राजा राममोहन राय ने अनेक सामाजिक बुराइयों का विरोध किया और हिन्दुओं में प्रचलित मूर्तिपूजा तथा सती-प्रथा का विरोध किया। इसलिए उन्हें भारत में समाज सुधार आन्दोलन का पिता तो कहा जा सकता है कि किन्तु उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का जनक कहना सही नहीं है।

निःसन्देह वे महान् समाज सुधारक थे किन्तु उनकी यह मान्यता थी कि भारत में अंग्रेजी राज्य ईश्वर का वरदान है। उनके द्वारा की गई ऐसी घोषणा तथा विदेशी राज्य को दिये गये उनके स्पष्ट समर्थन के बाद भी क्या हम उन्हें भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत कह सकते हैं? उनका यह विश्वास था कि यद्यपि अंग्रेजी राज्य एक विदेशी जुआं है, किन्तु उसके द्वारा भारत के निवासियों का निश्चित रूप से और शीघ्र उत्थान होगा, उनके ये विचार तत्कालीन परिस्थिति में संभवतः सर्वथा उपयुक्त थे और उनकी सद्भावना के द्योतक थे। वह समय मुस्लिम शासन के पतन का काल था और देश में सर्वत्र अराजकता व्याप्त थी ऐसी स्थिति में अंग्रेजी राज्य की स्थापना एक स्वागत योग्य परिवर्तन समझा जाना स्वाभाविक था इसलिए उनके ये विचार उनकी महानता को कम नहीं करते किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जिस क्षेत्र में वे महान् नहीं थे उनका श्रेय भी उन्हीं को दिया जाये। लार्ड मेकाले द्वारा प्रतिपादित अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति का भी उन्होंने इसीलिए जोरदार समर्थन किया था कि उसके द्वारा पश्चिम के नवीन विचारों और ज्ञान-विज्ञान के प्रसार से भारत जैसे पिछड़े हुए देश को लाभ होगा किन्तु इस शिक्षा-पद्धति के पीछे भी अंग्रेजों का उद्देश्य विदेशी ईसाई धर्म का प्रचार करना था जैसा लार्ड डफ ने स्पष्ट कहा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कार्यालयों में अंग्रेजी जानने वाले क्लर्कों की भी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आवश्यकता थी इसकी पूर्ति भी अंग्रेजी शिक्षा से हो सकती थी । ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने राजा राम मोहनराय को बंगाल में उच्च पद पर नियुक्त किया था इंग्लैड में भी उनका पर्याप्त सम्मान था और उनका देहान्त भी 1834 में आयरलैन्ड में हुआ । वह समय भारत में अंग्रेजों के लिए एक कठिन घड़ी थी और देश में अपना आधिपत्य जमाने के लिए वे संघर्ष कर रहे थे । राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी राज्य को उस समय नैतिक समर्थन दिया जब कि उसका भविष्य डांवाडोल था । उन्होंने जो कुछ किया या कहा उसके लिए उस समय उपयुक्त कारण हो सकते हैं किन्तु यह एक भिन्न प्रश्न है ।

विदेशी राज्य का विरोध

राजा राममोहन राय के इस दृष्टिकोण के पक्ष में चाहे जो कारण रहे हों किन्तु यह सर्वथा अन्यायपूर्ण और वास्तविकता के विपरीत होगा कि इस बात से इन्कार किया जाए कि यदि उन दिनों भी भारत की राष्ट्रीयता का कोई समर्थक और अग्रदूत था तो वह स्वामी दयानन्द थे जिन्होंने अत्यंत स्पष्ट शब्दों में विदेशी राज्य का यह कह कर विरोध किया था कि "विदेशी राज्य चाहे कितना भी माता-पिता के समान सुख देने वाला हो किन्तु वह स्वदेशी राज्य की बराबरी नहीं कर सकता" और यह घोषणा उन्होंने 1875 में की जब भारत में अंग्रेजी राज्य मजबूती से जम चुका था उसका विरोध करने की किसी में हिम्मत नहीं थी और न कोई उसके पतन की कल्पना कर सकता था । यहां तक कि 10 वर्ष बाद स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, अपने वार्षिक अधिवेशनों में ब्रिटिश साम्राट के चिर-जीवन के लिए प्रार्थना और अंग्रेजी राज्य के प्रति अपनी वफादारी की घोषणा करके अपना कार्य आरम्भ करती थी । सन् 1914 तक में हुई एक घटना, विदेशी राज के प्रति कांग्रेस की इस भक्ति का प्रमाण है । उस वर्ष जब कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था तो मद्रास के अंग्रेज गवर्नर उनके पाण्डाल में आये तब सारी कार्यवाही रोककर कांग्रेस के सब प्रतिनिधियों ने खड़े होकर तालियों द्वारा उनका स्वागत किया और सर सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने उनकी उपस्थिति

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में अंग्रेजी राज्य के प्रति परम्परागत प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इससे पूर्व भी 1911 में कांग्रेस के एक अन्य बड़े नेता श्री अम्बिका चरण मजूमदार ने कांग्रेस मंच से यह वक्तव्य प्रचारित किया कि यहां उपस्थित सब लोगों का हृदय से ब्रिटिश सिंहासन के प्रति आदर और भक्ति से अनुप्राणित है और वे सब अंग्रेजों की नीतिमत्ता के प्रति पुनः विश्वास और कृतज्ञता प्रकट करते हैं।[1] दूसरी ओर कांग्रेस की स्थापना से एक दशक पूर्व दयानन्द द्वारा अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध व्यक्त की गई मान्यताएं कितनी स्पष्ट और साहसपूर्ण हैं यह देखकर आश्चर्य होता है। सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ 335 पर वे लिखते हैं।[2] "कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।"

इस ऐतिहासिक घोषणा के बाद स्वामीजी उन कारणों का विवेचन करते हैं जिनके परिणामस्वरूप हमारे देश का पतन हुआ। वे कहते हैं कि जब तक भारतवासी वेद की शिक्षाओं पर नहीं चलेंगे तथा जिन सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के कारण देश परतंत्र हुआ उन्हें दूर नहीं करेंगे तब तक देश स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकेगा।

समाज सुधारों की कहानी

हमारे देश के कुछ आधुनिक इतिहासकार और राजनेताओं की यह धारणा गलत है कि राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति बाल-विवाह, सती प्रथा आदि के विरुद्ध किये गये सामाजिक सुधारों का स्वाभाविक परिणाम था, कितनी भ्रमपूर्ण है। यह इसी बात से सिद्ध होता है कि लोकमान्य तिलक जैसे उग्र कट्टर राष्ट्रीय नेता इन सुधारों का इसी आधार पर विरोध करते थे कि वे हमारी धार्मिक मान्यताओं में विदेशी हस्तक्षेप है। दूसरी ओर स्वामी

1. कांग्रेस का इतिहास के पृष्ठ 100, 101 ले,—पट्टाभि सीतारमैया
2. संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट 1972

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
दयानन्द के इन सुधारों का आधार अंग्रेजी शिक्षा के स्थान में हमारे वेद तथा हमारे प्राचीन शास्त्र थे और इस प्रकार उनका दृष्टिकोण पूर्णरूप से स्वदेशी और राष्ट्रीय था। राजा राममोहन राय ने सबसे पहले सती प्रथा आदि कुछ सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाई किन्तु उसके पीछे मानवीय और बौद्धिक दृष्टिकोण था संभवतः स्वयं राजा राममोहन राय ने भी राष्ट्रीय दृष्टि से उन पर विचार नहीं किया था। अंग्रेजी राज्य के प्रति उनकी सद्भावना से भी यहीं सिद्ध होता है कि सामाजिक और धार्मिक सुधारों को भी वे ब्रिटिश शासन का विरोधी नहीं समझते थे। दूसरी ओर जैसा सर सिरोल ने लिखा है कि स्वामी दयानन्द के सामाजिक सुधारों के पीछे मुख्य भावना अंग्रेजी शासन से देश को मुक्त करना था।

ब्रह्मसमाज

स्वामी दयानन्द के समान राजा राममोहन राय ने भी हमारी प्राचीन सांस्कृतिक और आध्यात्मिक धरोहर के प्रति हमारी आस्था जागृत करने का प्रयत्न किया किन्तु उनके द्वारा धार्मिक अंध-विश्वासों और सामाजिक कुरीतियों का किया गया विरोध मुख्यतः पश्चिमी विचार धारा का परिणाम था।

मैकाले की शिक्षा पद्धति का उन्होंने जिस कारण समर्थन किया वह इस बात का प्रमाण है। उनके बाद तो ब्रह्मसमाज धीरे-धीरे भारतीय सांस्कृतिक और बौद्धिक धरोहर तथा राष्ट्रीय विचारधारा से बिल्कुल अलग-थलग होता गया और केशवचन्द्र सेन के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ईसाई मिशनरी चर्च का ही एक संस्करण समझा जाने लगा। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार ही नहीं किया अपितु उसकी घोषणा भी कर दी जैसा मैक्समूलर ने स्वीकार किया है। सब से पहले बंगाल में ही अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार हुआ और परिणामस्वरूप शिक्षित बंगालियों का अपने प्राचीन धर्म और समाज व्यवस्था से विश्वास उठने लगा। उनमें से अनेकों ने मूर्खतापूर्ण हिन्दू विश्वासों और रीति-रिवाजों से मुक्त होने के लिए ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। उनकी मान्यता थी कि मूर्तिपूजा, जात-पांत आदि को अस्वीकार

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करने वाला कोई व्यक्ति हिन्दू नहीं बना रह सकता जैसी अनेक ईसाई पादरियों की भी अपेक्षा थी। इसी प्रकार स्पष्ट है कि इन प्रारम्भिक सामाजिक और धार्मिक सुधार आन्दोलनों के कारण प्राचीन संस्कृति और राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन मिलने के स्थान में विदेशी धर्म और विचारों का प्रभाव भी बढ़ने की संभावना उत्पन्न हो गई। वस्तुतः लार्ड मेकाले और उनके समर्थक चाहते भी यही थे। निष्ठावान् हिन्दू भी इसलिए समाज सुधार के इन प्रयत्नों को शंका की दृष्टि से देखते थे और उन्होंने इसलिए राजा राममोहन राय द्वारा सती प्रथा को मिटाने के लिए किए गए प्रयत्नों के विरुद्ध इंग्लैण्ड तक आवेदन और विरोध पत्र भेजे। दूसरी ओर अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दुओं के रहन-सहन के ईसाई ढंग के कारण अनेक ब्रह्मसमाजियों को हिन्दू समाज से निष्कासित कर दिया गया और हिन्दू धर्म के प्रति उनकी अश्रद्धा का प्रतिकार करने के लिए काली देवी की सामूहिक उपासना और कीर्तन तथा जागरणों आदि को पुनः उत्साहित किया गया।

समाज सुधार बनाम राजनीति

महाराष्ट्र में लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में अनेक ब्राह्मण नेताओं का यह विचार था कि समाज सुधार की बातें अंग्रेज सरकार द्वारा राजनैतिक सुधारों को टालने का एक बहाना है। इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेज शासक देश में राजनैतिक सुधारों को लागू करने का विरोध इस आधार पर भी करते रहे हैं कि देश और विशेषकर हिन्दू-समाज जाति और सम्प्रदायों में बुरी तरह से विभक्त है और उनकी अनेक धार्मिक और सामाजिक कुरीतियाँ जब तक बनी हुई हैं तब तक स्वराज्य या अपना शासन स्वयं चलाने की उनमें क्षमता उत्पन्न नहीं हो सकती।

उग्र राष्ट्रवादी न केवल इसे अंग्रेजों की चाल मानते थे अपितु उनका कहना था कि हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक परम्पराएं स्वीकार न करना देशप्रेम के अभाव का प्रमाण है। दूसरे शब्दों में अपने देश की प्रत्येक बात का समर्थन करना वे देशभक्ति का अंग मानते थे। उनका यह भी कहना

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
था कि यदि हिन्दू समाज में कोई सुधार भी करना हो तो यह कार्य हिन्दू धर्म के अनुयाइओं का है अन्य लोगों को इसमें हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है और विशेषकर विदेशियों को तो हमारे धार्मिक और सामाजिक जीवन में सुधार के नाम पर किसी प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार नहीं है। यहाँ तक कि जब कुछ समाज सुधारक भारतियों के आग्रह पर सरकार ने इस बात पर विचार करना स्वीकार किया कि बाल-विवाह के दुष्परिणामों को कम करने की दृष्टि से कम से कम ऐसी बाल-वधुओं को उनके पतियों के साथ रहने के लिए विवश न किया जाय जब तक उनकी स्वीकृत आयु पति सहवास के योग्य न हो तो लोकमान्य तिलक तक ने इस बिल का विरोध किया इस बिल का नाम एज ऑफ कन्सैन्ट बिल था।

दूसरी ओर जस्टिस रानाडे तथा गोखले जैसे प्रवुद्ध नेता इन सामाजिक सुधारों के समर्थक थे किन्तु वे राजनीति में उग्रवाद के पक्षधर नहीं थे इसीलिए उन्हें नर्मदल का नेता कहा जाता था जब कि समाज सुधारों का समर्थन न करने वाले लोकमान्य तिलक आदि राजनीति में उग्रवादी समझे जाते थे। उग्रदल के नेता नर्मदल के सुधारवादियों का यह कह कर भी विरोध करते थे कि ये लोग अंग्रेजों के विदेशी राज्य के समर्थक हैं और इसलिए समाज सुधार के मामलों में अंग्रेजी दृष्टिकोण की हिमायत करते हैं।

दयानन्द सरस्वती की विशेषता

इस विवाद का स्वामी दयानन्द ने जो हल निकाला वह उनकी अद्भूत देशभक्ति और दूरदर्शिता का परिचायक था। वे धार्मिक और सामाजिक सुधारों के भी उतने ही क्रान्तिकारी समर्थक थे जितने राजनैतिक स्वाधीनता के। वस्तुतः अन्य उग्र राजनैतिक नेताओं के समान वे केवल कुछ राजनैतिक अधिकारों और सुधारों को पर्याप्त नहीं मानने थे बल्कि विदेशी राज्य से ही देश की मुक्ति के प्रबल समर्थक थे। इस प्रकार वे जहाँ समाज सुधार के प्रश्न पर नरम दल के लोगों से भी कहीं अधिक प्रगतिशील विचारों के समर्थक थे वहाँ वे गरम दल के तत्कालीन राजनैतिक नेताओं से भी अधिक 'उग्रवादी' थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उनकी दृष्टि में समाज सुधार और

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजनैतिक अधिकार इन दोनों में कोई विरोध या संघर्ष नहीं था। दोनों ही समान रूप से आवश्यक थे। उनका यह दृष्टिकोण उनकी इस मान्यता का परिणाम था कि देश की राजनैतिक दासता का मुख्य कारण हिन्दू समाज में धार्मिक और सामाजिक निर्बलताएं थीं। देश का इतना बड़ा बहुमत यदि जात पांत, छुआछूत जैसे विघटनकारी रीति-रिवाजों का शिकार हो तो उनमें एकता और राष्ट्रीयता की कल्पना करना व्यर्थ है। राजनैतिक चेतना और राष्ट्रीय एकता को धार्मिक और सामाजिक पुनर्निर्माण से जोड़कर गांधीजी ने बाद में जो स्वाधीनता आन्दोलन किया गया उसकी वास्तविक नींव स्वामी जी ने हीरखी। यही कारण है कि जब कांग्रेस का नेतृत्व गांधीजी के हाथ में आया तो उन्होंने स्वामी दयानन्द की इस दूरदर्शितापूर्ण विचारधारा को स्वीकार करके कांग्रेस के राजनैतिक मंच से हरिजनोद्धार जैसे सामाजिक सुधारों को अपने रचनात्मक कार्यक्रमों में शामिल किया है। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने इस तथ्य को किस प्रकार स्वीकार किया यह हम देख चुके हैं। इतना ही नहीं हमारे राष्ट्रीय पुनर्जागरण के विरोधी अंग्रेजों ने भी स्वामी दयानन्द के इस अद्भुत योगदान को इच्छा-अनिच्छा से स्वीकार किया है। जैसा ऊपर बताया गया है, सर वेलियन्टन सिरोल ने अपनी पुस्तक "इण्डियन अनरेस्ट" में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि सामाजिक और धार्मिक सुधारों का प्रारम्भ वास्तव में अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव का परिणाम समझे जाने पर भी स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज ने पश्चिम के इस प्रभाव से सर्वथा मुक्त रह कर भी इन सुधारों का प्रबल समर्थन किया। उसे इस बात पर आश्चर्य था कि पश्चिमी प्रभाव के परिणामस्वरूप उत्पन्न इन धार्मिक सुधारों का समर्थन करने वाला आर्यसमाज किस प्रकार अंग्रेजी राज्य का भी प्रबल विरोधी बन गया। इसे वह एक ऐसा विरोधाभास कहते थे जो तत्कालीन भारतीय समस्या को समझने के लिए आवश्यक था इसलिए सर वेलियन्टन सिरोल ने यहां तक कहने में संकोच नहीं किया कि स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं का मुख्य उद्देश्य वास्तव में हिन्दू धर्म का सुधार करना इतना नहीं था जितना विदेशी सत्ता और प्रभाव से देश को मुक्त कराना था क्योंकि वे इसे राष्ट्रीयता के विकास के लिए घातक समझते थे।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर वेलियन्टन सिरोल के इस निष्कर्ष का आधार यह प्रतीत होता है कि तिलक जैसे उग्रवादी राजनैतिक नेता तथा उनके कट्टर हिन्दू समर्थक स्पष्ट रूप से यह मानते थे कि हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक कमजोरियों या निर्बलताओं की बातें अंग्रेजी शासक और उनके समर्थक ईसाई मिशनरी करते हैं। परिणामस्वरूप न केवल सर सिरोल अपितु स्वयं हमारे देश के अन्य शिक्षित व्यक्ति और विशेष रूप से ईसाई मिशनरी यह समझने में असमर्थ थे कि स्वामी दयानन्द जैसा व्यक्ति जो अंग्रेजी शिक्षा और पश्चिमी प्रभाव से सर्वथा अछूता था वह इन सामाजिक और धार्मिक निर्बलताओं की इतनी कटु आलोचना कैसे करता है। इतना ही नहीं मूर्तिपूजा जैसे हिन्दू धर्म के आधारभूत विश्वास तक के विरुद्ध स्वामी दयानन्द ने जो जोरदार आन्दोलन प्रारम्भ किया वह कैथोलिक ईसाई मिशनरी तक नहीं कर सकते थे। क्योंकि वे स्वयं ईसा मसीह और मेरी की मूर्तियों की पूजा करते हैं। स्वामी दयानन्द को समझने में हिन्दू कट्टर पंथी और विदेशी ईसाई मिशनरी दोनों ही किस प्रकार असमर्थ थे यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि जहां कट्टर हिन्दू स्वामी दयानन्द को नास्तिक और ईसाई मिशनरियों का वैतनिक जासूस कहते थे वहाँ अनभिज्ञ विदेशी उन्हें किसी ईसाई मिशनरी स्कूल में पढ़ा अंग्रेजी शिक्षित भारतीय मानते थे, क्योंकि उनकी सम्मति में हिन्दुओं की सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों की ऐसी समीक्षा अन्य कोई भारतीय और विशेषकर हिन्दू नहीं कर सकता था।

फ्रेड्रिक स्पीगल वर्ग ने यहाँ तक लिखा है कि स्वामी दयानन्द हिन्दू जागरण के प्रतीक इसीलिए बन गये कि वे एक क्रिश्चियन मिशनरी स्कूल में पढ़े थे। यदि ऐसा नहीं होता तो स्वामी दयानन्द कभी यह नहीं कह सकते थे कि वेदों में एकेश्वरवाद जैसी आधुनिक मान्यता का समर्थन है।

जैसा हम ऊपर बता चुके हैं कि सिरोल जैसे व्यक्तियों का स्वामी दयानन्द सम्बन्धी मूल्यांकन कहीं अधिक सही होता यदि वे समझ पाते कि स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धार्मिक और सामाजिक सुधारों का अंग्रेजी शिक्षा से कोई सम्बन्ध न होकर उसका मुख्य उद्देश्य अपनी प्राचीन संस्कृति के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रति स्वाभिमान उत्पन्न करके देश में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना और उसे विदेशी शासन से मुक्त करना था। साथ ही यदि वे समझ पाते कि आर्य समाज के अतिरिक्त 19 वीं सदी में समाज सुधार के अन्य जो आन्दोलन या प्रयत्न किये गये वे इसीलिए असफल हुए कि उनके पीछे ईसाई मिशनरियों या अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा में पले हुए लोगों का प्रभाव था, तो उन्हें दयानन्द के बारे में तथाकथित विरोधाभास पर इतना आश्चर्य नहीं होता।

मौलिक विचारक

स्वामी दयानन्द की मौलिकता ही यह थी कि उनके सारे सुधार प्राचीन वैदिक धर्मग्रन्थों पर आधारित थे। वे न कभी किसी ईसाई मिशनरी विद्यालय में पढ़े थे और न ही वे अंग्रेजों के प्रभाव में रहे थे। उन्होंने केवल विरजानन्द जैसे प्राचीन संस्कृत के विद्वानों के चरणों में बैठकर अध्ययन किया था उनकी इस मौलिकता के बारे में जोर्डन ने लिखा है कि "उनके विश्वास और विचार, उनकी अपनी खोज तथा निष्कर्ष पर आधारित थे। प्रत्येक विचार को वे तर्क की अग्नि में जांच करने तथा उसकी व्यावहारिकता के बारे में संतुष्ट होने के पश्चात् स्वीकार करते थे। इस कसौटी पर जो विचार सही उतरता था केवल उसी को उनकी मान्यता प्राप्त होती थी, जिसे वे अपना एक मौलिक स्वरूप प्रदान करते थे। ईश्वर, मनुष्य, वेद, वैदिक स्वर्ण-युग, आर्यसमाज के उद्देश्य, राज्य के कर्त्तव्य, राष्ट्रीयता के आधारभूत तत्व इन सबके सम्बन्ध में उनके विचारों में जो विकास का क्रम हम देखते हैं, उससे स्पष्ट हो जाता है कि कौन-कौन सी बातों ने उन्हें प्रभावित किया था, किन्तु अंत में उनका जो विकसित रूप प्रकट हुआ वह उनकी अपनी अपूर्व और नवीन कृति थी। स्वामीजी का मस्तिष्क सब प्रकार के नए विचारों के लिए खुला था किन्तु एक बार उनके मस्तिष्क में प्रवेश करने के बाद वह उनकी मौलिक छाप लेकर निकलता था। उनके जिन अनुयायिओं ने उन्हें गुरु की ऊंची पदवी पर बैठाने का प्रयत्न किया उन्होंने स्वामी जी के इस अद्भुत व्यक्तित्व और क्रांतिकारी प्रतिभा को कई अर्थों में कम

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कम करने का प्रयत्न किया है क्योंकि इसके कारण नये विचारों को ग्रहण करना और उन्हें व्यापक रूप देने की उनकी प्रतिभा का निषेध होता है।"[1] कांग्रेस के इतिहास लेखक सीतारमैया ने तत्कालीन सामाजिक सुधार आन्दोलनों का तुलनात्मक विवेचन करते हुए लिखा है कि—"बंगाल के ब्रह्मसमाज की गूंज देशभर में अवश्य फैली, पूना में महादेव गोविन्द रानाडे के नेतृत्व में प्रार्थना समाज के माध्यम से समाजसुधार का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ जो अनेक वर्षों तक नरम दल की कांग्रेस के साथ संबद्ध रहा, इस आन्दोलन की एक निर्बलता यह थी कि वह हमारी प्राचीन परम्पराओं और विश्वासों के प्रतिकूल दृष्टिकोण पर आधारित था क्योंकि पश्चिमी विचारों और विशेषकर अंग्रेजों के राजनैतिक प्रभुत्व की चकाचौंध के कारण हमारी प्राचीन धरोहर उपेक्षित हो रही थीइसलिये यह सर्वथा स्वाभाविक था कि इस प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया उत्पन्न हो एवं पश्चिम के प्रभाव से उत्पन्न सुधार आन्दोलन से राष्ट्रीयता की भावना को जो आघात पहुँच रहा था उसका निराकरण किया जाये। यह कार्य उत्तर-पश्चिम में स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे आदरणीय व्यक्ति द्वारा स्थापित आर्यसमाज और दक्षिण में थियोसोफिकल आन्दोलन ने किया। पाश्चात्य शिक्षा के कारण जो अनास्था और अनैतिकता उत्पन्न होने लगी थी उसे उनके द्वारा दूर करने का प्रयत्न किया गया। ये दोनों आन्दोलन विशुद्ध राष्ट्रीय थे किन्तु आर्यसमाज का आन्दोलन जिसका प्रारम्भ स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से हुआ था अपने राष्ट्रीय उत्साह में कहीं अधिक आक्रामक था यद्यपि वह वेदों को प्रामाणिक और निरभ्रांत मानते हुये भी आधुनिक और व्यापक सामाजिक सुधारों का समर्थक था, परिणामस्वरूप उसने देश में एक ऐसी सशक्त राष्ट्रीय चेतना और पौरुषत्व को जन्म दिया जो हमारी प्राचीन संस्कृति की उपयोगी बातों और वर्तमान स्थिति की आवश्यकताओं का एक समन्वय था।"[2]

सन् 51 का आन्दोलन

कुछ इतिहासकारों की मान्यता है कि स्वामी दयानन्द ने 1857 के अंग्रेज विरोधी संघर्ष में सक्रिय भाग लिया था किन्तु इस बात का कोई

---

1. जोर्डन पृष्ठ 294 2. कांग्रेस का इतिहास पृष्ठ 20

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रमाणित आधार प्रतीत नहीं होता। वैसे भी स्वामी दयानन्द द्वारा किसी गुप्त षड्यन्त्र में सम्मिलित होना उनकी निर्भयता और सत्यनिष्ठा के अनुकूल प्रतीत नहीं होता। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने देश में एक ऐसी जागृति अवश्य उत्पन्न की थी विदेशी शासन का विरोध जिसका एक आवश्यक परिणाम था। लाला लाजपतराय तथा स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्वाधीनता आन्दोलन का नेतृत्व इसका स्पष्ट प्रमाण है। इसके अतिरिक्त इस आन्दोलन में और यहां तक कि क्रान्तिकारियों तक में बहुत बड़ी संख्या में उनके अनुयाइयों ने उन्हीं के विचारों से प्रभावित होकर भाग लिया था। तिलक के नेतृत्व में नरम दल से गरम दल में कांग्रेस का कायाकल्प करने में लाला लाजपतराय का बड़ा योगदान था किन्तु तिलक के विपरीत लाला लाजपतराय स्वामी दयानन्द के सामाजिक और धार्मिक सुधारों के भी उतने ही कट्टर समर्थक थे जितने राजनैतिक सुधारों के। गांधीजी के नेतृत्व में इन दोनों विचारों का समन्वय स्वामी दयानन्द की ही देन थी यह हम देख चुके हैं।

विश्वव्यापी लक्ष्य

स्वामी दयानन्द यद्यपि भारतीय राष्ट्रीयता के जनक थे किन्तु फिर भी उनका दृष्टिकोण केवल इस देश या हिन्दू समाज तक सीमित नहीं था। उनके आगे विश्व कल्याण का महान् लक्ष्य था। एक दृष्टि से उन्हें हम अन्तर्राष्ट्रीय महापुरुष कह सकते हैं किन्तु उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता साम्राज्यवाद की समर्थक न होकर विश्व बन्धुत्व पर आधारित थी जिसके द्वारा वे मनुष्य मात्र में स्नेह, सहानुभूति और भातृभाव की भावना जागृत करना चाहते थे। आर्यसमाज के छठे नियम में उन्होंने अपने इस व्यापक लक्ष्य को स्पष्ट रूप से यह कहकर व्यक्त किया है कि "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" 21 वर्ष की आयु में एक बार घर छोड़ने के पश्चात् उन्होंने कभी उस ओर मुड़कर नहीं देखा और न परिवार और अपने घर के प्रति किसी प्रकार के बन्धन उन्हें बांधने में सफल हुए। वे निरन्तर सत्य की खोज में घूमते रहे और मनुष्यमात्र के
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कल्याण की चिन्ता में व्यस्त रहे। हरिद्वार की प्रसिद्ध यात्रा के बाद उनके जीवन का जो अल्पकाल शेष रहा उसमें वे न केवल निरन्तर भ्रमण करते रहे अपितु सारे आध्यात्मिक संसार की यात्रा में व्यस्त रहे और सबके अन्त में सबकी मुक्ति और कल्याण के प्रयत्न में उन्होंने अपना बलिदान दे दिया। व्यक्तिगत मोक्ष के अपने प्रारम्भिक उद्देश्य को भी उन्होंने अपने जिस मानवमात्र के कल्याण के लक्ष्य के लिए त्याग दिया उसे उन्होंने आर्यसमाज के नवें नियम में इन शब्दों में व्यक्त किया है "प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।" उनकी दृष्टि में व्यक्तिगत और सामाजिक हित में कोई विरोध नहीं और न ही राष्ट्रिय और अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण में। वे दोनों का हित एक दूसरे पर निर्भर मानते थे। इस समन्वय का आदर्श उनके सब ग्रन्थों और शिक्षाओं में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। आर्यसमाज का 9 वां नियम जहाँ व्यक्ति और समष्टि के हितों की एकता पर बल देता है वहीं उसका का 10 वाँ नियम समाजवाद का व्यावहारिक आधार कहा जा सकता है जिसमें कहा गया है कि "सब मनुष्यों को सामाजिक सर्व-हितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।" दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सार्वजनिक हित में यदि टकराव हो तो समाज के हित के लिए व्यक्तिगत स्वार्थ का त्याग आवश्यक है। सत्यार्थप्रकाश में जगह-जगह उन्होंने इसलिए परोपकार और मनुष्यमात्र की बात कही है। कहीं पर भी किसी धर्म, जाति या देश विशेष के लिए उनका कोई आग्रह नहीं था। "वसुधैव कुटुम्बकम्" के आदर्श के वे जीवित प्रतीक थे और अपने को सारे संसार का नागरिक मानते थे। सारा विश्व ही उनका परिवार था। यहाँ तक कि उनकी दृष्टि में आध्यात्मिक शांति, मोक्ष और ईश्वर प्राप्ति जैसे प्रश्नों का भी मानवीय आधार था किसी धर्म, सम्प्रदाय या जाति तक उन्होंने इनको सीमित नहीं किया था। अपने अन्तिम दिनों में भी उन्होंने अपने पारलौकिक सुख या मोक्ष की चिन्ता नहीं की। वे मनुष्य मात्र के लिए इस लोक में एक सुखी संपन्न जीवन के लिए कामना करते रहे। आर्य समाज के नियमों में भी हिन्दू या आर्य अथवा भारत देश तक का उल्लेख नहीं है। इस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

प्रकार समस्त विश्व ही उनका कार्य क्षेत्र था। उनके इस व्यापक दृष्टिकोण
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का एक उदाहरण उनके द्वारा की गई आर्य शब्द की परिभाषा है। साधारणतः आर्य एक जाति या नस्ल विशेष का पर्याय समझा जाता है। पश्चिमी इतिहासकार आर्यों को इस देश में विदेश से आई आक्रामक जाति मानते हैं और यहां के द्रविड़ और आदिवासी आदि लोगों को उनसे पृथक् यहाँ के मूल निवासी बताते हैं। संसार के अनेक भागों में निवास करने वाले काले-पीले आदि लोग इनकी दृष्टि में हवसी या सैमेटिक हैं। स्वामीजी ने आर्य को केवल अच्छा और श्रेष्ठ मनुष्य का पर्यायवाची कहा है चाहे फिर वह किसी देश या जाति से संबन्धित हो, काला हो या गोरा हो। सत्यार्थ-प्रकाश के प्रारम्भ में ही उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है "यद्यपि मैं इस देश में पैदा हुआ हूँ फिर भी मैं यहाँ के निवासियों व अन्य देशों के लोगों में कोई अन्तर या भेदभाव नहीं करता।" इसी प्रकार सारा जीवन उन्होंने यद्यपि सत्य की खोज में लगा दिया किन्तु फिर भी अपनी पुस्तक में कहीं यह दावा नहीं किया कि उसमें जो कुछ लिखा है वह अंतिम सत्य है। यद्यपि उनकी मान्यता और शिक्षाऐं सत्य और तर्क की कसौटी पर सही सिद्ध की जा सकती हैं। संसार का शायद ही अन्य कोई महापुरुष हो जिसने अपने अनुयाइयों को स्पष्ट रूप से ये आदेश दिये हों कि उन्हें हमेशा सत्य की खोज में प्रयत्न-शील रहना चाहिए और "सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।" आर्यसमाज का यह चौथा नियम इस संगठन की संभवतः सबसे बड़ी विशेषता है।

सत्य और केवल सत्य के प्रति उनकी ऐसी निष्ठा किसी अन्य धर्मग्रन्थ में नहीं मिल सकती जो धार्मिक जगत के इतिहास में वह स्वर्ण अक्षरों में लिखने योग्य है वे यहाँ तक लिखते हैं कि "ये मनुष्यता के विपरीत है कि कोई व्यक्ति अपना मत लोगों पर लाद और उन के प्रति पक्षपात और उन का विरोध करे। केवल पशु ही निर्बल पर जोर जबर दस्ती करते हैं जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को हानि पहुंचाते हैं वे मनुष्य नहीं, पशु हैं।" उनका यह दृष्टिकोण कितना उदार, विशाल और व्यापक था ये उनके

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इन विचारों से सिद्ध होता है। संसार का कोई महापुरुष या धर्म किसी प्रकार की संकीर्णता का इतना निषेध नहीं करता जितना स्वामी दयानन्द ने किया है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार का त्याग नहीं सेवा

संसार को त्यागने की हिन्दू परम्परा के पीछे व्यक्तिगत मोक्ष या मुक्ति की भावना प्रमुख है किन्तु जैसा हम देख चुके हैं यद्यपि स्वामी दयानन्द का प्रारम्भिक लक्ष्य इसी प्रकार का त्याग और मोक्ष प्राप्ति था और इसलिए उन्होंने घर बार छोड़कर संन्यास लिया किन्तु देश की दूरावस्था देखने के वाद मनुष्य मात्र के कल्याण ही को उन्होंने अपने जीवन का ध्येय बना लिया और इस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तिगत मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य का बलिदान कर दिया। इतना ही नहीं उनके विचार में साधु या संन्यासी का अर्थ यह नहीं है कि वह अन्य लोगों के सुख-दुःख की भी उपेक्षा करे। इसलिए उन्होंने संन्यासी के कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि केवल अपने सगे सम्बन्धियों को छोड़कर फिरते रहने मात्र से संन्यासी का लक्ष्य पूरा नहीं होता। अपने घर-बार और सगे-सम्बन्धियों की चिन्ता जैसे संकीर्ण क्षेत्र के स्थान में समस्त संसार के हित और कल्याण के लिए कार्य करने का व्यापक व्रत लेने वाले व्यक्ति ही वास्तव में संन्यासी हैं। घर त्याग कर केवल अपने मोक्ष या कल्याण के चिन्ता करने या जीवन-मृत्यु और पुर्नजन्म से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना भी व्यक्तिगत स्वार्थ या हित ही समझा जायेगा। इस प्रकार जो लोग घर-बार से तंग होकर अथवा शारीरिक और मानसिक कठिनाइयों के कारण गेरूवे वस्त्र पहन लेते हैं वे संन्यासी नहीं हैं। दयानन्द का कहना था कि संन्यासी जैसे तप और कठोर जीवन के लिए वही व्यक्ति पात्र है जो शारीरिक, नैतिक और बौद्धिक दृष्टि से इसके योग्य है ताकि वह मनुष्य मात्र की सेवा व्रत निभा सके। उनके शब्दों में "जैसा संन्यासी सर्वमुक्त होकर जगत का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्यविद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है उतना अन्य आश्रमी को

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं मिल सकता।" उन्होंने इसलिए ऐसे साधु और संन्यासियों की समीक्षा की है जो केवल भिक्षा मांगकर और दूसरे लोगों के दान पर निर्वाह करने के लिए गेरुवे वस्त्र पहन लेते हैं। वे कहते हैं कि "जैसे आंख से देखना, कान से सुनना न हो, तो आंख और कान का होना व्यर्थ है, वैसे ही जो संन्यासी सत्योपदेश और वेदादि-सत्य शास्त्रों का विचार प्रचार नहीं करते, तो वे भी जगत् में व्यर्थ भाररूप हैं और जो अविद्यारूप संसार से माथा पच्ची क्यों करना आदि लिखते और कहते हैं, वैसे उपदेश करने वाले ही मिथ्यारूप और पाप के वढ़ानेहारे पापी हैं।" इसी प्रकार मनुष्य की उनकी परिभाषा भी परोपकार की भावना पर आधारित थी वे लिखते हैं कि "मनुष्य उसी को कहना है कि जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख-दुःख और हानि-लाभ को समझे। अन्यायकारी वलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे।"

आदर्श प्रजातन्त्र

स्वामी दयानन्द सार्वभौम धर्म का क्या अर्थ करते हैं यह हम अन्यत्र देख चुके हैं। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसी सार्वभौम या अन्तर्राष्ट्रीय विचार का एक अंग उनकी सार्वभौम राज्य की कल्पना थी। सत्यार्थ-प्रकाश के छठे समुल्लास में उन्होंने राजधर्म का विवेचन किया है और शासकों के क्या कर्त्तव्य हैं, यह बताया है। उनके इन विचारों का आधार सर्वथा प्रजातन्त्रात्मक है। सार्वभौम सत्ता जनता के हाथ में होने के सिद्धांत का उन्होंने स्पष्ट रूप से समर्थन किया है और कहा है कि राजा या अपने शासकों को चुनने और हटाने का अंतिम अधिकार जनता को है। राजा के सम्बन्ध में उनके विचार इंग्लैण्ड में वर्तमान प्रचलित संवैधानिक राज्य प्रणाली की पद्धति के समान है इसलिए वे लिखते हैं कि "किसी एक व्यक्ति को शासन करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। राजा सभा के प्रधान के रूप में ही शासन करे और सभा जनता की राय का प्रतिनिधित्व करे और वे परस्पर एक दूसरे पर नियन्त्रण रखें किन्तु दोनों पर जनता का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

नियन्त्रण हो ।[1] उन्होंने चेतावनी दी है कि एक तन्त्रीय राजा स्वार्थी होकर शक्ति का दुरुपयोग कर सकता है और जनता का अनिष्ट कर सकता है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीडतन्त्र के विरोधी

यह भी स्मरण रखने की बात है कि प्रजातन्त्र के नाम पर भीड़तंत्र के प्रति भी वे शंकित थे। प्रजातंत्र किस प्रकार विकृत होकर अपना असली स्वरूप खो देता है इसका उदाहरण आज हम स्वयं: अपने देश में देख रहे हैं। स्वामी दयानन्द इसलिए यह मानते थे कि मत देने और शासन करने वाले दोनों की कुछ योग्यताएं और गुण होने चाहिए। जैसे शिक्षा, ईमानदारी, सच्चाई, निःस्वार्थ सेवा की भावना इन गुणों से विहीन व्यक्तियों को वे शासन में भाग लेने के योग्य नहीं समझते थे। इसी प्रकार वे एक व्यक्ति, एक मत या केवल संख्यात्मक बहुमत के स्थान में योग्य और चरित्रवान् व्यक्तियों के गुणात्मक के समर्थक थे जिसमें एक विशिष्ट नैतिक मापदण्ड और सार्वजनिक आचार संहिता को महत्व दिया जाये। हमारी प्राचीन धर्म और संस्कृति में इसीलिए व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की कुछ मर्यादाएं निर्धारित की गई थीं। किन्तु हमने पाश्चात्य प्रजातंत्र का केवल ढांचा स्वीकार करके स्वाधीनता के बाद उन प्राचीन मूल्यों की सर्वथा उपेक्षा की। इसलिए ये विदेशी प्रजातंत्र हमारी परम्परा के अनुकूल नहीं है। इस देश में स्वाधीनता के बाद इन नैतिक मूल्यों का जो ह्रास हुआ है उससे स्पष्ट है कि अपने धर्म के प्राचीन व्यापक अर्थ में जब तक हम इन मूल्यों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करेंगे तब तक शासन और सार्वजनिक जीवन में व्याप्त भ्रष्टाचार दूर नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से धर्मनिर्पेक्ष राज्य की पश्चिम की मान्यता के कारण हमने संकीर्ण साम्प्रदायिकता और मजहबपरस्ती से राज्य को मुक्त करने के प्रयत्न में

1. सत्यार्थप्रकाश रामलाल कपूर ट्रस्ट 1972)

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

उन प्राचीन सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों की भी उपेक्षा की जो वर्तमान
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अर्थ में किसी मजहब या रिलीजन की संकीर्ण सीमाओं के अन्तर्गत नहीं आते। हमारे शासकों और विशेषकर राजनैतिक नेताओं का जो नैतिक पतन हुआ वह इन्हीं नैतिक आदर्शों की उपेक्षा का परिणाम है। यह खेद की बात है कि स्वयं आर्यसमाज भी सत्ता की राजनीति के कुप्रभाव से अछूता नहीं रह सका।

सार्वभौम राज्य

अनेक आधुनिक विचारक और दार्शनिक सारे विश्व के लिए एक विश्व राज्य की कल्पना करते हैं ताकि वर्तमान सैनिक और आणविक प्रतिस्पर्धा के कारण विश्व युद्ध की विभिषिका से संसार मुक्त रह सके। संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना इस दिशा में एक कदम समझा जाता है। राजा और प्रजातंत्र के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द ने जो विचार व्यक्त किए हैं वे इसी प्रकार की विश्व राज्य या सार्वभौम राज्य की उनकी मान्यतों के स्वाभविक परिणाम थे यद्यपि उन्होंने उसे आर्यों का चक्रवर्ती राज्य कहा है किन्तु आर्य शब्द की उनकी परिभाषा और राजा संवन्धी उनके आदर्शों से स्पष्ट है कि चक्रवर्ती राज्य की उनकी परिभाषा साम्राज्यवाद की कल्पना से सर्वथा भिन्न थी। श्रेष्ठ व्यक्तियों द्वारा सारे संसार के कल्याण के लिए स्थापित राज्य को ही वे चक्रवर्ती राज्य समझते थे। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि "ईश्वर की सृष्टि में स्वार्थी, अन्यायपूर्ण राजा अधिक दिन तक नहीं टिक सकता।" प्रिंसीपल बहादुर मल के अन्य विचारों से असहमत होने पर भी स्वामी दयानन्द के चक्रवर्ती राज्य के सम्बन्ध में उनके विचार से कोई निष्पक्ष व्यक्ति असहमत नहीं होगा। स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में उनकी जो पुस्तक होशियारपुर के विश्वेश्वरानन्द संस्थान से 1962 में प्रकाशित हुई है उसके पृष्ठ 198-199 पर उन्होंने ठीक ही लिखा है कि "स्वामी दयानन्द अपने ग्रन्थों में कई जगह चक्रवर्ती राज्य का जिक्र करते हैं। सत्यार्थ-प्रकाश में वे लिखते हैं कि महाभारत के काल तक अनेक चक्रवर्ती राजा हुए हैं जिनका सर्वत्र शासन था। इस प्रकार के चक्रवर्ती राज्य से उनका तात्पर्य

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

एक व्यक्ति के राज्य या पश्चिम के उपनिवेशवाद या साम्राज्यवाद से सर्वथा भिन्न था। बर्टन रसल और कुछ अन्य लेखकों ने विश्व राज्य के सम्बन्ध में कुछ विचार हमारे समान रखे हैं जो उनके अनुसार परमाणु युद्ध से भयभीत संसार से हमें निर्भय कर सकते हैं और उग्र राष्ट्रीयता के संघर्षों से वचा सकते हैं। मेरे विचार में यदि दयानन्द जीवित होते तो वे इस विचार का जोरदार समर्थन करते और सारे विश्व के लिए संघीय शासन का समर्थन करते। इस प्रकार के राज्य की इसलिए भी आवश्यकता है कि उसके बिना विश्वव्यापी शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती और यह तभी संभव है कि जब सब देश मिलकर एक विश्वव्यापी केन्द्रीय सत्ता को स्वीकार करें।"

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 16

आर्यसमाज से भी महान् दयानन्द

ऋषि दयानन्द का मूल्यांकन बहुधा उनके द्वारा स्थापित आर्यसाज, तथा धार्मिक, सामाजिक, सैद्धान्तिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में आर्यसमाज के योगदान के आधार पर किया जाता रहा है, किन्तु ऐसे ऐतिहासिक महापुरुष के योगदान का विवेचन केवल उनके द्वारा अथवा उनके नाम पर स्थापित संस्थाओं और संगठनों के आधार पर करना उनके साथ न्यायपूर्ण नहीं हो सकता। सम्भवत: मैंने भी आर्यसमाज और उसके कार्यों का विवेचन करते समय इसी दोष का शिकार होकर कुछ हद तक दयानन्द का वास्तविक महत्व बढ़ाने के बजाय में कम ही किया है। उसके संस्थापक के बाद उनके जिन अनुयायियों ने आर्यसमाज और उसके कार्यों को आगे बढ़ाया है, उनकी सीमित क्षमता और शक्ति तथा दृष्टिकोण का प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता था और इसलिये आर्यसमाज के वर्तमान स्वरूप तथा भावी सम्भावनाओं पर विचार करते समय वस्तुस्थिति के आधार पर जो विवेचन किया गया है वह ऋषि दयानन्द की दृष्टि में आज कहां तक यथार्थ होता या उन्हें मान्य होता यह कहना कठिन है। इसलिये इस अध्याय में मैं उनकी कुछ ऐसी विशेषताओं पर दृष्टिपात करना चाहता हूँ, जो उनके कार्य अथवा उनके सम्बन्ध में मेरे द्वारा किये गये अभी तक के मूल्यांकन से उन्हें कहीं अधिक श्रेष्ठ और महान् सिद्ध करती है।

उनकी नम्रता

स्वामीजी के जीवनकाल में जहाँ एक ओर उन्हें विरोध और निन्दा का सामना करना पड़ा, वहाँ उनके असंख्य भक्तों प्रशंसकों ने उपके यश

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

और कीर्ति को देश में ही नहीं अपितु देश के बाहर भी प्रसारित कर दिया। अनेक समकालीन विदेशी विचारकों और प्रमुख व्यक्तियों द्वारा की गई उनकी प्रशंसा इस बात का प्रमाण है। साधारण व्यक्ति इन दोनों बातों से अत्यन्त प्रभावित होते हैं, किन्तु ऋषि दयानन्द ने निन्दा और प्रशंसा दोनों के प्रति जो उदासीनता प्रदर्शित की वह उनकी एक विशेषता थी। उनके जीवन की अनेक घटनाओं से स्पष्ट है कि बड़े से बड़े प्रलोभनों के उपरान्त भी उन्होंने अपने सिद्धान्तों से समझौता नहीं किया। दूसरी ओर भय और डर के कारण भी उन्होंने लोकप्रियता प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। उन्हें लाखों और करोड़ों की वार्षिक आमदनी के मठ और मन्दिरों का महन्त बनाने का प्रलोभन दिया गया। उन्हें कई सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अपना गुरु बनाने का प्रस्ताव किया किन्तु उन्होंने इन प्रस्तावों पर विचार तक करने से इन्कार कर दिया। बम्बई में जब प्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई तो सदस्यों ने उन्हें सर्व सम्मति से समाज का अध्यक्ष या प्रधान बनाना चाहा और उनके अस्वीकार करने पर उन्हें संरक्षक बनने को कहा गया। स्वामीजी ने उत्तर दिया कि हम सब का संरक्षक केवल ईश्वर ही हो सकता है। किन्तु निरन्तर आग्रह करने पर उन्होंने अपने भक्तों को निराश न करने की दृष्टि से समाज का केवल साधारण सदस्य बनना मात्र स्वीकार किया। इस प्रकार अन्य अनेक धर्म गुरुओं, संस्थापकों से कहीं अधिक योग्यता और नैतिक चरित्र के धनी होने पर भी उन्होंने इस प्रकार के धार्मिक और सांसारिक महत्त्व और लाभ के पदों को ठुकरा कर जिस नम्रता और निर्भिकता का परिचय दिया वह साधारणतः कम महापुरुषों में देखने को मिलता है। यद्यपि आर्यसमाज ने उनके धार्मिक सिद्धान्तों और शिक्षाओं को सहर्ष स्वीकार कर लिया था फिर भी उन्होंने इस बात का ध्यान रखा कि उनके द्वारा स्थापित इस धार्मिक संगठन में भी गुरु या संस्थापक के रूप में उनकी पूजा और भक्ति की सम्भावना न बनी रहे। इसलिये उन्होंने अपनी मृत्यु के बाद अपनी कोई समाधि बनाने का निषेध किया यही कारण है। कि आज भी किसी आर्यसमाज मन्दिर में न उनकी कोई प्रतिमा है और न ही उनसे सम्बन्धित कोई पवित्र अवशेष ही रखे जाते हैं। महापुरुषों के चित्र रखने और उन पर

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पुष्पमालायें चढ़ाने की हमारे देश में परम्परा रही है किन्तु अधिकांश आर्य-समाजों में ऋषि दयानन्द के चित्र तक नहीं मिलते यद्यपि इसमें कोई दोष नहीं है।

धर्म संस्थापक

जैसा मैंने भी अपनी अंग्रेजी पुस्तक[1] में लिखा है, कि चाहे प्रकट रूप में अथवा नाम से न सही किन्तु परिणाम की दृष्टि से यह स्वीकार करना होगा कि जिस प्राचीन सार्वभौम वैदिक धर्म का आर्यसमाज प्रचार करता है उसका वर्तमान स्वरूप ऋषि दयानन्द की ही देन है। स्वामीजी की यह महानता थी कि उन्होंने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि मेरा किसी नवीन धर्म की स्थापना या प्रचार करने का जरा भी विचार नहीं है। इसलिये मेरी इस पुस्तक में मान्यताऐं सम्भवतः उनकी इस घोषणा के सर्वथा अनुरूप न समझी जाय किन्तु स्वामीजी के देहान्त के बाद आर्यसमाज का जो स्वरूप विकसित हुआ वह इस बात का प्रमाण है कि इस समाज के द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म के सिद्धान्त वही हैं जिनको ऋषि दयानन्द ने वेदों के आधार पर सत्यार्थप्रकाश के अन्त में स्वमन्तव्यामन्तव्य में प्रतिपादित किया है। सनातनी हिन्दू धर्म के जिन विद्वानों ने उनका विरोध या समीक्षा की है उनका तो स्पष्ट आक्षेप ही यह है कि स्वामीजी ने वेदों के नाम पर जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, वह उनकी अपनी व्यक्तिगत मान्यतायें थीं। काशी विश्वविद्यालय द्वारा मालवीयजी की भूमिका सहित प्रकाशित 'सनातन धर्मोद्धार' नामक पुस्तक तथा पं. ज्वाला-प्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'दयानन्द तिमिर भाष्कर' नामक ग्रन्थों में सत्यार्थ प्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि में प्रस्तुत ऋषि दयानन्द के प्रायः समस्त मन्तव्यों का विस्तारपूर्वक यही कह कर खण्डन किया गया है कि वे सब वेद विरुद्ध हैं और यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया गया है कि हिन्दू धर्म की मूर्ति-पूजा, श्राद्ध, जात-पांत, छुआछूत आदि जिन बातों का स्वामीजी

1. The Aray Samaj, Hindu without Hinduism, (Vikas New Delhi).

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ने निषेध किया वे सब वेद पर आधारित हैं। चाहे जो हो, जहाँ तक दयानन्द का सम्बन्ध है उन्हें इस बात के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है कि उनकी मृत्यु के बाद आज उनके धार्मिक सिद्धान्तों को ही आर्यसमाज ने स्वीकार करके उन्हें अपने वैदिक धर्म का संस्थापक नहीं तो पुनरोद्धारक अवश्य मान लिया है। यदि वे आज जीवित होते तो इस स्थिति का अनुमोदन करते या नहीं यह एक दूसरा प्रश्न है। इतना निर्विवाद है कि धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उनके अपने विचार और मन्तव्य सर्वथा निश्चित और स्पष्ट रहे हैं। यह भी इतना ही सही है कि उनके यह विचार सत्य की निरन्तर खोज और गहन अध्ययन और मनन के परिणाम थे किन्तु उन सब का आधार वे वेद का ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखने योग्य है कि उनके प्रायः सारे विश्वास और अविश्वासों का स्रोत प्राचीन वेद रहा है जिनका आर्ष दार्शनिकों और स्मृतिकारों ने भी समर्थन किया है। इसलिये उनकी यह घोषणा सर्वथा सही है कि वे किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं कर रहे हैं। किन्तु साथ ही उनकी यह भी मान्यता थी कि वर्तमान पौराणिक हिन्दू धर्म अपने प्राचीन वैदिक स्रोत से इतना भ्रष्ट हो गया है कि उसका सम्पूर्ण कायाकल्प किये बिना वह न आधुनिक आवश्यकताओं के अनुरूप बन सकता है और न ही मानव मात्र के लिए एक विश्वव्यापी धर्म के रूप में प्रसारित किया जा सकता है। इसलिये जैसा लाला लाजपतराय ने लिखा है, ऋषि दयानन्द की शिक्षा और सिद्धान्तों को स्वीकार कर लेना आर्यसमाज के लिए सर्वथा उपयुक्त और अनिवार्य था। खास कर इसलिये भी कि वह सब तर्क और बुद्धि के आधार पर भी स्वीकार किया जा सकता था।

दयानन्द की उदारता

ऋषि दयानन्द ने कभी यह आग्रह नहीं किया कि उनके अनुयायी और भक्त यहाँ तक कि आर्यसमाज के सदस्य तक उनके मन्तव्यों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करें। वस्तुतः उन्होंने आर्यसमाज के केवल दस नियमों को ही उसके उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया था। जिनमें केवल प्रथम

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
तीन ऐसे थे जिनमें वेद तथा ईश्वर और उनके प्रति आस्था का प्रावधान है। बाकी सातों नियम इतने व्यपक और सर्वग्राही हैं कि उन्हें किसी भी धर्म, जाति और देश के व्यक्ति निःसंकोच स्वीकार कर सकते हैं। आधुनिक धर्म प्रचारकों की तुलना में दयानन्द की यह उदारता भी उनकी महानता का प्रमाण है। लाला लाजपतराय ने अपनी प्रसिद्ध अंग्रेजी - पुस्तक 'दी आर्यसमाज' में उन परिस्थितियों का वर्णन किया है जिनमें ऋषि दयानन्द के धार्मिक विचारों को स्वीकार करना आर्यों के लिए अनिवार्य बनाना आवश्यक समझा गया, इसके बिना आर्यसमाज त नो एक संगठित धार्मिक संस्था ही बन सकती थी और न ही वह अपने इन सिद्धान्तों का प्रचार करने और विरोधियों का मुकाबला करने में ही समर्थ हो सकता था।

धर्म का आधार सत्य

स्वामी दयानन्द की एक और विशेषता यह थी कि उन्होंने धार्मिक क्षेत्र में भी सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने के लिए सदा उद्यत रहने का आग्रह किया। संसार के किसी अन्य धर्म के संस्थापक या प्रचारक ने अपने अनुयाइयों को कभी ऐसी स्वतन्त्रता दी हो इसका उदाहरण नहीं मिलता। आज कट्टर से कट्टर आर्यसमाजी भी यही कहता है कि उनका दयानन्द के मन्तव्यों में इसलिए विश्वास है कि वह उन्हें तर्कसम्मत और बुद्धिगम्य लगते हैं, न कि इसलिए कि वे दयानन्द के आदेश हैं। स्वामीजी भी उन्हें इसलिए मानते थे कि वे वेदों पर आधारित थे और आर्यसमाज की भी यही मान्यता है। यद्यपि आर्यसमाज वेदों का वही अर्थ स्वीकार करता है जो ऋषि दयानन्द ने किया है।

ईश्वर और वेद

स्वामी दयानन्द की कल्पना का ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान के रूप में वेद इन दोनों का भी बौद्धिक आधार है। यदि ईश्वर है तो वह वैसा ही हो सकता है जैसा ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के द्वितीय नियम में उसका वर्णन किया है। वेद शब्द का अर्थ ही ज्ञान है। न वह पुस्तक के रूप में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आसमान से प्रकट हुआ और न ही किसी पैगम्बर के कान में शब्द के रूप में ईश्वर ने सुनाया। दयानन्द के वेदभाष्य का समर्थन करते हुए जैसा योगी अरविन्द ने कहा है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ और सारे ज्ञान का प्रेरक है तो ईश्वरीय ज्ञान के सिद्धान्त को हम कैसे अस्वीकार कर सकते हैं ? अरविन्द लिखते हैं कि यदि वेद में वही सब कुछ लिखा है जो सायण तथा पश्चिमी विद्वान् कहते हैं तो ऐसे वेद, पुराने इतिहास के कूड़े के ढर में फेंकने योग्य है और यदि उनमें वे बातें हैं जो ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य द्वारा प्रकट होती हैं तो वह सचमुच हमारे पवित्र धर्म ग्रन्थ होने के योग्य हैं। इस प्रकार ऋषि दयानन्द को हम आधुनिक युग का सबसे बड़ा वेदों का उद्धारक कह सकते हैं। यही बात ईश्वर के सम्बन्ध में दयानन्द की मान्यता के बारे में भी कही जा सकती है।

धर्म में बुद्धि का स्थान

स्वामी दयानन्द के जीवन और कार्यों पर अंग्रेजी की एक प्रसिद्ध पुस्तक[1] के लेखक प्रोफेसर जोर्डन ने धर्म जैसे क्षेत्र में भी तर्क और बुद्धि को आधार बनाने का श्रेय दयानन्द को देते हुए लिखा है कि— "धार्मिक क्षेत्र में दयानन्द, रहस्यों और चमत्कारों का समर्थन करने के स्थान में केवल विशुद्ध बुद्धिवाद को ही महत्व देते थे परिणामस्वरूप रामानुज और माधव जैसे हिन्दू दार्शनिकों के धार्मिक विचारों का वे समंथन नहीं कर सकते थे। स्वामीजी की दृष्टि में ईश्वरीय रहस्यों का केवल भक्ति और साधना द्वारा साक्षात् करने की बात ईश्वर की अनन्तता का उल्लंघन करना था। नास्तिकों तथा स्वतन्त्र विचारकों और ईश्वर तथा धर्म में आस्था रखने वालों के बीच कोई समान आधार नहीं है किन्तु इस प्रश्न पर भी दयनन्द की एक अभूतपूर्व स्थिति रही है। उन्होंने कभी भी ऐसे व्यक्तियों के बहिष्कार

1. Sawmi Dayanand His Life and Ideas by Prof. J. T. F. Jordon.

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करने या उन्हें दण्डित करने का उपदेश नहीं दिया।" दूसरी ओर यदि हम भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायियों के व्यवहार और उनकी धार्मिक आस्थाओं के परिणामों पर विचार करें तो कुछ अपवादों को छोड़कर दयानन्द की यह उदारता और सहिष्णुता अनुपम सिद्ध होगी। इस्लाम और ईसाइयत जैसे संगठित धर्मों के परिणामस्वरूप न केवल राजनैतिक जीवन में सामूहिक आक्रमणों को प्रोत्साहन मिला बल्कि व्यक्तिगत व्यवहार में भी अन्य धर्मावलंबियों के साथ अन्याय और अत्याचार किया जाता रहा है। इस्लाम का जिहाद या धर्मयुद्ध इसके उदाहरण हैं। ईसाइयों ने भी अनेक हिंसक धर्मयुद्ध लड़े हैं और उनकी धार्मिक मान्यताओं के प्रति विद्रोह करने वालों को जिन्दा तक जला दिया है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म के नाम पर इस प्रकार की सामूहिक हिंसायें नहीं की गयीं और हिन्दू अपनी धार्मिक उदारता और स्वतन्त्रता का सदा दावा करते रहे हैं। मगर उनके व्यवहार में भी अत्यन्त संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचय मिलता रहा है। अन्य धर्मों के अनुयायियों के साथ उन्होंने सामाजिक समानता का व्यवहार शायद ही किया हो। कट्टर हिन्दू, किसी गैर हिन्दू द्वारा छुआ हुआ पानी तक पीना पसन्द नहीं करते। इसी प्रकार स्वयं अपने सहधर्मी शूद्रों के साथ असमान व्यवहार करना वे अपना धर्म समझते रहे हैं। मानो ये लोग मनुष्य नहीं बल्कि किसी छूत के रोग के कीटाणु हों। अपने ही धर्म के अनुयायियों के साथ इस प्रकार का व्यवहार हिन्दू धर्म की उदारता और सहिष्णुता का परिचायक कैसे कहा जा सकता है?

दयानन्द का मानव प्रेम

इसके विपरीत दयानन्द मानव मात्र को समान समझते थे। जाति, धर्म या राष्ट्रीयता के आधार पर उन्होंने कभी किसी के साथ घृणा तो क्या उपेक्षा तक का व्यवहार नहीं किया। जिन लोगों का उनसे मतभेद रहा उनके प्रति भी वे उदारता और आदर का भाव रखते थे। उनमें से अनेकों को उन्होंने अपना

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विश्वासपात्र और उत्तराधिकारी तक बनाया। पंजाब के लाला मूलराज और महाराष्ट्र के महादेव गोविन्द रानाडे जैसे न्यायाधीश इसके उदाहरण हैं। देश भर में अपनी यात्राओं के अवसरों पर वे जाति और यहां तक की धर्म के भेदभाव के बिना सबका आतिथ्य स्वीकार करते थे। यद्यपि एक कट्टर ब्राह्मण परिवार में उनका जन्म हुआ था फिर भी उन्होंने खानपान सम्बन्धी हिन्दू रीति-रिवाजों के खिलाफ खुला विद्रोह किया और तथाकथित अछूत समझे जाने वाले हिन्दू ही नहीं, मुसलमान और ईसाई मेजबानों के घरों तक में वे अतिथि के रूप में ठहरते रहे हैं। अलीगढ़ के सर सैय्यद अहमद, जोधपुर के मियां फ़ैजुल्ला खां और लाहौर के डा. रहीमखां तथा अमृतसर के मियां मोहम्मद जान इसके उदाहरण हैं। कई बार इन मेजबानों ने स्वयं यह सोचकर कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक हिन्दू संन्यासी को उनके यहां ठहरने में संकोच या असुविधा होगी इसलिये उनको अन्यत्र ठहराने का प्रबन्ध करने का सुझाव दिया, किन्तु स्वामीजी ने अपने व्यक्तिगत सम्बन्धों में कभी इन बातों की परवाह नहीं की। जिसका स्वयं अपना कोई दृढ़ और निश्चित विचार और विश्वास न हो उसके लिए दूसरों के साथ उदारता दिखाना आसान है किन्तु अपने विचारों और सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर भी ऐसा करना एक विशेष गुण है और उसका व्यवहार करना ही वास्तव में उदारता का प्रमाण है। जैसा स्वामीजी ने अपने व्यवहार से सिद्ध किया।

उनका सार्वभौम धर्म

दयानन्द ने जब यह घोषणा की कि वे जिस सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रचार करते हैं, वह स्वयं एकमात्र सच्चा मानव धर्म है तो उनका यह कहने का अर्थ अन्य धर्मों द्वारा किये गये इस प्रकार के दावे से सर्वथा भिन्न था। उनके कहने का उद्देश्य यह नहीं था कि संसार के सब मनुष्य उस धर्मको वैसे ही स्वीकार करें जैसा वे कहते हैं। इस प्रकार की बातें अन्य धर्म-प्रचारक कहते रहे हैं किन्तु दयानन्द ने कभी ऐसा नहीं कहा। सार्वभौम धर्म का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"सर्वतन्त्र सिद्धान्त

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अर्थात् सार्वभौम धर्म जिसको सदा से सब मानते आये हैं, मानते हैं, और मानेंगे भी, इसलिए उसको सनातन नित्य धर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरी कोई नवीन कल्पना या मत-मतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है। किन्तु जो सत्य है उसका मानना व मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है।" (सत्यार्थ प्रकाश)

सत्य की कसौटी

कौन ऐसा निष्पक्ष व्यक्ति है जो इस प्रकार के सार्वभौम मानव धर्म को अस्वीकार करे? जो सिद्धान्त सब देशों और सब मनुष्यों तथा सब कालों के लिये समान हों उन्हें संकीर्ण, एकदेशी या साम्प्रदायिक भी कैसे कहा जा सकता है। ऋषि दयानन्द के सामने केवल एक ही कसौटी थी अर्थात् सत्य और निष्पक्षता की, और इसीलिये उन्होंने लिखा है कि हमें यह सावधानी रखनी चाहिये कि किसी धर्म विशेष का पक्षपात करने वाले और जो अज्ञानी लोग हैं उनके द्वारा प्रचलित मत-मतान्तरों को स्वीकार न किया जाय। इस सन्दर्भ में उनकी यह घोषणा कि मेरा कोई नवीन मत या सम्प्रदाय चलाने का उद्देश्य नहीं है, एक ऐसी घोषणा है जिस पर उनके समालोचक भी आपत्ति नहीं कर सकते और न ही उनकी सच्चाई पर सन्देह कर सकते हैं। दयानन्द ने जब यह घोषणा की कि वेदों पर आधारित सिद्धान्त और मन्तव्य ही सार्वभौम और सत्य हो सकते हैं, तो उन्होंने केवल अपनी इस व्यक्तिगत निष्ठा को व्यक्त किया और वह भी इसलिये कि उनका यह विश्वास सत्य और असत्य तथा तर्क की कसौटी पर भी सही उतरता था। इन वैदिक सिद्धान्तों और मन्तव्यों का उन्होंने अपने ग्रन्थों में सविस्तार विवेचन किया है इसलिये उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं। मेरा यहां केवल इतना ही बताने का उद्देश्य है कि इस सम्बन्ध में दयानन्द के दृष्टिकोण और अन्य धर्माचार्यों के दृष्टिकोण में बड़ा महत्वपूर्ण और मौलिक अन्तर है। ऋषि दयानन्द का यह दृष्टिकोण केवल उनके विचारों तक ही सीमित नहीं

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
था। जैसा हम देख चुके हैं कि अन्य धर्मों के अनुयाइयों के साथ अपने व्यवहार में भी उन्होंने अपने इस उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया, यद्यपि उनके साथ उनका मतभेद छुपाने का उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया और व्यवहार में इस उदारता के उपरान्त भी अपने सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उन्होंने दूसरों को प्रसन्न करने के लिये कभी समझौता नहीं किया।

आर्यसमाज का व्यापक आधार

ऋषि दयानन्द की उदारता का एक और प्रमाण आर्यसमाज के उदार और व्यापक नियम और उद्देश्य हैं। फ्रांस के प्रसिद्ध दार्शनिक रोमेरोलां ने रामकृष्ण परमहंस की जीवनी में एक पृथक् अध्याय 'एकता के निर्माता' इस शीर्षक से जो कुछ लिखा है उसमें स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में वे लिखते हैं— "दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज सब मनुष्यों और देशों के लिये समानता और न्याय के सिद्धान्तों पर आधारित है और उनमें स्त्री पुरुषों के लिये भी समान अधिकार का प्रावधान है।" पुस्तक के पृष्ठ 107 पर स्वामी दयानन्द के धार्मिक मन्तव्यों का विवेचन करते हुये उन्होंने आर्यसमाज के नियमों के सम्बन्ध में कहा है कि संसार के समस्त मनुष्यों का कल्याण उनका आधार है और सबकी शारीरिक, आध्यात्मिक और सामाजिक उन्नति का प्रयत्न करना समाज का मुख्य उद्देश्य है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने कहा है कि "मैं सार्वभौम सिद्धान्तों पर आधारित उस धर्म पर विश्वास करता हूं जिसको मानव मात्र सत्य स्वीकार करते हैं और जो सब कालों में स्वीकार किया जायेगा। इसीलिये इसे मैं शाश्वत और विशुद्ध धर्म कहता हूँ जो मनुष्यों में वैर विरोध से ऊपर है और इसीलिये सब मनुष्यों के लिये मानने योग्य है।"

सिद्धान्त और व्यवहार

स्वामी दयानन्द ने अपने धार्मिक दर्शन के सम्बन्ध में विस्तार से लिखा है और जीवन भर वे अपने मन्तव्यों तथा अन्य धार्मिक मान्यताओं तथा रीति-रिवाजों के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ और विचार विनिमय करते रहे,

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु उन्होंने यदि किसी बात पर सबसे अधिक बल दिया है तो वह अच्छा कार्य और व्यवहार है जिसका आधार शाश्वत नैतिक मूल्यों पर है चाहे फिर उनका सम्बन्ध किसी भी धर्म या सम्प्रदाय से क्यों न हो। इस दृष्टि से भी अन्य धर्माचार्यों की तुलना में स्वामीजी का एक विशेष स्थान था। प्राय: अन्य धर्मों के आचार्य इसके विपरीत उन्हीं लोगों को अपना कृपा पात्र मानते हैं जो उनके द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों को स्वीकार करते हैं और उनके द्वारा निर्धारित रीति-रिवाजों का व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में पालन करते हैं अथवा उन्हें पैगम्बर, गुरु आदि मानकर उनके प्रति पूर्ण निष्ठा रखते हैं, उन्हें दूसरे व्यक्तियों से अधिक श्रेष्ठ समझते हैं फिर नैतिक और सामाजिक दृष्टि से उनके कार्य कैसे भी हों, यहाँ तक कि अपने से भिन्न विश्वास और विचार रखने वाले व्यक्तियों को वे काफिर और सिनर (पापी) कहते हैं। कई बार सिद्धान्त रूप से सत्य, और मानव सेवा आदि का प्रकट उपदेश देते रहने पर भी, केवल इन गुणों के आधार पर मोक्ष या मुक्ति प्राप्त हो सकती है इसे वे स्वीकार नहीं करते। ईसाई धर्म के अनुसार तो प्रत्येक स्त्री और पुरुष जन्म से ही अपने सिर पर पाप का बोझा लेकर उत्पन्न होता है और उसका व्यवहार और जीवन कितना भी अच्छा हो, उसको तब तक मोक्ष या शान्ति नहीं मिल सकती और न ही वह नरक से बच सकता है जब तक वह ईश्वर के पैगम्बर, दूत या एक मात्र पुत्र ईसामसीह पर विश्वास नहीं करता। मौलाना मोहम्मद अली जैसे गांधीजी के राजनैतिक भक्त तक ने गांधीजी के जीवनकाल में ही यहां तक कहा था कि गांधीजी जैसे सन्त को भी इस्लाम धर्म स्वीकार किये बिना निजात या मोक्ष नहीं मिल सकता और एक संदिग्ध चरित्र का मुसलमान भी इस दृष्टि से उनसे श्रेष्ठ है। दूसरी ओर यद्यपि ऋषि दयानन्द की यह मान्यता थी कि वैदिक धर्म ही सच्चा धर्म है फिर भी वे मानव की श्रेष्ठता का आधार नैतिक मूल्य ही मानते थे। प्रोफेसर जोर्डन ने लिखा है कि "अपने धार्मिक विश्वासों से भी अधिक दयानन्द की श्रेष्ठतर मान्यता यह थी कि मनुष्य का कल्याण केवल उसके अपने कार्य और व्यवहार पर ही निर्भर है किसी और बात पर नहीं। वे कहते थे कि तर्क के आधार

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर स्थित नैतिक कर्म ही मानव कल्याण की एक मात्र प्रभावकारी कुञ्जी है।" दयानन्द ने मोक्ष के अन्य सब मार्गों और साधनों का इसलिये विरोध किया और यह कहा कि अन्य सब धर्मों में तथाकथित छोटे रास्तों और आसान तरीकों द्वारा तत्काल मोक्ष दिलाने की घोषणा की जाती है वे सब निरर्थक हैं।" दयानन्द द्वारा नैतिक मूल्यों पर कितना जोर दिया गया इसका जिक्र करते हुए जोर्डन ने लिखा है कि—"उनका सारा विचार दर्शन इस पर आधारित था कि प्रत्येक व्यक्ति नैतिक दृष्टि से अपना जीवन-यापन करे तभी उसे नैतिक व्यक्ति माना जा सकता हैं। आदर्श जीवन के लिये ज्ञान, सत्य, न्याय, उदारता आदि आवश्यक है किन्तु उनका प्रमाण उनका व्यवहार में पालन करना ही हो सकता है। नैतिकता के प्रति दयानन्द की आस्था का परिचय हमें उनके द्वारा प्रतिपादित व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार के लिये दिये गये सन्तुलित उपदेशों से स्पष्ट मिलता है।"

धर्मान्तरण

विचार स्वतन्त्रता के समर्थक कुछ लोगों की मान्यता है कि एक धर्म से दूसरे धर्म को स्वीकार करने के लिए होने वाले प्रयत्न एक संकीर्ण मनोवृत्ति और कट्टरता का प्रमाण है। अन्य संगठित धर्मों के समान आर्यसमाज भी धर्मप्रचार में विश्वास करता है। भारतवर्ष में धर्मान्तरण एक विवादास्पद प्रश्न बन गया है। इस देश पर विदेशी मुसलमानों के प्रायः सब आक्रमणों के पीछे इस्लाम का प्रसार और हिन्दुओं के धर्मान्तरण की प्रेरणा मुख्य कारण रहा है। अपनी धार्मिक तथा सामाजिक कमजोरियों के कारण हिन्दू ऐसे धार्मिक आक्रमणों का प्रतिकार करने में असमर्थ रहे हैं। भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् भी ईसाई मिशनरियों के द्वारा हिन्दुओं का धर्मान्तरण भी मुख्य लक्ष्य रहा है। मुस्लिम साम्राज्यवाद के समान ईसाई साम्राज्यवाद का एक लक्ष्य ईसाई धर्म का प्रचार था। यह प्रायः सब इतिहासवेत्ता स्वीकार करते हैं। "इम्पीरियलिजम एण्ड वर्ल्ड पॉलिटिक्स" के लेखक पारकर मून का कहना है कि 18वीं और 19वीं सदी में एशिया और अफ्रीका में पाश्चात्य साम्राज्यवाद के लिए वस्तुतः ईसाई पादरियों ने ही उपयुक्त भूमि

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
तैयार की थी। इन देशों में ईसाई मिशनरी धर्मप्रचार के नाम पर आये। उसके बाद विदेशी व्यापारी आये और अन्त में सैनिकों ने इन देशों में अपने-अपने देश के राज्य स्थापित कर दिये। इन तीनों का उद्देश्य एक ही था। जहां तक भारत का सम्बन्ध है, सबसे पहले यहाँ व्यापारी आये जिनमें इंग्लैन्ड की ईस्ट इन्डिया कम्पनी सबसे महत्वपूर्ण थी और उसी ने ईसाई मिशनरियों और साम्राज्यवादी सैनिकों के लिए रास्ता खोल दिया। अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ भी मुख्य रूप से ईसाई धर्मप्रचार के उद्देश्य से ही किया गया था जैसा एलेग्जेन्डर डफ तथा लार्ड मैकाले ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। राजा राममोहन राय और स्वामी दयानन्द ने धर्मान्तरण के इस नवीन खतरे को अनुभव किया और दयानन्द ने स्पष्ट रूप से इसे भारतीय राष्ट्रीयता के लिए भी खतरा समझकर उसका विरोध किया। इन विदेशी आक्रमणों के लिये स्वयं हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक कमजोरियां उत्तरदायी थीं ऐसी उनकी मान्यता थी और इसीलिये स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट रूप से इन्हें दूर करने का आह्वान किया। दयानन्द के धार्मिक और सामाजिक सुधारों के इस आन्दोलन के परिणामस्वरूप ही देश में राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हुई और अंग्रेजों ने आर्य समाज के पुनर्जागरण के प्रयत्न को राजद्रोह समझना प्रारम्भ किया।

हिन्दू मुस्लिम संघर्ष

इस राष्ट्रीय जागृति के खतरे का मुकाबला करने के लिये अंग्रेजी शासकों ने हिन्दू और मुसलमानों में प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन देना प्रारम्भ कर दिया। संख्या के आधार पर राजनैतिक ही नहीं बल्कि सरकारी नौकरियों तक में स्थान सुरक्षित करने की नीति अपनाई गई और परिणामस्वरूप मुसलमानों में तबलीग और हिन्दुओं में शुद्धि के आन्दोलन केवल धार्मिक न रहकर राजनैतिक आन्दोलन बन गये। महात्मा गांधी देश की स्वाधीनता के लिए हिन्दू मुसलमानों की एकता आवश्यक समझते थे। साथ ही उनका यह भी विश्वास था कि सब धर्म समान हैं इसलिए वे धर्मान्तरण को अनुचित समझते थे। मुसलमान और ईसाइयों द्वारा हिन्दुओं का धर्मान्तरण सदियों

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

से प्रचलित था किन्तु हिन्दुओं द्वारा अन्य धर्मावलंबियों की शुद्धि या धर्मान्तरण का संगठित प्रयत्न आर्यसमाज द्वारा ही प्रारम्भ किया गया। इसलिये इस नवीन आन्दोलन का स्वभावत: व्यापक और यहां तक कि कांग्रेसी हिन्दुओं ने भी विरोध किया।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधीजी और आर्यसमाज

महात्मा गांधी द्वारा आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन का विशेष रूप से इसलिये विरोध किया गया कि उसके कारण हिन्दू मुस्लिम एकता के उनके आन्दोलन में बाधा होती थी। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे देशभक्त और कांग्रेस के एक प्रमुख नेता तक की गांधीजी ने इसीलिये कड़ी आलोचना की। जहां तक मुसलमान और ईसाइयों का सम्बन्ध था गांधीजी के विरोध का उन पर कोई परिणाम नहीं हुआ। वे इन धर्मान्तरणों को अपना एक धार्मिक अधिकार मानते थे। यद्यपि हिन्दू महासभा ने शुद्धि के इस आन्दोलन का समर्थन किया किन्तु उनका यह समर्थन मुसलमानों की तवलीग और खिलाफत आन्दोलन के विरोध में एक प्रतिक्रिया मात्र थी। हिन्दुओं की जात-पाँत के कारण हिन्दू सभा ही नहीं आर्यसमाज तक के धर्मान्तरण का कार्य असफल तथा प्रभावहीन बना रहा। फिर भी आर्यसमाज ही केवल एक ऐसी संस्था थी जो अन्य धर्मों के अनुयाइयों को अपने धर्म में दीक्षित करने का कार्य करती रही और आज भी उसी के माध्यम से साधारणत: अहिन्दू, हिन्दूसमाज में प्रविष्ट होते हैं। महात्माजी ने इसीलिए आर्यसमाज और सत्यार्थप्रकाश तथा स्वामी दयानन्द की भी सार्वजनिक रूप से समालोचना की। इससे उत्साहित होकर राष्ट्रीय मुसलमानों तक ने आर्यसमाज और उसके धर्मान्तरण को साम्प्रदायिक और राष्ट्र विरोधी कहना प्रारम्भ कर दिया। मुसलमानों के शुद्धि विरोधी तीव्र विरोध के परिणामस्वरूप ही स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की गई और इस प्रकार आर्यसमाज को अपने इस आन्दोलन के लिये वड़ी कीमत चुकानी पड़ी।

दयानन्द की स्थिति

यद्यपि आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन को साम्प्रदायिक तनाव के लिये अनुचित रूप से जिम्मेदार ठहराया गया था और इस आरोप के पीछे भी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुस्लिम तुष्टीकरण का राजनैतिक उद्देश्य ही था फिर भी जहां तक ऋषि दयानन्द का सम्बन्ध था उनकी दृष्टि में धर्मान्तरण का कभी कोई राजनैतिक या साम्प्रदायिक उद्देश्य नहीं था। विचार परिवर्तन को वे विचार स्वतन्त्रता का प्रमुख आधार मानते थे जो सत्य की निरन्तर खोज का एक स्वाभाविक परिणाम था। उन्होंने जब सार्वभौम वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ किया उस समय देश में राजनैतिक साम्प्रदायिकता का जन्म नहीं हुआ था जो बाद में विशेषकर खिलाफत के दुर्भाग्यपूर्ण आन्दोलन का परिणामस्वरूप था। शास्त्रार्थ और सैद्धान्तिक वाद-विवाद भारत की प्राचीन परम्परा का एक सर्वमान्य अंग रहा है तब हमारे विद्वान् और ऋषि मुनि सार्वजनिक रूप से बिना किसी पूर्वाग्रह के गंभीर दार्शनिक विषयों पर विचार-विनिमय करते थे। अन्य देशों और विशेष कर अन्य धर्मों में इस प्रकार की विचार स्वतन्त्रता के लिए स्थान नहीं है। उनके अनुसार उनकी धार्मिक मान्यता तर्क और प्रमाण पर आधारित होने के बजाय ईश्वरीय आज्ञा या आदेश पर आधारित है जो उसके दूत या पैगम्बर द्वारा प्रसारित की जाती रही है। इसलिये उनके विरुद्ध प्रचार तो दूर, उनकी समीक्षा तक निषिद्ध समझी जाती रही है और ऐसा करने वाले व्यक्ति को मृत्यु दण्ड और यहां तक कि जीवित जलाने के उदाहरण इन धर्मों के इतिहास में मिलते हैं। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि प्रत्येक धार्मिक विश्वास और सिद्धान्त को तर्क और बुद्धि तथा प्रमाण की कसौटी पर जांचकर जो सत्य हो उसे स्वीकार करना चाहिये।

हमारे प्राचीन इतिहास में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं कि शास्त्रार्थ में पराजित होने वाले विद्वान् स्वेच्छा से अपने विजेता की मान्यताओं को स्वीकार कर लेते थे। ईसाई और मुसलमानों द्वारा किये जाने वाले धर्मान्तरण के तरीके इनसे सर्वथा भिन्न रहे हैं। वे स्वतन्त्र विचार-विनिमय के परिणाम पर आधारित नहीं होते थे। वस्तुतः इन धर्मों के अनुयायी अपने धार्मिक सिद्धान्तों तथा उनके संस्थापकों के सम्बन्ध में आदरपूर्वक की गई समालोचना भी स्वीकार नहीं करते। इस्लाम का इतिहास तो इस प्रकार की असहिष्णुता के लिये प्रसिद्ध ही है। ईसाई धर्म में भी असहमत लोगों को जीवित जलाने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

तक की घटनायें हुई हैं। फ्रांस की प्रसिद्ध वीरांगना जोन आफ आर्क को Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri शैतान के प्रभाव में होने के आरोप में ईसाई धर्माचार्यों के आदेश पर यही दण्ड दिया गया था। इस सैद्धान्तिक भिन्नता के अतिरिक्त आधुनिक भारत में होने वाले धर्मान्तरण की कुछ अन्य विशेषताएं भी रही हैं। यह धर्मान्तरण प्राय: एकतरफा अर्थात् हिन्दुओं के ही होते रहे हैं जो उसका विरोध या प्रतिकार करने की स्थिति में नहीं थे। इसके लिए जहां स्वयं हिन्दुओं के धार्मिक अन्धविश्वास और सामाजिक कुरीतियाँ उत्तरदायी रही हैं वहां जोर जबरदस्ती और प्रलोभन के परिणामस्वरूप भी हिन्दुओं का धर्मान्तरण होता रहा है।

स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्मान्तरण में इन सबके लिए कोई स्थान नहीं था। उसका प्रमुख आधार विशुद्ध बौद्धिक मत-परिवर्तन रहा है। आर्यसमाज का शुद्धि - आन्दोलन केवल मुसलमान और ईसाइयों के विरुद्ध भी नहीं था। प्रारम्भिक अछूत समझे जाने वाले हिन्दुओं को भी यज्ञोपवीत देकर शुद्ध करने की परम्परा आर्यसमाज में थी। वस्तुत: शुद्धि शब्द का अर्थ धर्मान्तरण नहीं है और इसलिये प्राचीनकाल में भी जो हिन्दू अपनी धार्मिक मर्यादा और रीति-रिवाजों का उल्लघन करता था उसको प्रायश्चित आदि द्वारा शुद्ध करके पुन: समाज में सम्मिलित कर लिया जाता था। भारत के अधिकांश मुसलमान और ईसाई पहले स्वयं हिन्दू थे या हिन्दुओं की संतान थे और हैं। इसलिये उन्हें पुन: वैदिक धर्म में सम्मिलित करने के लिये आर्यसमाज ने शुद्धि की परम्परा पुन: प्रारम्भ की। ऋषि दयानन्द के अनुसार अन्य धर्मों के अनुयायी भी चाहे वे भारत में रहने वाले हों अथवा अरब या यूरोप अथवा अमेरिका के निवासी हों स्वेच्छा से वैदिक धर्म स्वीकार कर सकते हैं। यह स्मरण रखने की बात है कि स्वामी दयानन्द ने अधिकांश शास्त्रार्थ पौराणिक हिन्दू पण्डितों से ही किये थे और सबका मुख्य विवादास्पद विषय मूर्तिपूजा रहा है। आज भी अधिकांश आर्यसमाजी पौराणिक हिन्दू धर्म को त्याग कर ही स्वामी दयानन्द के अनुयायी बने हैं। किन्तु इस्लाम और ईसाई धर्म से आये हुये व्यक्ति भी आर्य समाज में उपदेशक और पंडित तक रहे हैं।

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मों के सम्बन्ध में स्वामीजी के तर्कपूर्ण और निष्पक्ष दृष्टिकोण का परिचय हमें उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश से मिलता है। उसके 14 समुल्लासों अर्थात् अध्यायों में से प्रथम दस में ईश्वर, जीव, वेद, शिक्षा, गृहस्थ, प्रार्थना और उपासना आदि के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। इस प्रकार पुस्तक के दो तिहाई से अधिक भाग में अन्य धर्मों की समालोचना का एक शब्द भी नहीं है। केवल अन्त के चार अध्यायों में वर्तमान हिन्दू जैन, बौद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म, के सम्बन्ध में विवेचन किया गया है। जैसा उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि इस समीक्षा का केवल मात्र उद्देश्य सत्यासत्य का परीक्षण करके यह जानने का प्रयत्न करना है कि इन धर्मों के विश्वास, सिद्धान्त, व्यवहार बुद्धि और प्रकृति के नियमों की कसौटी पर कहां तक सही उतरते हैं तथा उनमें आपस में भी कितना एकमत या विरोध है।

इस समालोचना के पीछे एक तात्कालिक अनिवार्य आवश्यकता भी थी। उन दिनों ईसाई पादरी और मुसलमान मौलवी हिन्दू देवी - देवताओं और उनके पवित्र ग्रन्थों तथा सामाजिक रीति-रिवाजों का अपमानजनक तरीके से कड़े से कड़े शब्दों में खण्डन करके उनका मजाक उड़ाते थे। दुर्भाग्य से हिन्दू उनका प्रतिकार करना तो दूर उत्तर देने में भी असमर्थ थे। ऋषि दयानन्द को इसीलिये हिन्दुत्व की रक्षार्थ यह अप्रिय कार्य करना पड़ा जिसके परिणामस्वरूप अनेक अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, ईसाई और मुसलमान होने से बच गये। रक्षात्मक आक्रमण के इस शस्त्र के साथ ही स्वामीजी ने हिन्दू धर्म और समाज में व्याप्त बुराइयों की भी समीक्षा करके उसे उनसे मुक्त करने का प्रयत्न किया और यह सुधार अन्दोलन ही वास्तव में विधर्मियों के आक्रमण से बचने के लिये हिन्दुओं की एक ढाल सिद्ध हुई।

कुल मिलाकर उनके ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का आधार उनके मुख्य लक्ष्य अर्थात् सार्वभौम, सर्वमान्य धर्म की खोज प्रतीत होती है। यदि हम वैज्ञानिक विषयों तथा आर्थिक क्षेत्रों की भिन्न-भिन्न विचारधाराओं पर वाद-विवाद और

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

विचार-विनिमय कर सकते हैं तो धार्मिक क्षेत्र में भी ऐसा क्यों नहीं कर सकते यह प्रश्न सबके लिये विचारणीय है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनकी सद्‌भावना

सत्यार्थप्रकाश की प्रारम्भिक भूमिका में स्वामीजी लिखते हैं कि—"मेरा इस ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्यासत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसे सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या प्रतिपादन करना सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहलाता है। जो मनुष्य पक्षपाती है वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है इसलिये वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए विद्वान् आप्तों का यही मुख्य काम है कि उपदेश या लेख द्वारा सब मनुष्यों के सामने सत्यासत्य का स्वरूप समर्पित कर दे। पश्चात् वे स्वयं अपना हिताहित समझ कर सत्यार्थ का ग्रहण और मिथ्यार्थ का परित्याग करके सदा आनन्द में रहे। मनुष्य की आत्मा सत्यासत्य का जानने वाली है तथापि अपने प्रयोजन की सिद्धि, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों से सत्य को छोड़कर वह असत्य में झुक जाती है। परन्तु इस ग्रन्थ में ऐसी बात नहीं रखी है और न किसी का मन दुखाना व किसी को हानि का तात्पर्य है किन्तु जिससे मनुष्य जाति की उन्नति और उपकार हो, सत्यासत्य को मनुष्य लोग जानकर सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करें क्योंकि सत्योपदेश के विना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है।"

उनकी उपरोक्त घोषणा के पीछे उनकी सत्य निष्ठा और सद्‌भावना इससे भी स्पष्ट है कि वे इसके बाद लिखते हैं कि इस ग्रन्थ में जो कहीं भूल-चूक से अथवा शोधने तथा छापने में भूल-चूक रह जाय उसको जानने जनाने पर जैसा वह सत्य होगा वैसा ही कर दिया जायेगा और जो कोई पक्षपात से अन्य शंका वा खण्डन करेगा उस पर ध्यान न दिया जायेगा। हां, जो वह

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
मनुष्य मात्र का हितैषी होकर कुछ जनावेगा उसको सत्यासत्य समझने पर उसका मत संगृहीत होगा।"

आगे वे विना संकोच यह भी स्वीकार करते हैं कि—'यद्यपि आजकल वहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में है वे पक्षपात छोड़कर सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बाते हैं उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से बर्तें बर्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे। क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेक विध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है। इस हानि ने, जो कि स्वार्थी मनुष्यों की प्रिय है, सब मनुष्यों को दुःखसागर में डुबा दिया है।"

अपने इस ग्रन्थ को लिखने के उद्देश्यों का उपसंहार करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"जो-जो सब मतों में सत्य-सत्य बातें हैं वे सब में अविरुद्ध होने से उनको स्वीकार करके जो-जो मत मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उनका खण्डन किया है। यद्यपि मैं आर्यावर्त्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ तथापि जैसे इस देश के मतमतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाश करता हूं वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतावलम्बियों के साथ भी वर्तता हूं जैसा स्वदेश वालों के साथ वर्तता हूं वैसा ही विदेशियों के साथ भी तथा सब सज्जनों को भी वर्तना योग्य है।"

अन्य धर्मों तथा उनकी परस्पर विरोधी बातों की समीक्षा करते समय उन्होंने फिर अपनी इस सद्भावना को दोहराया है और कहा है कि सत्य क्या है और असत्य क्या है इसका विवेचन करना हम सब का कर्त्तव्य है। इसी सन्दर्भ में उन्होंने दो और महत्वपूर्ण बातें लिखी हैं। पहली यह कि "किसी को हानि पहुँचाने या विरोध करने की मेरी जरा भी इच्छा नहीं है फिर भी यदि किसी को मेरी बात पसन्द न आवे तो वे कम से कम मुझे क्योंकि किसी के प्रति भी मेरी दुर्भावना नहीं है।" दूसरे उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी सीमित क्षमता और ज्ञान की स्वीकारोक्ति करके इन शब्दों में अपनी विनम्रता का परिचय दिया है। वे लिखते हैं कि " मैंने अन्य धर्मों के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है उसका आधार उन धर्मों की मौलिक आधारभूत पुस्तकों का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेरे द्वारा किया गया मन्थन है, जितना इस सम्बन्ध में मेरी जानकारी और ज्ञान की क्षमता के अनुसार मैं समझ सका ।" इस प्रकार स्वामीजी ने अन्य धर्माचार्यों के समान न किसी प्रकार की अहमन्यता और न ही सर्वज्ञता का लेश मात्र भी दावा किया है । इस प्रकार की स्पष्टवादिता और नम्रता धर्माचार्यों के लिये एक असाधारण बात है । इतना ही नहीं उन्होंने इससे एक कदम आगे बढ़कर अपने अनुयायियों तक को यह सलाह दी है कि उन्हें जो ग्राह्य और सही लगे उसी को वे स्वीकार करें और जिसे वे ठीक न समझते हों उसे वे छोड़ दें । स्वामी जी ने लिखा है कि देश-विदेश में सैकड़ों धर्म तथा उनके सम्प्रदाय हैं इसलिये मैंने सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्ध में उनकी मान्यता का संक्षिप्त संकलन किया है जिससे उनका एक ही स्थान पर मूल्यांकन आसानी से किया जा सके और सत्य क्या है और असत्य क्या है यह प्रकट हो सके ।

□□

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 17

डी. ए. वी. संस्थाओं का भविष्य

आर्यसमाज द्वारा स्थापित और संचालित डी. ए. वी. तथा अन्य शिक्षण संस्थाएं देश भर में और विशेषकर उत्तर भारत में फैली हुई हैं। उनमें गुरुकुल, कन्या विद्यालय तथा कुछ औद्योगिक संस्थाएं भी हैं जिनकी संख्या लगभग 1000 समझी जाती हैं। आर्यसमाज का हिन्दू धर्म से क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न इन शिक्षण संस्थाओं की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण बन गया है, क्योंकि शिक्षा प्रचार आर्यसमाज के कार्य और उद्देश्य का एक अभिन्न अंग रहा है। एक धार्मिक संगठन के रूप में उसे भी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करने और उनके द्वारा अपने धर्म का प्रचार करने का वही अधिकार है जो देश की अन्य धार्मिक अल्पमत की संस्थाओं को है। हमारे संविधान की धारा 25 के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को जो धार्मिक स्वतन्त्रता दी गई है उसमें उसे अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने का भी अधिकार है इसलिए नागरिकों का कोई समूह भी धारा-19 के अन्तर्गत धार्मिक संगठन और संस्थाएं जिनमें शिक्षण संस्थाएं, भी सम्मिलित हैं, चलाने में स्वतन्त्र हैं।

मौलिक अधिकार

संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक तथा भाषायी अल्पमत के लोगों को शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने और उनका संचालन करने लिए कुछ विशेष अधिकार दिए गए हैं। आर्यसमाज की सैंकड़ों शिक्षण संस्थाएं, जिनमें संस्कृत विद्यालय और हरिद्वार का गुरुकुल विश्वविद्यालय भी सम्मिलित है, गत 100 वर्षों से कार्य कर रही हैं। गैर सरकारी शिक्षण

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संस्थाओं में उनकी संख्या सबसे अधिक है। उसके पश्चात् ईसाई मिशनरियों की शिक्षण संस्थाएं हैं। इसी प्रकार सिख, जैन और बौद्धों द्वारा स्थापित भी कुछ शिक्षण संस्थाएं हैं। संविधान द्वारा दिए गए इस विशेष मौलिक अधिकार के उपरान्त भी स्वाधीनता के बाद राज्य सरकार और विश्वविद्यालयों तथा शिक्षा बोर्डों द्वारा इन शिक्षण संस्थाओं के प्रबन्ध में हस्तक्षेप होता रहता है। सरकार का कहना है कि उन संस्थाओं को सरकार आर्थिक सहायता या अनुदान देती है इसलिए उन पर नियंत्रण रखने का उसे अधिकार है।

इससे भी अधिक विचित्र तर्क यह दिया जाता है कि शिक्षा के स्तर में सुधार करने और उसमें सुव्यवस्था रखने के लिए भी सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक है। किन्तु यह सर्वविदित है कि कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश गैर सरकारी शिक्षण संस्थाएं सरकारी शिक्षण सस्थाओं से कहीं अधिक सुव्यवस्थित ढंग से चलती हैं। इतना ही नहीं वे कम खर्च में अधिक अच्छा कार्य करती हैं। परीक्षा परिणाम और अनुशासन की दृष्टि से भी इस प्रकार की अनेक शिक्षण संस्थाए सरकारी शिक्षण संस्थाओं की तुलना में कहीं अच्छी हैं। सरकारी संस्थाओं में कम फीस होने पर भी गैर सरकारी संस्थाओं में प्रवेश के लिए होने वाली भीड़ इसके प्रमाण है इसलिए यह स्पष्ट है कि सरकार द्वारा सुव्यवस्था के नाम पर सरकारी शिक्षण संस्थाओं में भी हस्तक्षेप करने का उद्देश्य, शैक्षणिक न होकर राजनैतिक होता है इसलिए वह और भी ज्यादा अवांछनीय और आपत्तिजनक है।

सरकार और विश्वविद्यालयों द्वारा अनुदान देने अथवा मान्यता प्रदान करने के लिए अक्सर ऐसी शर्तें लगाई जाती हैं जिनका उद्देश्य भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन संस्थाओं के प्रबन्ध में अनावश्यक हस्तक्षेप करना होता है। देश की ईसाई मिशनरी शिक्षण संस्थाओं ने सबसे पहले इस प्रवृत्ति का विरोध करना प्रारम्भ किया और न्यायालयों में उनके द्वारा अनेक याचिकाएं इस आधार पर प्रस्तुत की गईं कि संविधान की धारा 30 में उन्हें दिये गये मौलिक अधिकारों का उल्लंघन किया जा रहा है। देश के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अनेक उच्च न्यायालयों और यहाँ तक की उच्चतम न्यायालय ने इस आपत्ति को स्वीकार करके यह निर्णय दिया है कि धार्मिक और भाषाग्री अल्पमतों द्वारा स्थापित इन संस्थाओं के आंतरिक प्रबंध में एक सीमा से अधिक हस्तक्षेप करने का सरकार और विश्वविद्यालय आदि को अधिकार नहीं है। न्यायालय के इन निर्णयों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इन संस्थाओं की प्रबंध समितियों का संगठन और उनमें नियुक्त किये जाने वाले अध्यापकों और कर्मचारियों की नियुक्ति और बर्खास्तगी जैसे दो ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें संविधान की धारा 30 के अनुसार इन संस्थाओं को विशेष स्वतंत्रता दी गई है। इसलिये सरकारी अनुदान नियमों अथवा विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता प्राप्त करने के लिए लगाई गई शर्तों में यदि इन मौलिक अधिकारों का उल्लंघन होता है तो इस प्रकार के नियम और कानून असंवैधानिक हैं।

डी. ए. वी. संस्थाओं की विशेषता

आर्यसमाज की डी. ए. वी. आदि शिक्षण संस्थाओं का एक लम्बा और गौरवपूर्ण इतिहास रहा है उनमें से कुछ, जैसे अजमेर का दयानन्द कॉलेज लगभग 100 वर्ष से इस क्षेत्र में कार्य कर रहा है। लाहौर का प्रथम डीएवी कॉलेज प्रबन्ध की स्वतन्त्रता के इसी उद्देश्य को सामने रखकर स्थापित किया गया था। इसी आधार पर स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा स्थापित गुरुकुल कांगड़ी भी आधुनिक भारत में प्राचीन गुरुकुल प्रणाली की पुनः स्थापना के लिये स्थापित किया गया था। इन संस्थाओं ने न केवल शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में बल्कि धार्मिक और सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय जाग्रति के कार्य में जो महान् योगदान दिया है वह सर्वविदित है। वस्तुतः राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली का यह पहला और सफल आन्दोलन कहा जा सकता है। स्वाधीनता के बाद देश में साम्प्रदायिकता और जाति तथा व्यक्तिगत आधार पर अन्य संस्थाओं की बाढ़-सी लग गई है। अनेक राजनैतिक नेताओं ने भी अपनी-अपनी शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करली हैं किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है कि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाएं एक विशेष उद्देश्य को लेकर बहुत पहले से ही कार्य

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
कर रही हैं। उनके पीछे अनेक कार्यकर्त्ताओं का त्याग, देशभक्ति और लगन का इतिहास है जिनमें लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराज जैसी विभूतियों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लाहौर का डी.ए.वी. कॉलेज, अजमेर में स्वामी दयानन्दजी की मृत्यु के कुछ ही समय बाद सन् 1884 में स्थापित किया गया था और शीघ्र ही वह आधुनिक भारत का का विशिष्ट शिक्षा आन्दोलन का स्रोत बन गया। लाला लाजपत राय ने अपनी प्रसिद्ध अंग्रेजी पुस्तक "दी आर्य समाज" में डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर की स्थापना का जो विवरण दिया वह पढ़ने योग्य है। वे लिखते हैं कि "आर्य समाज के आठवें नियम के अनुसार—अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए। अतः उनके अनुयायिओं का कर्त्तव्य है कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तन-मन-धन से प्रयत्न करें। इसलिए आर्यसमाज ने लाहौर में दयानन्द एंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना का निश्चय किया। इस कॉलेज की विशेषता और आवश्यकता के संबन्ध में वे लिखते हैं कि "देश की वर्तमान परिस्थिति में यह आवश्यक है कि शिक्षा का आधार राष्ट्रीय हो क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा के लिए जो शिक्षण संस्थाएं स्थापित की गई उनमें विदेशी प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है जिसके परिणामस्वरूप न केवल यह कार्य विदेशियों और विशेषकर मिशनरी संस्थाओं के माध्यम से होता है बल्कि उनमें दी जाने वाली शिक्षा भारतीय संस्कृति और विचारधारा के भी प्रतिकूल होती है इसलिए सबसे पहले आवश्यक यह है कि देश की युवा पीढ़ी को राष्ट्रीय संस्कृति और भाषा से परिचित कराया जाये और उनमें राष्ट्रीय भावना का प्रसार किया जाये।" लाहौर में स्वामीजी के प्रारंभिक भक्तों में लाला हंसराज प्रमुख थे जो बाद में महात्मा हंसराजजी के नाम से प्रसिद्ध हुए वे एक प्रतिभाशाली अंग्रेजी शिक्षित युवक थे। उन्होंने लाहौर में इस कॉलेज की स्थापना के लिए अपना जीवन देने की इन शब्दों में घोषणा की थी—"स्वदेश और स्वधर्म की सेवा के लिए दिया गया मुझे यह एक अवसर है।" लाला लाजपतराय आगे लिखते हैं कि "उसके प्रबन्ध के सम्बन्ध में भी एक साहसपूर्ण निर्णय लिया गया और ये निश्चय किये गये कि इस शिक्षण संस्था का संचालन आर्यसमाज के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में ही होगा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो इसमें हिन्दु आर्थिक सहयोग और सहायता देंगे उनको भी इसमें सम्मिलित किया जायेग ।"

अंग्रेजी शासन के उस समय के दौर में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार और प्रचार का स्वावलम्बी प्रयत्न करना कितना साहस और खतरे का कार्य था यह आज हम अनुभव नहीं कर सकते हैं। आर्यसमाज ने डी.ए.वी. शिक्षण संस्थाओं के मार्फत इस चुनौती को स्वीकार किया और इसके लिए उसे जो बलिदान देना पड़ा वह उसके इतिहास का एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है। राष्ट्रीय शिक्षा का यह आदर्श तो आर्यसमाज के नियम तथा स्वामी जी के ग्रन्थों द्वारा कांग्रेस की स्थापना से कई वर्ष पूर्व स्वीकार किया गया था। इतना ही नहीं उस समय अनेक कांग्रेस के नेता न केवल अंग्रेजी राज्य के समर्थक थे अपितु उनकी मान्यता थी कि ब्रिटिश शासन में पाश्चात्य विज्ञान और अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ हमारे देश के लिए एक वरदान है।

डी.ए.वी. शिक्षा आन्दोलन के उद्देश्य

स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने लन्दन में सन् 1914 में डी.ए.वी. कॉलेज लाहौर की स्थापना की वर्षगांठ के अवसर पर अपने भाषण में इस आन्दोलन की कुछ विशेषताओं का जिक्र करते हुए कहा था कि "इसके नियमों में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इसका प्रबन्ध आर्यसमाजियों द्वारा चुने हुए लोगों के हाथ में रहेगा और जिन्होंने इसके लिए आर्थिक सहायता दी है ऐसे कुछ हिन्दुओं के प्रतिनिधि भी होंगे।" तब से इस नियम का बराबर पालन किया गया है और आज तक कोई अन्य नेता या गैर हिन्दू कॉलेज की प्रबंध समिति में नहीं रहा। दूसरा नियम जो यद्यपि कहीं लिखा हुआ नहीं है किंतु सर्वसम्मत समझा जाता रहा है वह यह कि अध्यापन का कार्य केवल भारतीय ही करेंगे और इसमें भी कभी अपवाद नहीं किया गया जबकि तत्कालीन अन्य उच्च शिक्षण संस्थाओं में अक्सर कुछ विषयों में अंग्रेज अध्यापकों का होना आवश्यक समझा जाता था। इस प्रयोग का परिणाम भी बहुत अच्छा रहा है। विश्वविद्यालय की परीक्षा में हमारे विद्यार्थी प्रथम स्थानों में रहे हैं और संस्कृत और गणित में उन्होंने उच्च स्थान प्राप्त किया है। इतना ही नहीं अंग्रेजी,

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
राजनीति शास्त्र, अर्थ शास्त्र, इतिहास, दर्शन, केमेस्ट्री और यहाँ तक कि फारसी जैसे विषयों में भी कई बार इस कॉलेज के विद्यार्थी योग्यता सूची में उभर रहे हैं। इन सुन्दर परिणामों के आधार पर अनेक विद्यार्थियों ने सरकार और विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत छात्रवृत्तियाँ प्राप्त की हैं। अनेक पदक और अन्य पारितोषिक प्राप्त किए हैं। इस कॉलेज में एम. ए. तक संस्कृत का प्रावधान है। ये सब उपलब्धियाँ केवल हमारे देश के विद्वान् प्राध्यापकों के परिश्रम का फल था। उनमें किसी विदेशी का योगदान नहीं था। एक तीसरा महत्त्वपूर्ण और अलिखित नियम यह था कि कालेज प्रबंध समिति सरकार से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता नहीं लेगी। चौथा नियम यथासंभव निःशुल्क शिक्षा देने का था यद्यपि धनाभाव के कारण और साथ ही सरकारी और विश्वविद्यालयों के नियम सम्बंधी बाधाओं के परिणामस्वरूप इसकी पूरी तरह से पालना नहीं की जा सकी। फिर भी हमारे यहाँ जो शुल्क लिया जाता था वह सरकारी स्कूल और कालेजों से आधे से भी कम होता था। इन नियमों का विवेचन करते हुए लाला लाजपत राय जी लिखते हैं कि "इनके पीछे अंग्रेज सरकार अथवा किसी अन्य संप्रदाय के प्रति वैर-विरोध की भावना नहीं थी। इसका मुख्य उद्देश्य एक ऐसा प्रयोग करना था जिसे स्वदेशी स्वावलम्बन का प्रयोग कहा जा सकता है और साथ ही आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न करता था जो हमारे देश में लम्बे समय की पराधीनता और अवसरों के अभाव के कारण प्रायः समाप्त हो गया था। जो लोग पंजाब को जानते हैं उन्हें पता है कि इस दिशा में हमने कैसे सफलता प्राप्त की है। शायद भारत के अन्य किसी भाग में शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार का गैर सरकारी कार्य इस सीमा और इतनी सफलता के साथ नहीं किया गया जितना पंजाब में। हमारी इस स्वावलम्बन कीं भावना को गलत समझा गया और उसकी हमें कीमत भी चुकानी पड़ी। क्योंकि हम पर हमेशा सरकारी संदेह की छाया बनी रही। कोई भी नौकरशाही यह पसन्द नहीं करते कि गैर सरकारी संगठन उसकी सहायता या मार्गदर्शन के बिना कोई बड़ा कार्य करे। विशेषकर विदेशी नौकरशाही तो और भी शंकित रहती है। वह प्रत्येक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्वजनिक कार्य की बागडोर अपने नियंत्रण में रखना चाहती है या उन लोगों के नियंत्रण में जिनका वे उपयोग कर सकें। किन्तु हमने सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण अपनाया और इसलिए वह नापसन्द किया जाता रहा है। यद्यपि सरकार या विश्वविद्यालय ने हमारे साथ खुला अन्याय नहीं किया, हमें अपनी सफलता के लिए श्रेय भी प्राप्त हुआ और प्रशंसा भी, किन्तु हम उनकी प्रसन्नता प्राप्त नहीं कर सके। इसका एक उदाहरण यह है कि जब हमने भवन निर्माण और खेल के मैदान के लिए जमीन प्राप्त करने की कोशिश की तो वह सफल नहीं हो सकी। इतना ही नहीं जो भूमि हमने अनेक कठिनाइयों और कानूनी बाधाओं के बाद प्राप्त की उसे भी जबरदस्ती हम से छीन लिया गया और उसके बदले सरकारी भूमि का हिस्सा जो हमारी सीमा में था उसे देना स्वीकार नहीं किया गया। "ये छोटे उदाहरण हैं इस लिए हम विशेष शिकायत नहीं करते फिर भी सरकार और विश्वविद्यालय द्वारा जब कभी नियम बनाये गए उनके पीछे हमारे स्कूल और कॉलजो के बारे में एक ईर्ष्या की भावना दिखाई देती थी क्योंकि हमारी शिक्षण संस्थाएं सरकारी तथा अन्य ऐसी संस्थाओं की प्रतिस्पर्द्धा में श्रेष्ठ समझी जाती थीं।"

सरकारी और गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं का अन्तर

आज भी प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि अधिकांश गैर सरकारी शिक्षण संस्थाएं कई दृष्टियों से सरकारी शिक्षण संस्थाओं से अधिक अच्छी सिद्ध हुई हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि इन संस्थाओं के प्रबन्धकों को जो स्वतन्त्रता प्राप्त है वह संभवतः कड़े सरकारी नियमों के कारण सरकारी संस्थाओं को प्राप्त नहीं है किन्तु इससे भी बड़ा कारण यह है कि इन संस्थाओं का संचालन ऐसे व्यक्तियों के हाथ में है जो बहुधा सेवाभावी सार्वजनिक कार्यकर्त्ता होते हैं इसलिए वे उनमें व्यक्तिगत रुचि लेते हैं और अपने आपको इन संस्थाओं के साथ अपनी आत्मीयता स्थापित करते हैं। वेतन प्राप्त सरकारी कर्मचारियों से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसी प्रकार सरकारी शिक्षण संस्थाओं के आचार्य और प्राध्यापकों के एक संस्था से दूसरी संस्था

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

में तबादले होते हैं परिणामस्वरूप उनका किसी संस्था विशेष से या उसकी प्रगति और विद्यार्थियों के हित के साथ लगाव नहीं हो पाता।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध की स्वतन्त्रता

लाला लाजपत राय ने सरकारी शिक्षण संस्थाओं की तुलना में आर्य समाज की डी ए.वी. आदि शिक्षण संस्थाओं की इन श्रेष्ठता और विशिष्टता के जो कारण बताये हैं वे आज भी सही हैं। आर्यसमाज की कुछ शिक्षण संस्थायें लगभग 100 वर्ष पुरानी हैं और विदेशी शासन में भी उन्होंने अपनी आंतरिक प्रवन्ध की स्वतन्त्रता को बनाये रखा। उनका प्रबन्ध आर्यसमाज के सिद्धान्तों में विश्वास रखने वालों के हाथ में ही रहा और राजनैतिक कारणों के अतिरिक्त अंग्रेजी राज्य ने भी उनमें हस्तक्षेप नहीं किया। उदाहरण के लिए अजमेर की आर्यसमाज शिक्षा सभा के संविधान में स्पष्ट रूप से यह प्रावधान है कि उसकी प्रवंध समिति में कम से कम 2/3 बहुमत उन व्यक्तियों का होगा जो आर्यसमाज के नियमित सदस्य हैं और बाकी के सदस्यों में दानदाताओं के प्रतिनिधि लिए जावेंगे। उसका प्रधान और मंत्री या कम से कम उन दोनों में से एक का आर्यसमाजी होना अनिवार्य है। इतना ही नहीं सन् 1888 में स्थापित अजमेर की यह डी ए वी.संस्था प्रारम्भ में सीधे आर्यसमाज द्वारा संचालित होती थी और आज भी उसके नाम, सिद्धान्त संबन्धी नियम आदि में आर्यसमाज की स्वीकृति के बिना परिवर्तन किये जाने का निषेध है। इन सब विशेषताओं का ही यह परिणाम है कि अजमेर की यह डी.ए.वी. शिक्षण संस्था आज राजस्थान की ही नहीं अपितु सारे देश की एक प्रमुख और बड़ी शिक्षण संस्था बन गई है। जैसा सन् 1971 में उसकी जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका में दी गई अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियों की सम्मतियों से स्पष्ट है। उसके शिक्षा स्तर, अनुशासन और अच्छे प्रबंध के कारण राज्य सरकार ने भी उसे विशेष श्रेणी की संस्था स्वीकार किया है जब कि राज्य की अधिकांश अन्य शिक्षण संस्थाएं, चार साधारण श्रेणीयों में (लाला लाजपत राय द्वारा लिखी गई आर्य समाज ओरियन्टल लांगमैन का 1967 का प्रकाशन) पेज 140-42)

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

भी 4 वर्गों में बंटी हुई हैं। जैसा लाला लाजपतराय जी ने संकेत किया है कि इन गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं के प्रायः सब अध्यापक और अध्यापिकाएं अपना सारा सेवाकार्य एक ही संस्था में करते हैं और इस प्रकार उनके प्रति उनमें मोह और लगन पैदा होती है। अजमेर के दयानन्द कालेज में लगभग 100 प्राध्यापक हैं उनमें से अनेक इसी संस्था के प्रतिभाशाली भूतपूर्व विद्यार्थी रहे हैं। दो तीन अपवादों को छोड़कर और वह भी स्वाधीनता के राजनैतिक वातावरण के बाद, उनकी सेवा-सुरक्षा और वेतनमान सरकारी सेवा में कार्य करने वालों के समान सुरक्षित रहे हैं। अनुशासन और परीक्षा परिणामों के अतिरिक्त उनका सारा वातावरण प्रगतिशील और राष्ट्रीय विचारों से प्रेरित रहा है। शिक्षा के अतिरिक्त आर्यसमाज की इन शिक्षण संस्थाओं में देश की सामाजिक और धार्मिक जागृति में और राष्ट्रीय चेतना में भी बड़ा योगदान दिया है। अजमेर का डी.ए.वी. स्कूल ही संभवतः एक राज्य की ऐसी शिक्षण संस्था है जिसे अंग्रेजी सरकार ने सन् 1920-21 के आन्दोलन में अनुदान रोककर इसलिए दण्डित किया था कि उसके अध्यापक और विद्यार्थियों ने गांधी जी के स्वाधीनता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया था।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्भाग्य पूर्ण प्रवृत्ति

यह सचमुच बड़े खेद की बात है कि हमारी अपनी सरकार द्वारा व्यक्तिगत और राजनैतिक कारणों की वजह से इन संस्थाओं में अनुचित हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है यदि इसे नहीं रोका गया तो उनकी ये विशेषताएं समाप्त हो जायेगी जिनके लिए वे प्रसिद्ध रही हैं। इतना ही नहीं वे अपनी शिक्षा और अनुशासन का वैसा स्तर भी नहीं बनाये रख सकेंगी जिनकी उनसे आशा की जाती है। परिणामस्वरुप न केवल शिक्षा के क्षेत्र को हानि होगी बल्कि व्यापक राष्ट्रीय हित को भी नुकसान पहुँचेगा। वैसे भी यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है कि शिक्षा और विचार के क्षेत्र ऐसे हैं जिनमें सरकारी हस्तक्षेप कम से कम होने चाहिए और तभी विचारों की स्वतन्त्रता और प्रगति के विकास का कार्य यह शिक्षण संस्थाएं विशेषकर उच्च शिक्षा की संस्थाएँ, पूरा कर सकती हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में नियमित रूप से धार्मिक और नैतिक शिक्षा दी जाती रही है विशेष अवसरों पर यज्ञ-हवन तथा स्वामी दयानन्द के जीवन और शिक्षाओं पर उपदेश और उनके जीवन से सम्बन्धित पर्व मनाये जाते हैं। धार्मिक शिक्षा के लिए नियमित पाठ्यक्रम तथा पुस्तकें हैं। संस्थाओं के प्रधानाध्यापक और आचार्य तथा अन्य शिक्षकों से यह अपेक्षा रहती है कि वे इन कार्यक्रम को नियमित रूप से करते रहें। स्वभावत: यदि प्रबंध समितियों को यह अधिकार न हो कि वे इस दृष्टि से इन पदों पर नियुक्ति कर सकें तो इन शिक्षण संस्थाओं की यह विशेषता कायम नहीं रह सकती। इसलिए आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा और उनकी जानकारी रखने वाले अध्यापक अध्यापिकाओं की नियुक्ति करना आवश्यक है बशर्ते कि वे निर्धारित योग्यता की शर्तें पूरी करते हों। वस्तुतः मैकाले की अंग्रेजी शिक्षा के प्रसारण के पीछे भारतीय संस्कृति के प्रति उदासीनता और अराष्ट्रीय विचारों के निराकरण करने के उद्देश्य से ही इन डी. ए. वी. आदि आर्य समाज की शिक्षण संस्थाओं का आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं। ये संस्थाएं अपने इस लक्ष्य में बहुत कुछ सफल हुई हैं यह सर्वविदित है। यहाँ तक कि सर वेलिनटाइन सिरोल जैसे आर्यसमाज के कटु आलोचक तक को यह बात स्वीकार करनी पड़ी है। अपनी पुस्तक "इण्डियन अनरेस्ट" 1910 के पृष्ठ 110-11 पर वे लिखते हैं कि "इन संस्थाओं के प्रभाव के परिणामस्वरूप छोटे बच्चे-बच्चियों के विवाह रोकने में सहायता मिली है। इस कुप्रथा से हिन्दूसमाज को बड़ी नैतिक और शारीरिक हानि हुई है।" इसी प्रकार अभागी हिन्दू विधवाओं की स्थिति सुधारने में भी इन शिक्षण संस्थाओं का हाथ रहा है। वस्तुतः इनमें से अनेक बाल विधवाऐं वास्तवमें कभी विवाहित हुई ही नहीं और उन्हें जो मानसिक तथा अन्य अत्याचार सहने पड़ते थे उनकी कल्पना नहीं की जा सकती। आर्यसमाज ने स्त्री-शिक्षा को प्रोत्साहन देकर तथा जालन्धर में कन्या विद्यालय के अतिरिक्त विधवा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आश्रम स्थापित करके यह सिद्ध कर दिया है कि इस दिशा में कितना अच्छा कार्य उसने किया है। इस प्रकार आर्यसमाज यह दावा कर सकता है कि वह सबसे पहली देशी संस्था थी जिसने अछूतोद्धार के कार्य में एक नया मार्ग दर्शन किया है जो उसी प्रकार का है जैसा ईसाइयों ने इनके सामाजिक उत्थान के लिए किया और कुछ मात्रा में अभी भी इस्लाम द्वारा किया जा रहा है। वस्तुतः अभी भी इस क्षेत्र में इन्हीं दोनों का एकाधिकार था। आर्यसमाज ने अनेक जिलों में विद्यालय खोले और विशेषकर उनमें औद्योगिक शिक्षा का प्रावधान किया जिसके परिणाम स्वरूप नई पीढ़ी के और विशेषकर पिछड़ी जाति के युवकों को आर्थिक और सामाजिक बन्धनों से जिसके वे अभी तक शिकार थे, मुक्ति मिली। यह सब नये और उदार कार्य जो पुरानी परम्पराओं से भिन्न थे, उनका कट्टरपन्थी हिन्दुओं ने जोरदार विरोध किया। यहाँ तक कि इन आर्य सुधारकों का उन्होंने सामाजिक बहिष्कार तक किया : एक तरफ भारत के अन्य भागों में समाज सुधार का कार्य पाश्चात्य प्रभाव से जुड़ा हुआ समझा जाता था और इसलिए जब इस विदेशी प्रभाव के विरुद्ध लहर प्रारम्भ हुई तो समाज सुधार का यह कार्य भी कमजोर पड़ गया किन्तु दूसरी और समाज सुधार का यही कार्य पंजाब में आर्यसमाज की राजनैतिक गतिविधियों से सम्बंधित समझा जाने लगा। जिसके कुछ अत्यंत प्रमुख सदस्यों को ब्रिटिश राज्य विरोधी आन्दोलन के कारण प्रसिद्धी मिली और परिणामस्वरूप कट्टर-पंथी हिन्दुओं ने भी उनके प्रति वह सहिष्णुता और सद्भावना व्यक्त की जो अन्यथा आर्यसमाज के सामाजिक सुधारों को कभी प्राप्त नहीं होती। यह भारत में फैल रहे असन्तोष का यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जो आर्य समाज अपने सामाजिक सुधार के कार्य में पश्चिमी विचारधारा से इतना प्रभावित प्रतीत है, वही अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध होने वाले राजनैतिक आन्दोलन से भी इतने निकट से सम्बन्धित है।"

सिरोल के ये विचार उस समय आर्यसमाज के सम्बंध में इस प्रचलित शंका के समर्थन में व्यक्त किए गये हैं कि आर्यसमाज वास्तव में एक छुपा हुआ राजनैतिक और अंग्रेजी राज्य विरोधी आन्दोलन है। बाद में जिस स्वाधीनता

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

आन्दोलन के परिणामस्वरूप देश को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है उसकी भूमिका में आर्यसमाज का योगदान सर्वविदित है इसलिए चिरोल के ये विचार उसने चाहे किसी भावना से लिखे हों वे आर्यसमाज और विशेषकर उसके शिक्षा आन्दोलन की सफलता का प्रमाण पत्र है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संदिग्ध भविष्य

आर्यसमाज की इन्हीं गौरवशाली शिक्षण संस्थाओं ने देश में राष्ट्रीय शिक्षा के प्रसार में इतना योगदान दिया आज वे ही भेदभाव तथा पक्षपात की शिकार होती जा रही हैं और वह भी अपनी राष्ट्रीय सरकार के कार्यकाल में। संविधान की धारा 30 (1) में ईसाई मिशनरियों की शिक्षण संस्थाओं को जो स्वतन्त्रता दी गई है आर्यसमाज को वह भी प्राप्त नहीं है और यह भी केवल इसलिए कि आर्यसमाज ने विदेशी राज्य में अपने लिए पृथक् राजनैतिक अधिकारों की मांग नहीं की। दिल्ली के उच्च न्यायालय ने यह कह कर आर्य समाज की शिक्षण संस्थाओं द्वारा की गई समानता की इस मांग को अस्वीकार कर दिया कि ये विशेष अधिकार केवल उन्हीं शिक्षण संस्थाओं के लिए है जिनकी स्थापना ब्रिटिश काल में पृथक् राजनैतिक अधिकार प्राप्त धार्मिक अल्प संख्यकों ने की है। यदि यह तर्क सही हो तो उसके परिणाम की भयंकरता का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है। जहाँ पहले आर्य समाज की इन शिक्षण संस्थाओं ने विदेशी सरकार से सहायता की पेशकश ठुकरा कर अपना अस्तित्व और विशेषता बनाये रखी आज देश की समाजवादी अर्थव्यवस्था में बिना सरकारी अनुदान के ये संस्थाए जीवित नहीं रह सकतीं। वस्तुतः अपनी राष्ट्रीय सरकार से इस प्रकार की आर्थिक सहायता प्राप्त करना उनका अधिकार है।

स्वतंत्रता सेनानी

एक प्रकार से ये शिक्षण संस्थाएँ भी स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेने वाले उन देशभक्तों की श्रेणी में आती हैं जो आज या तो अपने त्याग के बदले राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने का दावा करते हैं या जिन्हें स्वतन्त्रता सेनानी होने के नाते पेंशन दी जा रही है। अपनी जिस स्वतन्त्रता को बचाने के लिए इन संस्थाओं ने विदेशी सरकार से सहायता न लेकर और उनमें से अनेकों लोगों ने स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लेकर बड़ी-२ कठिनाइयों का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

सामना किया उनसे आज स्वतन्त्र भारत में सरकारी सहायता के बदले अपनी आन्तरिक स्वतन्त्रता ही नहीं बल्कि विशेषता और उपयोगिता तक को बलिदान करने की मांग की जा रही है यह कितने बड़े आश्चर्य और खेद की बात है। जहां संविधान की धारा 30 में उन धार्मिक अल्पमत की शिक्षण संस्थाओं को सरकार उनके व्यय का 95 प्रतिशत अनुदान देती है, जो न केवल विदेशी राज्य की समर्थक रही हैं, बल्कि जिन्होंने स्वतन्त्रता आन्दोलन का विरोध तक किया है। जैसा इस पुस्तक के अगले अध्यायों से सिद्ध होगा कि संविधानिक और कानूनी दृष्टि से ही नहीं अपितु नैतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से भी आर्य समाज की शिक्षण संस्थाओं को कम से कम उन अधिकारों से वंचित करना जो ईसाई और मुस्लिम शिक्षण संस्थाओं को दिए जा रहे हैं बहुत बड़ा अन्याय है। आज भी जब आर्यसमाज की इन शिक्षण संस्थाओं की ओर से धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पमत होने का दावा किया जाता है तो उसके पीछे न कोई साम्प्रदायिक भावना है और न ही कोई राजनैतिक मांग। आर्यसमाज हिन्दू समाज का अंग होने पर भी हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय नहीं है और हिन्दू धर्म के अनुयायियों की तुलना में वह एक अल्पमत है यह भी निर्विवाद है।

एकमात्र उद्देश्य

इसके उपरान्त भी आर्यसमाज केवल अपनी शिक्षण संस्थाओं को यथावत् संचालित करने की स्वतन्त्रता से अधिक कोई अन्य रियायत या अधिकार नहीं मांगता और वह भी इसलिए कि इस प्रकार की आन्तरिक स्वतन्त्रता के बिना उसकी शिक्षण संस्थाएँ अपनी सर्वविदित विशेषतायें और उपयोगिता कायम नहीं रख सकेंगी। पटना हाईकोर्ट के एक नहीं तीन निर्णयों द्वारा बिहार हिन्दू बहुल राज्य में भी आर्यसमाज का यह दावा स्वीकार किया जा चुका है और डी. ए. वी. कॉलेज जालन्धर के मामले में उच्चतम न्यायालय ने आर्यसमाज के भिन्न धार्मिक मन्तव्यों के आधार पर उसे हिन्दू धर्म से पृथक् एक अल्पसंख्यक धार्मिक संस्था माना है। इस प्रकार संविधान की धारा 30 (1) में संरक्षण पाने का उसकी शिक्षण संस्थाओं का अधिकार संवैधानिक रूप से भी स्वीकार किया जा चुका है। इस सम्बन्ध में अब भी यदि कोई सन्देह है तो उसे भी प्रकार दूर किया जा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है और किया जाना चाहिये जैसा अलीगढ़ के मुस्लिम विश्वविद्यालय
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ने किया है। वस्तुतः मुस्लिम विश्वविद्यालय का दावा आर्यसमाज से भी कहीं अधिक कमजोर था। उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय मुसलमानों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्था नहीं है और इसलिए धारा 30 के अन्तर्गत उसका प्रबन्ध केवल उनके द्वारा किये जाने की मांग निराधार है। उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के उपरान्त सरकार ने अपनी मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति के कारण और मुसलमानों के मत प्राप्त करने के प्रलोभन में संसद में विश्व विद्यालय के कानून में संशोधन करके मुस्लिम विश्वविद्यालय को वह विशेष अधिकार देने का प्रयत्न किया है जो न तथ्यों और न ही न्यायालय के निर्णय के आधार पर उसे दिया जा सकता था। हिन्दू समाज का अंग होने मात्र के कारण यदि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के साथ यह पक्षपात किया जाता है तो एक अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या केवल बहुमत में होने के कारण हिन्दुओं को अल्पमत को दिये गये अधिकारों से वंचित किया जाना उचित है। बहुमत के हिन्दुओं को विशेष अधिकार न दिये जाये यह बात समझ में आ सकती है किन्तु उसे अल्पमत को दिए गए अधिकारों के समान भी अधिकार प्राप्त न हों यह धर्मनिरपेक्षता या प्रजातन्त्रात्मक समानता का कैसा विकृत अर्थ है।

दूसरा उपाय

उपरोक्त समस्या का एक दूसरा उपाय भारत सरकार के तत्कालीन केन्द्रीय कानून मंत्री श्री कुमार मंगलम् ने एक न्यायालय के समक्ष विचाराधीन मामले में सुझाया था।

मदर प्रवोस्ट बनाम केरल राज्य के बीच इसी सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के समक्ष एक वाद में वे राज्य सरकार की ओर से पैरवी कर रहे थे और इस बात का समर्थन कर रहे थे कि राज्य सरकार को केरल में संचालित ईसाई मिशनरियों की शिक्षण संस्थाओं पर नियन्त्रण करने के लिए आवश्यक कानून बनाने का अधिकार है किन्तु उच्चतम न्यायालय ने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संविधान की धारा 30 (1) के आधार पर राज्य सरकार के इस दावे को स्वीकार न करके उसके द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों को निरस्त कर दिया तब श्री कुमार मंगलम् ने यह आश्वासन दिया कि यदि सरकार को ईसाई मिशनरियों की अल्पसंख्यक संस्थाओं के सम्बन्ध में नियन्त्रण करने या शर्तें लगाने का अधिकार नहीं है तो केरल में नैय्यर आदि हिन्दू संगठनों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं पर भी सरकार इस प्रकार की शर्तें नहीं थोपेगी। उनका यह आश्वासन न केवल सर्वथा उपयुक्त और न्यायपूर्ण है बल्कि हिन्दू संस्थाओं के विरुद्ध होने वाले ऊपरलिखित पक्षपात के निराकरण का भी एक उपाय है। अल्पमत की इन शिक्षण संस्थाओं को दिए गए ये विशेष अधिकार उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता का एक आवश्यक आधार माना गया है। यदि यह एक धार्मिक अधिकार है तो उस प्रकार के धार्मिक अधिकारों से हिन्दू शिक्षण संस्थाओं और विशेषकर आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को कैसे वंचित किया जा सकता है? धार्मिक स्वतन्त्रता जैसे नाजुक मामले में यह भेदभाव और भी अधिक आपत्तिजनक है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 18

धार्मिक स्वतंत्रता और शिक्षण संस्थाएं

धार्मिक स्वतंत्रता अब एक सर्वसम्मत मानव अधिकार माना जाता है। राष्ट्र संघ ने मानव अधिकारों की जो घोषणा की है उसकी धारा 18, और 19 में उसका विशेष रूप से उल्लेख है। स्वर्गीय श्री के. एम. मुंशी, जिन्होंने हमारे संविधान में उल्लेखित मौलिक अधिकारों का मसौदा तैयार किया था, कहा है कि धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार अब संसार के प्राय: सब सभ्य देशों के संविधानों में शामिल किया गया है।

धारा 30 की पृष्ठभूमि

हमारे संविधान में धार्मिक स्वतन्त्रता के जो विभिन्न पहलू हैं उन्हें धारा 25 से 30 तक मौलिक अधिकारों के रूप में सम्मिलित किया गया है। धारा 25, 26 और 30 का यही समान आधार है। उन तीनों का उद्गम भी एक ही प्रारम्भिक धारा 16 के मसौदे से हुआ है, जिसे श्रीयुत् मुंशी ने संविधान सभा के सम्मुख "धार्मिक और साँस्कृतिक अधिकार" के एक ही शीर्षक के अन्तर्गत पेश किया था। बाद में उसे इसलिए तीन अलग धाराओं में रखा गया ताकि सब धार्मिक अधिकारों को अलग-अलग स्पष्ट किया जाये। प्रारम्भिक धारा की उप धारा 6 को 26 और 30 इन दो धाराओं में विभक्त किया गया और उप धारा एक वर्तमान धारा 25 में सम्मिलित की गई। इसी प्रकार वर्तमान धारा 29 (1) भी उसी प्रारम्भिक धारा के अंश हैं। वर्तमान 30 (1) तो प्रारम्भिक उपधारा का 3 (ए) और 30 (2) 3 (बी) के रूपान्तर मात्र हैं। यद्यपि वर्तमान मौलिक अधिकार की धारा 30 (1) का अब शीर्षक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस्कृतिकग्रीर शैक्षणिक अधिकार रखा गया है, किन्तु पहले इसे "धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकार" के रूप में ही पेश किया गया था। इसलिए अब भी उसका आधार धार्मिक स्वतंत्रता तथा भाषा ही है। वर्तमान धारा 30 इस प्रकार है "सब अल्पमत चाहे वे धार्मिक हो या भाषायी उन्हें यह अधिकार होगा कि वे अपनी मर्जी की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करके और उनका प्रबंध करें।"

धार्मिक आधार

इस प्रकार स्पष्ट है कि शिक्षण संस्थाओं की स्थापना उस धार्मिक स्वतंत्रता का ही आवश्यक अंग माना गया है जो धारा 25 द्वारा दिया गया है। धारा 25 के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को न केवल अपने धर्म का पालन करने की बल्कि उसका प्रचार करने की भी स्वतन्त्रता है। उच्चतम न्यायालय ने 1958 के अपने प्रसिद्ध निर्णय के पृष्ठ 960 पर भी यह निर्णय दिया है कि ये सारी धारायें अर्थात् 25, 26, 29 और 30 एक ही विषय अर्थात् धर्म से सम्बन्धित हैं। धारा 26 धार्मिक सम्प्रदायों और समुदायों को दातव्य (चेरिटेबल) संस्थायें स्थापित करने का अधिकार देती है और शिक्षा दातव्य (चेरिटी) की परिभाषा में आती है इसलिए अनेक राज्य सरकारों द्वारा जो "ट्रस्ट एक्ट" अर्थात् न्यास कानून बनाए गये हैं उनमें शिक्षण संस्थायें भी सम्मिलित की गई है। उत्तरप्रदेश, राजस्थान और बम्बई के न्यास कानूनों में यही प्रावधान है। वस्तुतः प्राचीन भारतीय परम्परा और संस्कृति में भी "सर्वेषां दानानाम् विद्या दानं विशिष्यते" अर्थात् सब प्रकार के दानों में सर्वश्रेष्ठ दान विद्या का दान है ऐसा, कहा गया है।

डॉ. अम्बेडकर का हमारे संविधान की रचना में विशेष योगदान रहा है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि मौलिक अधिकारों की धारा 19 में सभा, संस्था और संगठन आदि बनाने की जो स्वतन्त्रता दी गई है उसमें धर्म के आधार पर संस्था या संगठन बनाने का अधिकार भी निहित है। इस तर्क के आधार भी धारा 25 में जो धार्मिक अधिकार दिये गये हैं वे धारा 19 में आर्यसमाज जैसी संस्था और संगठन को भी प्राप्त होने चाहिए फिर आर्य-समाज हिन्दू समाज का अंग ही क्यों न समझा जाये। धारा 30 में धार्मिक

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
शब्द का अर्थ इसलिये धारा 25 और 26 को ध्यान में रखकर ऐसा व्यापक और उदार होना चाहिये कि उसमें आर्यसमाज जैसी सुसंगठित धार्मिक संस्था का समावेश हो सके।

आर्यसमाज और शिक्षा

इस पुस्तक में अन्यत्र यह स्पष्ट किया गया है कि शिक्षा प्रसार आर्य-समाज के आधारभूत 10 उद्देश्यों में से एक उद्देश्य है। स्वामीजी ने अपनी वसीयत में भी इसका विशेष रूप से उल्लेख किया है जैसा अजमेर की परोपकारिणी सभा के विधान से स्पष्ट है। हम यह भी देख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द बालक-बालिकाओं की समुचित शिक्षा को कितना महत्व देते थे। तीसरे समुल्लास में उन्होंने इस विषय पर ही चिन्तन किया है।

हिन्दुओं का अधिकार

यदि अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता और सुरक्षा के लिए शिक्षण संस्थायें आवश्यक हैं, जैसा संविधान की धारा 30 में कहा गया है तो अन्य धर्मों के अनुयायियों की शिक्षण संस्थाओं को, चाहे फिर वे बहुमत की ही क्यों न हों, इस अधिकार से कैसे वंचित किया जा सकता है? दूसरे शब्दों में तथाकथित बहुमत के हिन्दुओं की धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए भी शिक्षण संस्थायें इतनी आवश्यक समझनी चाहिए। अल्पमत के लोगों को धार्मिक स्वतन्त्रता देने का अर्थ यह नहीं है और न ही होना चाहिए कि वह अधिकार बहुमत को नहीं है। जब व्यक्तियों तक को अपने धर्म के पालन और प्रचार का अधिकार धारा 25 में दिया गया है तो केवल बहुमत में समझे जाने वाले व्यक्तियों को इस अधिकार से कैसे वंचित किया जा सकता है। यह स्मरण रखने की बात है कि धारा 30 में जो अधिकार दिये गये हैं उनका आधार केवल धार्मिक है उसमें न राजनैतिक और न ही आर्थिक रियायतों के लिए कोई गुंजाइश है। एक और महत्त्व की बात यह है कि धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बंधी धारा 25 में धर्म प्रचार के अधिकार को ईसाई और मुसलमानों के आग्रह पर सम्मिलित किया गया था। उनका कहना था कि उनका धर्म एक प्रचारक धर्म है अर्थात् अन्य धर्मों के लोगों को अपने धर्म में दीक्षित करना उनका धार्मिक कर्त्तव्य है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भारत के उच्चतम न्यायालय ने अपने अनेक निर्णयों में शिक्षा संस्थाओं द्वारा धर्म प्रचार के उनके अधिकारों को स्वीकार किया है। 1958 तथा 1974 के दो ऐसे प्रमुख निर्णय हैं जिनमें यह कहा गया है कि शिक्षण संस्थायें धार्मिक स्वतन्त्रता और धर्म प्रचार के आवश्यक माध्यम हैं। सैंट जेवियर कॉलेज अहमदाबाद सम्बंधी 1974 का उच्चत्तम न्यायालय का निर्णय इस सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट है। यह निर्णय देने वाले न्यायाधीशों में न्यायमूर्ति मैथ्यू ने विशेष रूप से इस बात पर जोर दिया है कि शिक्षण संस्थाओं का धार्मिक स्वतन्त्रता से महत्वपूर्ण और अटूट सम्बन्ध है। अन्य न्यायाधीशों ने भी इसका समर्थन किया है।

आर्यसमाज और धार्मिक प्रचार

सनातनी हिन्दू धर्म जिसके अनुयायी इस देश में बहुमत में हैं उसके सम्बंध में यह कहा जा सकता है कि धर्मान्तरण के लिए धर्म प्रचार करना उनके धर्म का अंग नहीं है। इतना ही नहीं महात्मा गाँधी जैसे निष्ठावान् हिन्दू तो यह मानते हैं कि सनातन धर्म मिशनरी अर्थात् प्रचारक धर्म नहीं है। इस बात को वे हिन्दू धर्म की उदारता और विशेषता मानते हैं क्योंकि उनके अनुसार सब धर्म समान और सत्य हैं और वे केवल एक ही लक्ष्य प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।[1]

सनातनी या पौराणिक धर्म की इस अधिकृत मान्यता के कारण धर्म प्रचार और धर्मान्तरण के लिए उसमें कोई स्थान हो या न हो किन्तु इसके विपरीत आर्यसमाज यह मानता है कि उसकी सम्मति में केवल वैदिक धर्म ही एकमात्र सत्य धर्म है और इसलिए ईसाई और मुस्लिम धर्मों के समान उसका भी यह अधिकार और कर्त्तव्य है कि वह इस सत्य सनातन धर्म का उसके न मानने वालों में प्रचार करे और उन्हें वैदिक धर्म में दीक्षित करें। आर्यसमाज के इतिहास से भी यह स्पष्ट है कि आधुनिक भारत में हिन्दू समाज में शुद्धि और धर्मान्तरण का उसी ने साहसपूर्वक प्रचार और प्रसार किया और ईसाई, मुसलमान तथा अन्य धर्मों के अवलम्बियों के लिए

1. हिन्दू धर्म, महात्मा गांधी नवजीवन प्रैस, अहमदाबाद 1950 पृष्ठ 9

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भी हिन्दू धर्म के शताब्दियों से बन्द द्वार खोल दिए। उसके एक प्रमुख नेता स्वामी श्रद्धानन्द को तो इसके लिए अपने जीवन का बलिदान तक देना पड़ा। आज भी कुछ क्षणिक और सामयिक अपवादों को छोड़कर गैर हिन्दुओं के धर्मान्तरण का आर्यसमाज ही एकमात्र माध्यम है। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज को भी अपने धर्म प्रचार के कार्य में अपनी शिक्षण संस्थाओं का उपयोग करने का वही अधिकार प्राप्त है और होना चाहिए जो ईसाई अथवा मुस्लिम शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 (1) के अन्तर्गत दिया गया है। यदि ऐसा न हो तो यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज के अनुयायिओं के लिए धारा 25 में दी गई धार्मिक स्वतन्त्रता का लाभ नहीं मिलेगा। आर्य समाज के इस दावे का औचित्य इस बात से और अधिक सिद्ध होता है कि हिन्दू समाज में सम्मिलित सिख और बौद्धों को भी धार्मिक अल्पमत मानकर धारा 30 के यह अधिकार दिए गए हैं। जैन मतावलम्बी भी इसमें सम्मिलित किए गए हैं। यद्यपि वे धर्मान्तरण के लिए प्रचार करने में विशवास नहीं करते ऐसा समझा जाता है। किन्तु यह एक विडम्बना है कि ईसाई, मुसलमान और सिखों को धारा 30 में धार्मिक अल्पमत मानने का एक मुख्य कारण यह दिया जाता है कि अंग्रेजी शासन में उन्हें अल्पमत होने के नाते कुछ राजनैतिक अधिकार दिए गए थे। इस प्रकार एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि यदि इन्हें राजनैतिक कारणों से यह अधिकार दिया गया तो उसका धार्मिक आधार कैसे समझा जा सकता है। इसी प्रकार जैनी धर्म प्रचारक न होने पर भी उन्हें धारा 30 में अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाओं की क्या आवश्यकता है यद्यपि अपने बच्चों को धर्म शिक्षा देने के लिए वे धारा 26 के अन्तर्गत चाहें तो शिक्षण संस्थाएं चला सकते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि धारा 30 (1) में दिए गए शिक्षण संस्थाओं सम्बंधी अधिकार से आर्यसमज की शिक्षण संस्थाओं को वंचित रखने का कोई तर्क-पूर्ण कारण नहीं है। पारसी और ईसाइयों को कनूनन कोई पृथक् राजनैतिक अधिकार नहीं थे फिर भी वे धारा 30 (1) के अन्तर्गत धार्मिक अल्पमत हैं इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। इसलिए देहली उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय कि चूंकि आर्यसमाजियों को कोई पृथक् राजनैतिक
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकार प्राप्त नहीं थे इसलिए उन्हें धारा 30 में दिये गये धार्मिक अधिकार भी नहीं दिये जा सकते, सर्वथा गलत है। वस्तुतः देहली उच्चतम न्यायालय के निर्णय के पक्ष में दिए गए सारे कारण तथ्यों और तर्क दोनों के विपरीत हैं जैसा हम इस निर्णय का विवेचन करते समय आगे देखेंगे।

वैदिक धर्म का प्रचार

जहाँ तक आर्यसमाज का प्रश्न है उसका यह दावा केवल उसकी धार्मिक स्थिति के आधार पर स्थित है, क्योंकि वैदिक धर्म का प्रचार उसकी धार्मिक मान्यताओं का आवश्यक अंग है और उसकी शिक्षण संस्थाएँ इस प्रचार कार्य के लिए एक आवश्यक माध्यम हैं। इसलिए संविधान की धारा 25 के अनुसार भी उसका यह मौलिक अधिकार है कि वह अपनी शिक्षण संस्थाओं का न केवल अपने अनुयायियों के बच्चों की शिक्षा के लिए अपितु अन्य धर्म के विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए भी उपयोग करे। आर्यसमाज प्रारम्भ से ही धर्म प्रचारक संस्था रही है। उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द का अधिकांश जीवन वैदिक धर्म के प्रचार और प्रसार में व्यतीत हुआ है। इसी उद्देश्य से उन्होंने उत्तर तथा पश्चिम भारत का निरन्तर भ्रमण किया और जहाँ पर भी वे गए उन्होंने धर्म उपदेश और शास्त्रार्थों द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया और अनेक स्थानों पर संस्कृत और हिन्दी के अध्ययन और धर्मशिक्षा के लिए स्कूल और पाठशालाएं खोलीं। पुणे में अपने व्याख्यानों तथा अपनी अन्तिम वसीयत में भी उन्होंने देश-विदेश में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उपदेशक और प्रचारक भेजने के महत्त्व पर जोर दिया। इसलिए जहाँ अन्य धार्मिक अल्पमत अपने पृथक् राजनैतिक अधिकार और अस्तित्व के लिए शिक्षण संस्थाएं स्थापित करना चाहतें हैं वहाँ आर्यसमाज केवल अपने धार्मिक विश्वासों की सुरक्षा और प्रचार के लिए ही उनकी आवश्यकता अनुभव करता है। संविधान की धारा 30 का वास्तविक उद्देश्य और आधार भी धार्मिक मान्यताएं ही हैं। इसलिए किसी प्रकार के राजनैतिक अथवा अन्य आधार पर इस धारा के बारे में विचार करना अनुचित होगा जैसा देहली उच्चतम न्यायालय ने किया है। सांस्कृतिक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
और धार्मिक सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी आधार पर इस अधिकार को मांगने या देने का प्रयत्न संविधान की भावना के सर्वथा विपरीत होगा। हम पूर्व अध्याय में यह देख चुके हैं कि धार्मिक स्वतन्त्रता में न केवल अपने धर्म का पालन करने बल्कि उसकी शिक्षण संस्थाओं द्वारा भी उसका प्रचार करने का अधिकार स्वीकार किया गया है। उच्चतम न्यायालय द्वारा इस सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण निर्णय दिए गए हैं उनके विवेचन से भी यह बात स्पष्ट होती है। संविधान की इस धारा के पीछे उसके निर्माताओं का यह उद्देश्य था या नहीं इस सम्बंध में मतभेद हो सकता है और है। किन्तु हमारी सम्मति में धर्म प्रचार के साधन के रूप में शिक्षण संस्थाओं की स्थापना और प्रबंध करने का यह मौलिक अधिकार वस्तुतः इस धारा का न्यायालय ने जो अर्थ लगाया है उसी का परिणाम है। न्यायमूर्ति अय्यर आदि कुछ विधि पण्डितों ने अपना यह भिन्न मत व्यक्त भी किया है कि धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पमतों को शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का जो अधिकार दिया गया है उसका उद्देश्य केवल इतना ही था कि वे लोग अपने बच्चों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए अपने खर्चे पर इस प्रकार की शिक्षण संस्थाएँ स्थापित कर सकते हैं, किन्तु अन्य विषयों की शिक्षण संस्थाएँ, जिन में अन्य मतावलम्बी छात्रों को भी प्रवेश दिया जाता है, उस प्रकार की संस्थाओं की स्थापना का विशेष अधिकार धार्मिक अल्पसंख्यकों को देने का इसमें प्रावधान नहीं है। चाहे जो हो अनेक न्यायिक निर्णयों के परिणामस्वरूप अब इस प्रकार का अधिकार स्वीकार कर लिया गया है जिस के अनुसार धार्मिक अल्पमत के लोग गैर धार्मिक साधारण विषयों के लिए भी शिक्षण संस्थाएं स्थापित करके उनके संचालन में अन्य संस्थाओं की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता का उपभोग कर सकते हैं। अपने मत से भिन्न लोगों के बच्चों को भी प्रवेश देने की उन्हें छूट है। वस्तुतः न्यायमूर्ति मैथ्यू ने तो यह स्पष्ट कहा है कि इन संस्थाओं द्वारा अन्य मतों के छात्रों में अपने धर्म का प्रचार और प्रसार करने का अधिकार भी अल्पमत की धार्मिक स्वतन्त्रता का आवश्यक अंग है। इतना ही नहीं अनेक उच्च न्यायालयों और स्वयं उच्चतम न्यायालय ने भी यह निर्णय दिया है कि इस प्रकार के धार्मिक अल्पमतों द्वारा स्थापित

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन शिक्षण संस्थाओं को सरकारी अनुदान प्राप्त करने का भी उतना ही अधिकार है जितना अन्य गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं को। इस प्रकार की अनेक शिक्षण संस्थाओं को देश में 95 से 100 प्रतिशत तक का अनुदान प्राप्त होता है। उसके उपरान्त भी उन्हें आंतरिक प्रबंध के मामलों में विशेष अधिकार प्राप्त हैं। दूसरे शब्दों में अन्य गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं पर सरकार और विश्वविद्यालयों का जो नियन्त्रण है उनसे यह धार्मिक अल्पमत की शिक्षण संस्थाएँ भारी अनुदान प्राप्त करने के बाद भी एक सीमा तक स्वतन्त्र है। इसका परिणाम यह है कि बहुमत में समझे जाने वाले हिन्दुओं की संस्था को यदि सरकार अनुदान देती है तो (और कहीं-कहीं अनुदान न देने पर भी) उन पर इन दोनों का पूरा नियंत्रण होगा जिनसे अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाओं को छूट दे दी गई है।

धर्म निरपेक्षता विरोधी

जैसा संविधान निर्मातृ सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री जे टी. शाह ने अपना भिन्न मत व्यक्त करते हुए कहा था कि इस प्रकार की धार्मिक अल्पमत की संस्थाओं को सरकारी अनुदान देने का प्रावधान धर्मनिरपेक्षता की वास्तविक भावना के अनुकूल नहीं है। अमेरिका जैसे ईसाई बहुमत वाले प्रजातन्त्र में भी किसी धार्मिक संस्था द्वारा संचालित स्कूल और कॉलेज को सरकारी अनुदान नहीं दिया जाता, इतना ही नहीं जिन संस्थाओं में किसी धर्म विशेष का प्रचार और प्रसार होता हो उसे सरकारी मान्यता तक नहीं दी जाती। कुछ सदस्यों ने इस बात पर भी असंतोष व्यक्त किया था कि धार्मिक स्वतन्त्रता का इस प्रकार का अर्थ बहुमत के साथ भेदभाव और अन्याय का परिचायक है। यदि धार्मिक अल्पसंख्यक धर्म प्रचार व प्रसार के लिए शिक्षण संस्थाएं स्थापित करना चाहते हैं तो उन्हें यह स्वतन्त्रता दी जा सकती है बशर्ते कि वे कानून और सविधान की सीमाओं का उल्लंघन न करें। किन्तु उन्हें सरकारी अनुदान देने और इस अनुदान के उपरान्त भी बहुमत की संस्थाओं की तुलना में विशेष अधिकार देने का प्रावधान धार्मिक स्वतन्त्रता की सीमा में नहीं आता। चाहे

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

जो हो जैसा हमने ऊपर निवेदन किया है कि अब न्यायालयों के निर्णयों द्वारा
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अल्पसंख्यक की शिक्षण संस्थाओं का यह विशेष अधिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार किया जा चुका है। संविधान के निर्माताओं की कल्पना में भी संभवत: यह नहीं था कि इस विशेष अधिकार का उपयोग राजनैतिक उद्देश्य या लाभ के लिए किया जायगा, किन्तु आज राजनैतिक कारणों से ही धार्मिक अल्पसंख्यकों के इस अधिकार का समर्थन किया जा रहा है, इसका स्पष्ट उदाहरण अलिगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय सम्बंधी संशोधित कानून है। तात्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री हिदायतुल्ला के एक महत्वपूर्ण निर्णय द्वारा मुस्लिम संगठनों की यह मांग कानून विरुद्ध घोषित कर दी गई थी कि अलीगढ़ के मुस्लिम विश्वविद्यालय को भी धारा 30 के अन्तर्गत विशेष अधिकार दिये जाये। इस निर्णय में यह कहा गया था कि यह विश्वविद्यालय मुसलमानों द्वारा स्थापित नहीं किया गया अपितु उसकी स्थापना राज्य के कानून द्वारा की गई थी। चाहे फिर वह मुसलमानों में शिक्षा प्रचार के लिए भले ही किया गया हो। इसलिए उसके प्रबंध और उसके संचालन का अधिकार केवल मुस्लिम सम्प्रदाय को होने का दावा धारा 30 के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्वभावत: इस पर मुस्लिम संगठनों द्वारा बड़ा विरोध किया गया और परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने अलीगढ़ विश्वविद्यालय अधिनियम में संशोधन करके मुस्लिम समुदाय के विशेष अधिकार को बहुत हद तक स्वीकार कर लिया। इस विवेचन का उद्देश्य यह बताना है कि या तो किसी धर्म विशेष की शिक्षण संस्थाओं को इस प्रकार के विशेष अधिकार दिये ही न जाये क्योंकि वह धर्मनिरपेक्षता की वास्तविक भावना के अनुकूल नहीं है और यदि यह अधिकार उन्हें दिया जाता है तो आर्यसमाज जैसे धार्मिक सगठनों को भी उससे वंचित नहीं किया जा सकता। जिन कारणों से अन्य अल्पसंख्यकों को यह अधिकार दिये गये हैं, वे सब कारण आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के पक्ष में भी दिए जा सकते हैं।

शिक्षा और धार्मिक अल्पसंख्यक

मौलिक अधिकारों की धारा 30 के संबंध में पहला और आधारभूत निर्णय जो उच्चतम न्यायालय ने दिया वह केरल सरकार द्वारा प्रस्तावित

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

शिक्षा अधिनियम के सम्बंध में था। इस निर्णय में जो विचार व्यक्त किए गए
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
हैं उन्हीं के आधार पर बाद में धारा 26, 29 और 30 के सम्बंध में दिए गए निर्णय अवलम्बित हैं। इस महत्वपूर्ण फैसले में यह स्वीकार किया गया है कि शिक्षण संस्थाएँ अल्पसंख्यकों को दिए गए धर्म प्रचार के अधिकार के लिए आवश्यक साधन हैं। अपने निर्णय में न्यायालय ने कहा कि धार्मिक अल्पसंख्यकों की यह स्वाभाविक इच्छा है कि उनके बच्चों को जो शिक्षा दी जाय वह उस वातावरण में हो, जो उनके धर्म के विकास में सहायक हो। संविधान निर्माताओं ने उनकी इस मांग के महत्व को स्वीकार किया और मौलिक अधिकारों की धारा 29 और 30 द्वारा उन्हें यह अधिकार देना स्वीकार किया। †

इस निर्णय में आगे कहा गया है कि धारा 30 के अन्तर्गत जिन शिक्षण संस्थाओं को यह संरक्षण दिये गए हैं वे चाहें तो उनमें केवल धार्मिक शिक्षा दें अथवा अन्य साधारण शिक्षा भी दें। इस प्रकार उन्हें यह अधिकार दिए गए हैं कि वे बिना हस्तक्षेप के अपनी शिक्षण संस्थाओं का संचालन कर सकें क्योंकि अल्पसंख्यक समुदाय अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से ही सुरक्षित रख सकते हैं इसलिए धारा 30 के अन्तर्गत उन्हें अपनी शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने और उनका प्रबंध करने का अधिकार दिया गया है। वस्तुत: अपनी भिन्न भाषा, संस्कृति और लिपि की सुरक्षा का यह उद्देश्य अन्य धर्मों के अनुयायियों में प्रसारित करने से अधिक अच्छी तरह से पूरा हो सकता है। निर्णय में आगे कहा गया है कि यह धारा उन्हें यह विकल्प प्रदान करती है[1] कि वे इस प्रकार की शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करें जो दोनों उद्देश्यों को पूरा करें अर्थात् अपने धर्म, भाषा और संस्कृति की सुरक्षा और अपने बच्चों को समुचित अच्छी शिक्षा[2]।

इस सम्बन्ध में सबसे अन्तिम महत्त्व का निर्णय उच्च न्यायालय द्वारा अहमदाबाद के सेंट जेवियर कालेज नामक ईसाई मिशनरी संस्था के संबन्ध में

---

† ए. आई. आर. 1958, उच्चतम न्यायालय पेज 959 और 960

1. (देखें पृष्ठ 961)

2. (देखें पृष्ठ 22, 23)

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

दिया गया है। इस निर्णय में उपरोक्त सब बातों की पुष्टि की गई है
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
जिनकी केरल के शिक्षा विधेयक सम्बंधी उपरोक्त निर्णय में घोषणा की गई थी।

शिक्षा का आधार धर्म–

सेंट जेवियर कालेज सम्बंधी इस निर्णय में जो ए. आइ. आर. 1974 उच्चतम न्यायालय के पृष्ठ 1389 पर प्रकाशित हुआ है, न्यायमूर्ति मैथ्यू ने अपनी तथा अपने साथी न्यायाधीश श्री चन्द्रचूड़ (जो बाद में मुख्य न्यायाधीश बने) की ओर से इस बात को विस्तार से स्पष्ट किया है कि इन अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाओं का वास्तविक आधार धर्म है। उन्होंने रोनाल्डस्मिथ की पुस्तक "क्या भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है" का हवाला देते हुए कहा कि धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं का उद्देश्य क्या है यह महत्वपूर्ण प्रश्न विचारणीय है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य धर्म प्रचार है। रोनाल्ड स्मिथ का एक और उद्धरण हम यहाँ देना उपयुक्त समझते हैं अर्थात् धार्मिक संगठन अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाएँ इसी लिए स्थापित करती हैं कि उनमें ऐसा वातावरण उत्पन्न हो जो उनके धार्मिक मूल्यों ने प्रचार के लिए अनुकूल हो। न्याययूर्ति श्री मैथ्यू ने निर्णय के 144 वें पैराग्राफ में और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों का यह अधिकार सुरक्षित होना चाहिए कि वे अपनी ऐसी शिक्षण संस्थाएं स्थापित और संचालित कर सकें जिनके माध्यम से उन्हें साधारण शिक्षा भी धार्मिक वातावरण में देने की सुविधा हो।

पोप के विचार

न्यायमूर्ति श्री द्विवेदी के अनुसार ईसाइयों के धर्म गुरु पोप की यह मान्यता है कि कैथोलिक धर्म की शिक्षण संस्थाएँ यह मानती हैं कि शिक्षा, चर्च अर्थात् धर्म का विषय है और कैथोलिक धर्म इस बात को स्वीकार नहीं करता कि साधारण शिक्षा धार्मिक शिक्षा से पृथक् की जा सकती है। जैसा ग्यारहवें पोप पायस ने कहा है कि "कैथोलिक शिक्षण संस्थाए वे हैं जहाँ सारे वातावरण में कैथोलिक धर्म ओत-प्रोत हो और जहाँ सब प्रकार की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा-व्यवस्था, पाठ्यक्रम और पुस्तकों में ईसाई भावना हो।" उच्चतम न्यायालय के 7 में से 5 न्यायाधीशों के बहुमत से दिए गए इस निर्णय में, जो तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश श्री रे ने सुनाया था, अन्य सब न्यायाधीशों ने भी अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं के धार्मिक उद्देश्य पर जोर दिया है और यह स्वीकार किया है कि इन संस्थाओं को मान्यता या अनुदान देने के लिए कोई ऐसी शर्त जिससे उनके इस अधिकार का हनन होता है, वह संविधान की धारा 30 के अनुसार गैर कानूनी और अनुचित है।

अल्पसंख्यकों का अधिकार

इसी निर्णय में न्यायाधीश खन्ना ने पैरा 17 में संविधान की धारा 25 का हवाला देते हुए कहा है कि उसमें दिए गए धार्मिक अधिकार को धारा 26 में भी दातव्य संस्थाओं द्वारा प्राप्त करने का अधिकार है। उन्होंने इसी संदर्भ में धारा 28, 29 और 30 को उद्धृत करते हुए पैरा 73 में कहा है कि यद्यपि इन धाराओं के शीर्षक से ऐसा प्रतीत होता है कि वे केवल अल्प-संख्यकों के लोगों के लिए हैं किन्तु कम से कम धारा 29 में यह अधिकार अल्पसंख्यकों और बहुसंख्यकों दोनों को प्राप्त है। पैरा 79 में अल्पसंख्यकों के विशेष अधिकार का समर्थन करते हुए कहा गया है कि इन संस्थाओं के प्रबंधकों को उन्हें अपने विचारों और आदर्शों के अनुसार उन्हें चलाने का अधिकार है। आगे वे यह भी मानते हैं कि धारा 25 से 30 के अन्तर्गत धार्मिक विश्वास और प्रचार के जो अधिकार दिए गए हैं उन्हीं को व्यवहारिक रूप देने के लिए ही उन्हें मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार किया गया है।

इन विचारों का विवेचन करने के बाद यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए दिए गए उपरोक्त अधिकारों का क्या बहुसंख्यकों के लोगों के लिए कोई उपयोग या महत्व नहीं है ? अल्पसंख्यकों को विशेष संरक्षण देने का औचित्य इस आधार पर सिद्ध किया जाता है कि उसके बिना बहुसंख्यक लोग उन्हें इन अधिकारों से वंचित कर धार्मिक उनकी स्वतन्त्रता में बाधा न पहुंचा सकते हैं। अल्पसंख्यकों के साथ कोई भेदभाव न

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

हो यहां तक तो यह उचित है किन्तु क्या इस प्रकार के पक्षपातपूर्ण व्यवहार को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें विशेष अधिकार दिए जायें । भेदभाव को रोकने के लिए समानता तो आवश्यक है किन्तु समानता और विशेष एकाधिकार में अन्तर है । आदर्श स्थिति तो यह होती कि अल्पसंख्यकों को अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार इस प्रकार से दिया जाता कि उसके कारण बहुसंख्यकों के इसीप्रकार के समान अधिकार को हानि न पहुंच पाती । विशेषकर जब धार्मिक स्वतन्त्रता जैसे मामले में दोनों में कोई विरोध होना भी आवश्यक नहीं है ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धारा 30 का दुरुपयोग

व्यवहार में और विशेषकर न्यायालयों के निर्णय के परिणामस्वरूप धारा 30 का उपयोग केवल अल्पसंख्यकों के धार्मिक अधिकारों में हस्तक्षेप न करने से कहीं अधिक व्यापकरूप से किया जा रहा है । दूसरे शब्दों में वह केवल अल्पसंख्यकों की अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता तक ही सीमित नहीं रहा है । इस धारा के परिणामस्वरूप अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की तुलना में यह विशेष अधिकार दिए गए हैं कि वे अपनी शिक्षण संस्थाओं में अपने धर्म की शिक्षा के उपरान्त भी इन संस्थाओं के अधिकांश व्यय पर सरकार द्वारा चुकाया अनुदान प्राप्त करे । जायेगा क्योंकि धारा 30 की उप-धारा 2 में यह स्पष्ट कहा गया है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित इन शिक्षण संस्थाओं को भी उसीप्रकार सरकारी अनुदान प्राप्त होगा जैसा अन्य संस्थाओं को प्राप्त है। परिणामस्वरूप उन्हें अपने समस्त व्यय का 90 से 95 प्रतिशत और कुछ को तो 100, का अर्थात् सारा व्यय अनुदान के रूप में दिया जा रहा है । वस्तुत: शिक्षण संस्थाओं का लगभग सम्पूर्ण व्यय उनके अध्यापकों और कर्मचारियों के वेतन पर ही होता है । इस प्रकार ये धार्मिक अल्पसंख्यकों की संस्थाएं न केवल अपने अनुयायियों के बच्चों को धार्मिक शिक्षा देने में स्वतंत्र हैं बल्कि उन्हें यह भी अधिकार प्राप्त है कि वे अन्य धर्मावलम्बियों के बच्चों में भी इन संस्थाओं द्वारा अपने धर्म का प्रचार करें और उसका अधिकांश व्यय बहुसंख्यकों द्वारा दिए गए

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

सरकारी करों और अन्य आय के साधनों से करते रहें। केरल के शिक्षा अधि-
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
नियम और विशेषकर सेंट जेवियर कालेज अहमदाबाद सम्बधी निर्णयों में व्यक्त न्यायाधीशों के विचारों से यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से निकलता है, क्योंकि उनके द्वारा यह बात स्वीकार कर ली गई है कि धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यकों को न केवल धार्मिक सुरक्षा अपितु धर्म प्रचार के लिए शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार है और साथ ही उन्हें अनुदान देना भी सरकार का कर्त्तव्य है।

हिन्दुओं के प्रति अन्याय

यह कहा जाता है कि धारा 25 और संविधान के कुछ अन्य प्रावधानों द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता है, दी गई स्पष्ट है कि इस प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता बहुसंख्यक समझे जाने वाले हिन्दुओं को भी प्राप्त होनी चाहिये। ऐसी स्थिति में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि ये बहुसंख्यक हिन्दू अपनी शिक्षण संस्थाओं द्वारा इस धार्मिक स्वतन्त्रता का उपयोग कैसे कर सकते हैं ? यदि नहीं कर सकते तो क्या उनके लिए वास्तविक रूप में वह धार्मिक स्वतन्त्रता है जो अल्पसंख्यकों को दी गई है ? इस प्रकार प्रश्न अल्प-संख्यकों को समान अधिकार देने का नहीं है उसे स्वीकार करने के उपरान्त भी प्रश्न यह है कि क्या हिन्दुओं को इस अधिकार से वंचित करना संवैधानिक है।

यहभी उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में इतने सारे धार्मिक समुदाय और भिन्नताएँ हैं कि वे यदि चाहें तो भी अपने बहुसंख्यक होने का उपयोग या दुरुपयोग सरकारी शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा देने के लिए नहीं कर सकते हैं, जिस आशंका के कारण अल्पसंख्यकों को पृथक् शिक्षण संस्था स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। इसलिए इस विचित्र स्थिति के समाधान का एक तरीका यह हो सकता है कि हिन्दू समुदाय में भी जो संगठन किसी एक निश्चित धर्म को मानता है जैसे आर्य-समाजी,बौद्ध, जैनी या सिख, कम से कम उसे भी यह अधिकार प्राप्त हो। इनमें भी केवल आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाएँ ऐसी हैं कि जिन्हें यह अधिकार

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

स्पष्ट रूप से प्राप्त नहीं हैं जो गैर हिन्दू शिक्षण संस्थाओं को दिए गए हैं।
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
यह इसलिए भी अन्यायपूर्ण है कि धारा 30 का व्यवहार में यह परिणाम हुआ है कि हिन्दू समझे जाने वाले आर्यसमाज जैसे संगठनों को इस प्रकार के समान धार्मिक अधिकार से वंचित किया गया है जो संविधान द्वारा उन्हें प्राप्त है। संभवतः संविधान के निर्माताओं ने यह नहीं चाहा था कि उसका ऐसा विचित्र परिणाम निकले। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं द्वारा धारा 30 के अन्तर्गत समान अधिकार की वर्तमान मांग एक प्रकार से हमारे संविधान की धर्मनिरपेक्षता की परीक्षा है और उसमें दिए गए समान धार्मिक अधिकार की भी कसौटी है।

शिक्षण संस्थाओं की आन्तरिक स्वतन्त्रता

अल्पसंख्यकों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं के सम्बध में अभी तक के न्यायालयों के निर्णय के परिणामस्वरूप यह स्पष्ट किया गया है कि ये संस्थाएँ जिस लक्ष्य और उद्देश्य से स्थापित की गई हैं उनकी पूर्ति के लिए तीन ऐसे विशेष अधिकार हैं जो इन संस्थाओं को प्राप्त हैं और होने चाहिए। पहला—प्रबंध सभाओं की रचना या संगठन। दूसरा—आचार्य, प्रधानाचार्य और अध्यापकों की नियुक्ति और उनके सम्बन्ध में अनुशासन की कार्यवाही करने का अधिकार और तीसरा—सब प्रकार की या और सब विषयों के लिए शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार।

सेंट जेवियर कालेज के इस निर्णय के पैराग्राफ 40 , 41 द्वारा यह भी घोषित किया गया है कि प्रबंध समितियों में किसी बाहरी व्यक्ति को थोपने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए और उनके सब सदस्य संस्था को स्थापित करने वाले व्यक्तियों के उद्देश्य में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति होने चाहिए। इसी प्रकार पैरा 42 में कहा गया है कि प्रबन्ध समिति को प्राचार्य, हैडमास्टर तथा अन्य शिक्षकों की नियुक्ति में स्वतन्त्रता होनी चाहिए ताकि ऐसे व्यक्तियों को नियुक्त किया जा सके जो संस्था के दृष्टिकोण से सहमत हो। बशर्ते कि वे निर्धारित योग्यता को पूरा करते हों। 43 वें पैराग्राफ में प्रबन्ध समितियों को अनुशासन की कार्यवाही करने का अधिकार दिया गया है जिसमें सेवामुक्ति

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
तथा अन्य दण्डात्मक कार्यवाही करने का अधिकार सम्मिलित है। इसे प्रवंध की स्वतन्त्रता का मुख्य अंग माना गया है। यहाँ तक कि प्रवन्धकों तथा अध्यापकों के विवाद को विश्वविद्यालय आदि द्वारा निर्धारित किसी ट्राइब्यूनल या पंच फैंसले के लिए भेजने के प्रावधान को भी गैर कानूनी घोषित किया गया है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि इस प्रकार के प्रावधान द्वारा शिक्षण संस्थाओं में कानून विवाद और मुकद्मेबाजी का प्रवेश होगा, जिससे उसका वातावरण दूषित होगा इसलिए प्रबन्ध समिति को ऐसी अनुशासनात्मक कार्यवाही स्वयं करने का अधिकार होना चाहिए।

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को भी ये सब अधिकार प्राप्त न हों तो वे अपने उन उद्देश्यों को पूरा नहीं कर सकतीं जिनके लिए उनकी स्थापना की गई है और जो उच्चतम न्यायालय द्वारा ईसाई मिशनरी संस्थाओं को दिए गए हैं। आर्यसमाज यह कोई नई मांग नहीं कर रहा है आर्यसमाज की डी ए वी. आदि शिक्षण संस्थाएँ जिनमें से अनेक लगभग 100 वर्ष से शिक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं, इस प्रकार की स्वतन्त्रता का उपयोग करती आ रही है। उनकी प्रवन्ध समितियों में आर्यसमाज के सिद्धान्तों में विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों को ही चुना जाता रहा है। उदाहरण के लिए आर्यसमाज शिक्षा सभा अजमेर के संविधान में यह प्रावधान है कि उसकी प्रवन्धस समिमि में कम से कम 2/3 बहुमत उन व्यक्तियों का होगा जो आर्यसमाज के नियमित सदस्य हैं और अन्य व्यक्ति दानदाताओं आदि में से चुने जायेंगे। यही स्थित लगभग सब डीएवी, संस्थाओं की है। डीएवी कालेज लाहौर की प्रबन्ध समिति के नियमों में भी ऐसा ही प्रावधान हैं कि आर्यसमाजों द्वारानिर्वाचित व्यक्ति हीउसमें सदस्य होंगे जिन्होंने उसके लिए धन आदि से सहायता की हो उनके थोड़े प्रतिनिधि भी लिए जा सकेंगे, इस नियम का बिना अपवाद के पालन किया जाता रहा है और आज तक उसमें कोई गैर हिन्दू सदस्य नहीं रहा।

प्रबन्ध समिति

इस प्रकार आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की प्रबन्ध समितियाँ अपने आन्तरिक प्रबन्ध में पूर्णत: स्वतन्त्र रही हैं किन्तु इधर कुछ समय से राज्य

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सरकारों तथा उनके शिक्षा विभाग और विश्वविद्यालयों द्वारा इनके आन्तरिक प्रबन्धमें हस्तक्षेप बढ़ने लगा है जिनमें सरकारी द्वारा नामजद व्यक्तियों को सदस्य बनाने की आपत्तिजनक शर्तें भी हैं।

प्राध्यापक

इसी प्रकार प्रधानाध्यापकों और अन्य अध्यापकों की नियुक्ति में सरकार या विश्वविद्यालय का सीधा हस्तक्षेप किया जाता है किन्तु गुरु नानक विश्व-विद्यालय द्वारा डी.ए.वी. कालेज जालन्धर की प्रबंध समिति के संगठन पर लगाई गई इस प्रकार की शर्तों को उच्चतम न्यायालय ने इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया है कि आर्य समाज धारा 30 के अन्तर्गत एक धार्मिक अल्प-संख्यक संगठन है। इस निर्णय में डी. ए. वी. संस्था में प्रधानाध्यापकों की नियुक्ति आदि पर लगाये गये नियत्रण को भी असंवैधानिक घोषित कर दिया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अध्यापक और विशेषकर प्रिंसीपल और हैडमास्टर इन संस्थाओं की विशेषता बनाये रखने के कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनके सहयोग और निष्ठा के बिना इन संस्थाओं के उद्देश्य और लक्ष्य पूरे नहीं किये जा सकते जिनके लिए उनकी स्थापना की गई है। इसी प्रकार प्रबंध समिति का अनुकूल संगठन भी अनिवार्य है। वह न केवल नीति निर्धारण करती है बल्कि संस्थाओं के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए भी आवश्यक मार्गदर्शन और सुविधाएँ प्रदान करती है। जिन आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं का प्रबन्ध आर्यसमाज के प्रति निष्ठा रखने वाले लोगों के हाथ में है और जिनके अध्यापक इसी विचारधारा से अनुप्राणित हैं उन संस्थाओं का कार्य इस दृष्टि से अधिक सफल और प्रशंसनीय रहा है और वे नियमित धार्मिक शिक्षा आदि अपनी उन विशेषताओं को बनाये रखने में सफल हुई हैं जिनके लिये ये संस्थाएं प्रसिद्ध हैं।

मान्यता का अधिकार

एक और समस्या जो इन संस्थाओं के सामने आने लगी है वह दिन प्रति-दिन बढ़ने वाला बाहरी हस्तक्षेप है। सरकार के अतिरिक्त विश्वविद्यालय और शिक्षा बोर्डों द्वारा भी उन्हें ये धमकियां दी जाने लगी हैं कि यदि उनके

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के अनुचित हस्तक्षेप को स्वीकार नहीं किया तो उनकी मान्यता समाप्त कर दी जायेगी और उनको दी जाने वाली आर्थिक सहायता भी रोक दी जायेगी।

केरल शिक्षा विधेयक संबंधी निर्णय में मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति श्री दास ने इसीलिए यह स्वीकार किया है कि धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित ये संस्थाएं अपनी उपयोगिता और उद्देश्य दोनों को बिना मान्यता के बनाये नहीं रख सकतीं और इस प्रकार धारा 30 के अंतर्गत उन्हें दिए गए अधिकार निरर्थक सिद्ध होंगे। बाद के निर्णय में भी उच्चतम न्यायालय ने इस बात की पुष्टि की है और कहा है कि यद्यपि मान्यता और स्वीकृति मौलिक अधिकार नहीं है किन्तु कोई ऐसी शर्त जो मान्यता के लिए लगाई जाये ऐसी नहीं होनी चाहिए कि जिसके परिणामस्वरूप इन संस्थाओं को दिए गए विशेष अधिकार समाप्त हो जाये। जहाँ तक अनुदान का प्रश्न है उस सम्बंध में भी न्यायमूर्ति दास ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि व्यवहार में कोई भी शिक्षण संस्था बिना राज्य की आर्थिक सहायता के आज की परिस्थिति में चल नहीं सकती और यदि यह सहायता प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने अधिकारों का बलिदान करना पड़े तो आर्थिक कठिनाइयों से मजबूर होकर उन्हें अपना यह अधिकार त्यागना पड़ेगा। न्यायमूर्ति मैथ्यू ने सैंट जेवियर कॉलेज के मामले में न्यायमूर्ति दास की इस बात का हवाला देते हुए कहा है कि आर्थिक सहायता इन संस्थाओं की अनिवार्य आवश्यकता है। नियुक्तियों के संबंध में भी यह स्पष्ट है कि प्रबंध समिति को यह अधिकार है कि प्रिंसीपल और प्रधानाध्यापकों आदि की नियुक्ति करते समय वे जाँच करें कि उनका दृष्टिकोण और मान्यताएं क्या हैं?

आर्थिक सहायता

यह सर्वविदित है कि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में अधिकांश विद्यार्थी मध्यम और उससे भी निचली श्रेणी के परिवारों से आते हैं। उनके कन्या विद्यालयों में लड़कियों को और प्रायः सब विद्यालयों में तथाकथित हरिजनों

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों को उनमें प्रवेश आदि की विशेष सुविधा है। परिणामस्वरूप इन संस्थाओं को शुल्क आदि से जो आय होती है वह इतनी कम है कि सरकारी सहायता के बिना वह अपना व्यय पूरा नहीं कर सकती। ईसाई शिक्षण संस्थाओं की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। जैसा हम जानते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा के आकर्षण के कारण अधिकांश धनी और उच्च वर्ग के लोग अपने बच्चों को उन संस्थाओं में भेजते हैं और उनके द्वारा मांगी गई बड़ी से बड़ी फीस की रकम उन्हें देते हैं। यहाँ तक कि छोटे बच्चों के स्कूलों में बड़ी फीस के अतिरिक्त हजारों रुपये प्रति छात्र प्रवेश शुल्क आदि के नाम से उन्हें प्राप्त होते हैं। वस्तुतः ऐसी अनेक अंग्रेजी माध्यम की ईसाई शिक्षण संस्थाएँ हैं जो स्वतंत्रता के बाद स्थापित की गई हैं और वे इसीलिए स्वेच्छा से सरकारी अनुदान लेना नहीं चाहतीं क्योंकि अनुदान के साथ फीस की निर्धारित रकम की शर्त आर्थिक दृष्टि से उनके लिए लाभ के बजाय हानिकारक है। उनकी फीस की आय सरकार द्वारा शत प्रतिशत दी जाने वाली आय से भी कहीं अधिक होती है बल्कि मैं कुछ ऐसी मिशनरी संस्थाएं जानता हूं जो अपने शिक्षण शुल्क में से बड़ी राशि बचा कर उसे ईसाई मिशनरियों और पादरियों द्वारा धर्म प्रचार के लिए और अपना साहित्य प्रकाशन करने में व्यय करती हैं।

किन्तु दूसरी ओर आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के सामने हमेशा आर्थिक कठिनाइयाँ बनी रहती हैं। वे सरकारी अनुदान के बिना नहीं चल पातीं। एक समय था कि ये आर्य शिक्षण संस्थाएं केवल उनके संचालकों और अध्यापकों के त्याग पर चलती थीं और विदेशी सरकार द्वारा अनुदान दिए जाने को स्वेच्छा से ठुकरा देती थीं जैसा लाला लाजपत राय जी ने डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर के सम्बंध में कहा है। डी. ए. वी. कॉलेज लाहौर के प्रसिद्ध प्रिंसीपल महात्मा हंसराज भी केवल 70रुपये मासिक पर कार्य करते थे। उनके अतिरिक्त लाला सांईदास, प्रिंसीपल दीवानचन्द आदि अनेक ऐसे प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हुए हैं जो डी.ए.वी. संस्थाओं के आजीवन सदस्य होते थे। वे निर्धारित वेतन से कम वेतन, जितना उनके निर्वाह मात्र के लिए चाहिए था ही लेते थे। दुर्भाग्य से यह सब स्थिति अब बदल

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
गई है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि विदेशी राज्य में जिन कारणों के आधार पर आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं ने सरकारी सहायता लेना अस्वीकार किया था वे कारण अब नहीं रहे। उस समय हिन्दी, संस्कृत के अध्ययन, धार्मिक और देशभक्तिपूर्ण वातावरण को इन संस्थाओं में तभी बनाये रखा जा सकता था जब अनुदान के साथ लगे सरकारी नियंत्रण से वे मुक्त रखी जायें। स्वतन्त्रता के बाद अपनी सरकार से इन क्षेत्रों में बाधा उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं है। इसलिए अपनी सरकार से अनुदान प्राप्त करने में कोई सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं है, बल्कि इन संस्थाओं का अब यह अधिकार है। उन्होंने समाज सुधार तथा राजनैतिक जागृति के कार्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग देकर देशभक्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसके कारण उनकी गिनती स्वतन्त्रता सेनानियों की श्रेणी में होनी चाहिए, जिन्हें आर्थिक सहायता देना सरकार अपना नैतिक कर्त्तव्य समझती है, किन्तु दूसरी ओर स्वराज्य के बाद अपनी सरकार और विश्वविद्यालयों द्वारा इन शिक्षण संस्थाओं के आन्तरिक प्रबन्ध में अधिक से अधिक नियन्त्रण करने की जो प्रवृत्ति बढ़ रही है वह कम दुर्भाग्यपूर्ण नहीं है। विशेषकर इसलिए कि उसके पीछे सत्ताधारी दल और उसके नेताओं का स्वार्थ काम करता है न कि इन संस्थाओं को व्यवस्थित रखने की भावना। इसमें संदेह नहीं कि अनेक गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं में आर्थिक और प्रबन्ध सम्बन्धी अनियमितताएं हो सकती हैं किन्तु उस प्रकार की अनियमितताएं सरकारी संस्थाओं में भी होती हैं जबकि आर्यसमाज की पुरानी और प्रसिद्ध संस्थाओं में वे नहीं हैं। दूसरी ओर जो गैर सरकारी शिक्षण संस्थाएं स्वतन्त्रता के बाद राजनीतिक दलों के नेताओं द्वारा या उनके पक्ष और सम्बन्धियों द्वारा केवल अनुदान प्राप्त करने के लिए स्थापित की गई हैं उनमें ही सबसे अधिक अनियमितताऐं देखने को मिलती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि उनकी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न तक नहीं होता क्योंकि उनके पीछे राजनैतिक प्रभाव और समर्थन है। चाहे जो हो किसी प्रकार की अव्यवस्था या बुराई को दूर करने के लिये किए जाने वाला हस्तक्षेप उचित ही नहीं अनिवार्य कहा जा सकता है किन्तु
CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इस बहाने से प्रसिद्ध और सुव्यवस्थित गैर सरकारी शिक्षण संस्थाओं में व्यक्तिगत या राजनैतिक उद्देश्य से नियंत्रण करने के लिए किया जाने वाला हस्तक्षेप सर्वथा निन्दनीय है। इस प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त रहने के लिए आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को वह अधिकार प्राप्त होना चाहिये जो धारा 30 में अन्य ऐसी संस्थाओं को प्राप्त है। बहरहाल अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाओं में भी उस प्रकार की अनियमितताओं की सम्भावना है जिस प्रकार की हिन्दुओं या आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में हो सकती हैं। उसके उपरान्त भी यदि वे इस धारा के आधार पर हस्तक्षेप से मुक्त रह सकती हैं तो आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के बारे में ऐसा न करना स्पष्ट रूप से पक्षपात का सूचक है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज की इन शिक्षण संस्थाओं के सामने आज भी बड़ा धर्म संकट यह है कि यदि वे इस प्रकार के भेदभावपूर्ण सरकारी हस्तक्षेप को स्वीकार करती हैं तो वे अपनी प्रसिद्ध विशेषताओं और उपयोगिताओं को बनाये नहीं रख सकतीं और न ही उन उद्देश्यों को पूरा कर सकती हैं जिनके लिये उनकी स्थापना की गई थी। दूसरी ओर यदि वे इस प्रकार के अनुचित हस्तक्षेप और नियंत्रण का विरोध करती हैं तो अनुदान अथवा मान्यता के अभाव में उनका अस्तित्व तक खतरे में पड़ सकता है। स्वतन्त्र भारत में जिन शिक्षण संस्थाओं ने देश की सामाजिक और राजनैतिक चेतना में सक्रिय योगदान दिया और अनेक प्रकार का त्याग किया उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार बड़े खेद की बात है और वह भी इस आधार पर चूंकि उन्होंने विदेशी राज्य में देश और राष्ट्र विरोधी कोई विशेष अधिकार नहीं मांगे जिनको आधार मानकर आज उन अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों की संस्थाओं को विशेष सुविधाएं दी जा रहीं हैं। फलतः देहली उच्च न्यायालय ने इन्हीं विशेष राजनैतिक अधिकारों के न होने के कारण आर्यसमाज को धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यक मानना अस्वीकार कर दिया।

⊙ ⊙

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय–19

धारा तीस का अनपेक्षित परिणाम

जैसा हम पूर्व अध्याय में बता चुके हैं कि गत 35 वर्षों में संविधान की इस धारा—30 का व्यवहार में जो अर्थ किया गया है उसके कारण अनेक ऐसे परिणाम उत्पन्न हो गए हैं जिनकी किसी को अपेक्षा नहीं थी। इस धारा का मुख्य उद्देश्य तो इतना ही था कि अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित किया जाये किन्तु दुर्भाग्य से परिणाम यह निकला कि इस धारा के कारण बहुमत के हिन्दुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार से वंचित होना पड़ रहा है। इतना ही नहीं धर्मनिरपेक्षता के हमारे आदर्श को भी इस से हानि हुई क्योंकि भारत जैसे अनेक धर्मों के देश में धर्म-निरपेक्षता का अर्थ सर्वधर्मसापेक्ष समझा जाने लगा, वास्तविक धर्मनिरपेक्षता का तो अर्थ यह है कि राज्य का किसी भी धर्म के प्रति पक्षपात नहीं होना चाहिये चाहे वह अल्पसंख्यों का धर्म हो या बहुसंख्यकों का।

इस धारा की पृष्ठभूमि

संविधान की वर्तमान धारा 30 के इतिहास के संबंध में हम पूर्व अध्याय में कुछ तथ्य बता चुके हैं। वस्तुतः उसका प्रारम्भ अल्पसंख्यकों की इस मांग से हुआ था कि उन्हें अपनी धार्मिक और शैक्षणिक संस्थाएं खोलने और चलाने की स्वतन्त्रता होनी चाहिये, जिनका व्यय वे स्वयं उठाने को तैयार थे। अर्थात् वे केवल यह चाहते थे कि यदि वे स्वयं अपने खर्च से इस प्रकार की संस्थायें खोलना चाहें तो उसमें कोई बाधा न उत्पन्न की जाये। इस धारा का मसौदा के. एम. मुंशी द्वारा प्रस्तुत किया गया था और उन्होंने भी यह बात स्वीकार की है। शिवाराव द्वारा भारतीय संविधान

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
पर लिखी पुस्तक के पृष्ठ 66 पर भी इस बात का उल्लेख है। संविधान सभा के एक अन्य प्रमुख सदस्य के. टी. शाह ने भी यह कह कर इस मांग का समर्थन किया था कि यूरोप में जो ऐसे अल्पसंख्यक हैं उन्हें इसी प्रकार का अधिकार प्राप्त है। एक अन्य सदस्य संथानम् ने भी अल्पसंख्यकों द्वारा अपने व्यय पर शिक्षण संस्थाएं खोलने के अधिकार का ही समर्थन किया था।

यू. एस. ए. तथा कनाडा

आज भी यू.एस.ए. अर्थात् उत्तरी अमेरिका और कनाडा जैसे ईसाई बहुसंख्यक देशों तक में ईसाई सम्प्रदायों द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं को वहाँ कि सरकारें कोई अनुदान नहीं देतीं जब कि हमारे संविधान की इस धारा 30 की उपधारा 2 द्वारा यह घोषणा की गई है कि सरकार इस प्रकार की धार्मिक अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने से इंकार नहीं कर सकती। दूसरे शब्दों में उन्हें न केवल ऐसी संस्थाएं खोलने का ही अधिकार दिया गया है बल्कि उनके लिए सरकारी सहायता प्राप्त करने का अधिकार भी दिया गया है जो उन्होंने मांगा तक नहीं था।

शिक्षा द्वारा धर्मप्रचार

इसमें संदेह नहीं कि हमारे संविधान की धारा 28 की उपधारा 3 में कहा गया है कि अन्य धर्मों के विद्यार्थियों को उनकी इच्छा के बिना इन शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा नहीं दी जायेगी किन्तु व्यवहार में यह नियंत्रण सर्वथा प्रभावहीन सिद्ध हुआ है। यह सर्वविदित है कि स्वतन्त्रता के बाद अंग्रेजी शिक्षा का आकर्षण इतना बढ़ गया है कि जिन जातियों और परिवारों में कभी कोई अंग्रेजी शिक्षित व्यक्ति नहीं था वह भी अपने बच्चों को अंग्रेजी माध्यम की शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश दिलाने के लिये उत्सुक है। इसका मुख्य कारण तो यही है कि आज भी सरकारी नौकरियों तथा अन्य उच्च पदों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य समझा जाता है। इसलिये अंग्रेजी की इन ईसाई शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश के लिए इतनी भीड़ रहती है कि कोई अभिभावक उनमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दी जाने वाली धर्म शिक्षा का विरोध नहीं कर सकता। वस्तुतः जैसा न्यायमूर्ति द्विवेदी ने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

कहा कि स्वयं पोप का यह आदेश है कि इन शिक्षण संस्थाओं का सारा वातावरण ईसाई धर्म के अनुकूल होना चाहिये, न्यायमूर्ति मैथ्यू ने इसी निर्णय में स्पष्ट कहा है कि ये शिक्षण संस्थाएं इसीलिये संचालित की जाती हैं कि उनके द्वारा उनके धर्म का प्रचार हो। इन शिक्षण संस्थाओं द्वारा अन्य धर्म के छात्रों में भी अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार इस धारा में निहित है, यह बात उच्चतम न्यायालय के सेंट जेवियर कॉलेज अहमदाबाद सम्बंधी प्रसिद्ध निर्णय से स्पष्ट होती है। यह निर्णय 1974 के ए. आई. आर. के पृष्ठ 1389 पर देखा जा सकता है। नैतिक शिक्षा के नाम पर ईसाई स्कूलों में जो पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं उनमें स्पष्ट रूप से ईसाई धर्म की मान्यताओं का उल्लेख होता है जो परम्परागत हिन्दू धर्म के अनेक विश्वासों के विरुद्ध है, उदाहरण के लिए पापों के क्षमा के लिये ईसा मसीह पर विश्वास और ईश्वर के पुत्र के रूप में उनकी मध्यस्थता की अनिवार्यता।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई वातावरण

वैसे भी इन संस्थाओं का सारा वातावरण ईसाई धर्म से ओत-प्रोत होता है जैसा पोप ने भी स्वीकार किया है। उनके आचार्य और मुख्याध्यापकमु ख्याध्यापिकाएँ न केवल ईसाई ही होती हैं अपितु वे धर्म प्रचारक के वेश में रहती हैं जो पादरियों और प्रचारिकाओं के लिए निर्धारित है। इनमें से अधिकांश संस्थाओं में ईसाई चर्च के भवन और प्रांगण में ईसा मसीह या मदर मेरी की मूर्ति और क्रॉस अनिवार्य रूप से देखे जा सकते हैं। इस प्रकार सारा वातावरण ईसाइयत से परिपूर्ण होता है जिसका प्रभाव बच्चों के संवेदनशील मन पर हुए बिना नहीं रह सकता इस बात का प्रमाण शिक्षित हिन्दू परिवारों के वे बच्चे हैं जो घर पर सिर तथा कंधों पर हाथ लगाकर क्रॉस को चित्रित करते हैं और सोते समय इसी प्रकार प्रार्थना करते हैं। इन संस्थाओं के 90 प्रतिशत से भी अधिक विद्यार्थी गैर ईसाइ और अधिकांश में हिन्दू होते हैं। हिन्दू धर्म की उदारता या सर्वधर्म समानता की उदारत भावना चाहे कितनी ही ऊंची हो उसका परिणाम यह होता है कि हिन्दू बच्चे जिन्हें अपने धर्म की शिक्षा घर में नहीं मिलती है और न स्कूलों में, वे इन ईसाई शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से अहिन्दू विचारों को ग्रहण करने लगते हैं इतना ही नहीं इस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पर चिन्ता व्यक्त करने के बजाय हम इसे आधुनिक या प्रगतिशील विचारों का
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
प्रतीक मानते हैं।

हिन्दू वंचित क्यों ?

अहिन्दू संस्थाओं को जहाँ यह सुविधा प्राप्त है वहां जैसा देहली उच्च न्यायालय ने अपने आर्यसमाज सम्बंधी निर्णय में कहा है, हिन्दू या उनके किसी सम्प्रदाय द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 के अन्तर्गत दिए गए विशेष अधिकार प्राप्त नहीं हो सकते। दूसरे शब्दों में किसी हिन्दू संगठन या संस्था को ये अधिकार नहीं हैं कि वह अपनी इच्छा या कल्पना की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करके उसके लिए अधिकारपूर्वक सरकारी मान्यता या अनुदान प्राप्त करने की मांग कर सके। इतना ही नहीं वह अपने स्वधर्मी बच्चों तक को उनके धर्म की उस प्रकार शिक्षा नहीं दे सकता जैसा अल्पसंख्यकों की संस्थाओं में दी जाती है। यदि उन्हें मान्यता या सरकारी सहायता चाहिए तो उन्हें वे सब बन्धन और नियंत्रण स्वीकार करने पड़ेंगे जिन में इस प्रकार के अधिकारों या सुविधाओं के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यदि वे इन शर्तों को स्वीकार न करें, जिनसे गैर हिन्दू शिक्षण संस्थाएं मुक्त हैं, तो उनकी मान्यता और अनुदान दोनों ही बन्द किए जा सकते हैं। ये हिन्दू संस्थाएं एक बार विना सरकारी सहायता के चल भी सकती हैं किन्तु विना सरकार, विश्वविद्यालय या बोर्डों द्वारा मान्यता प्राप्त किये वे निरर्थक हो जाती हैं। अमान्य शिक्षण संस्थाओं के विद्यार्थिओं का कोई भविष्य नहीं है, न उन्हें उच्च शिक्षा के लिए महाविद्यालयों में प्रवेश मिल सकता है और न ही नौकरियों आदि के लिए उनकी पदवियां स्वीकार की जा सकती हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांश हिन्दू संस्थाएं मध्यम वर्ग के लोगों की होती हैं जिनमें वे बच्चों से अधिक फीस भी वसूल नहीं कर सकते, जिसके द्वारा वे मिशन स्कूलों के समान अपनी संस्थाओं को स्वावलम्बी बना सकें। इसलिए उन्हें अपने अस्तित्व तक के लिए सरकारी सहायता प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है और बदले में अपनी स्वतन्त्रता का बलिदान करना पड़ता है। देश में जो पब्लिक स्कूल नामक संस्थाएं हैं वे गैर सरकारी होने पर भी केवल

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उच्च वर्ग के तथा धनी व्यक्तियों के लिए है। जिनमें होने वाला व्यय प्रति छात्र हजार रुपये मासिक तक होता है। ये संस्थाएं गरीब तो दूर मध्यम वर्ग की पहुँच से भी परे हैं। किन्तु अन्य ईसाई शिक्षण संस्थाएं इन पब्लिक स्कूलों का मुकावला आसानी से कर सकती हैं। क्योंकि उनमें भी उच्च वर्ग के हिन्दू वच्चों द्वारा फीस की पर्याप्त आय होती है। उच्च वर्ग के ये अभिभावक अपने वच्चों के अच्छे भविष्य के लिए ये व्यय वर्दास्त करते हैं। व्यय के अतिरिक्त वे उस सांस्कृतिक और धार्मिक वातावरण को भी सहन या पसन्द करते हैं जो इन संस्थाओं में उनके वच्चों को मिलता है। यद्यपि संविधान द्वारा अल्पसंख्यकों की इन संस्थाओं को सरकारी अनुदान प्राप्त करने का अधिकार है फिर भी उनमें से अनेक उसे स्वेच्छा से लेना अस्वीकार करती हैं क्योंकि अनुदान से कहीं अधिक आय उन्हें वैसे ही प्राप्त होती है और साथ ही वे अनुदान से सम्बन्धित प्रत्येक बन्धन से मुक्त होकर इन संस्थाओं को अपने धर्मप्रचार का प्रभावकारी माध्यम बना सकती हैं।

शिकायत नहीं, न्याय

यह सब लिखने का हमारा उद्देश्य अल्पसंख्यकों को दोष देना अथवा उन्हें दिए गए विशेष अधिकारों या सुविधाओं का विरोध करना नहीं है। वस्तुतः इसके लिए वे स्वयं दोषी हैं भी नहीं क्योंकि इस धारा का व्यवहार में जो परिणाम निकला है उसकी संभवतः उन्हें भी स्वयं अपेक्षा नहीं थी। उदाहरण के लिए वे चाहें तो भी अन्य धर्मों के बच्चों को अपनी शिक्षण संस्थाओं में लेने से इंकार नहीं कर सकते हैं क्योंकि संविधान की धारा 29 की उपधारा—2 में ऐसा करने का निषेध है। यह धारा नहीं भी होती तो भी वे अन्य धर्मावलम्बियों को प्रवेश न देने की नीति नहीं अपनाते। वस्तुतः उनके लिए वहुसंख्यक लोगों का प्रवेश एक वरदान है उसके द्वारा न केवल उन्हें आर्थिक लाभ होता है बल्कि साथ ही उन्हें अन्य धर्मावलम्बियों के बच्चों में अपने धर्मप्रचार का अवसर भी मिलता है।

यदि धारा 30 में दिए गए अधिकार केवल अपने वच्चों को धार्मिक शिक्षा देने के लिए शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने तक सीमित होते जैसा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

उसका प्रारम्भिक उद्देश्य प्रतीत होता है, तो ये अनपेक्षित परिणाम नहीं
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
निकलते और उस स्थिति में हिन्दुओं के किसी वर्ग और सम्प्रदाय को भी ऐसी शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार होता है। किन्तु धारा 30 को न्यायालयों के निर्णयों ने इतना व्यापक बना दिया है कि उसके अन्तर्गत अब अल्पसंख्यक अहिन्दू, साधारण गैर धार्मिक शिक्षण संस्थाएं भी स्थापित करके उनका उपयोग अपने धर्मप्रचार के लिए और वह भी दूसरे धर्मावलम्बियों के बच्चों में प्रचार करने के लिए कर सकते हैं। इन शिक्षण संस्थाओं का आर्थिक भार भी सरकार पर है। इस प्रकार धारा 30 का व्यवहार में जो उपयोग किया जा रहा है उसके संदर्भ में यह आवश्यक है कि हिन्दू भी अपनी धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए इस प्रकार के समान अधिकार की मांग करें ताकि संविधान के अन्तर्गत उन्हें भी अपनी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करने और उनके संचालन करने का उतना ही और वैसा ही अधिकार प्राप्त हो जैसा ईसाई और मुस्लिम समुदायों को है।

बहुसंख्यकों का अधिकार

संविधान की धारा 25 में धर्म प्रसार की दी गई स्वतन्त्रता और धारा 26 में उसके लिए धार्मिक और दातव्य संस्थाओं की स्थापना करने सम्बन्धी अधिकार का धारा 29 और 30 में दिये गये अधिकारों से क्या सम्बन्ध है यह बताते हुए न्यायमूर्ति श्री खन्ना ने निर्णय के अनुभाग 73 में कहा है कि यद्यपि धारा 29 के शीर्षक में अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग किया गया है फिर भी वे अधिकार अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों को प्राप्त हैं। अनुभाग 74 में वे इस मत से सहमत हैं कि प्रबंधकों को इन धाराओं में स्थापित संस्थाओं को अपनी मान्यता के अनुसार चलाने का अधिकार है। आगे वे कहते हैं कि धारा 25 से 30 तक कि सब धाराओं का उद्देश्य धार्मिक विश्वासों और उनके प्रचार के लिए समान मौलिक अधिकार देना है।

न्यायमूर्ति खन्ना के इस विवेचन के बाद यह स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि बहुसंख्यक हिन्दुओं को इस प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता का

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

का लाभ कैसे मिल सकता है ? अल्पसंख्यकों को दिए गए इस
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विशेष अधिकार का समर्थन यह कह कर किया जाता है कि इसके बिना उन्हें यह डर बना रह सकता है कि बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता को दबाने या उसमें हस्तक्षेप करने का प्रयत्न कर सकते हैं, । किन्तु अल्पसंख्यकों के इस वास्तविक या काल्पनिक भय को दूर करने के लिए क्या यह आवश्यक और उचित है कि बहुसंख्यकों को अपनी इस प्रकार की धार्मिक स्वतन्त्रता से वंचित कर दिया जाये ? जैसा तथ्यों से स्पष्ट है कि धारा 30 का क्षेत्र अब केवल अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा अथवा उसमें हस्तक्षेप न होने देने तक सीमित नहीं है । उसके द्वारा इस भय का निराकरण करने के बजाय उन्हें इससे भी बढ़कर एक ऐसा विशेष अधिकार दिया गया है कि जिसके द्वारा वे सरकारी व्यय पर बहुसंख्यकों के बच्चों में भी अपने धर्म का प्रसार कर सके । गोआ उच्चतम न्यायालय ने सन् 1980 में अपने एक निर्णय में यहां तक कहा है कि इस प्रकार की 'असमानता' अल्पसंख्यकों को बहुमत के साथ 'समानता' देने के लिए आवश्यक है । यदि ऐसा नहीं किया जाता तो अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकों के अधिकार समान नहीं हो सकेंगे । इस प्रकार बहुसंख्यकों के अधिकारों पर कुछ नियंत्रण लगाना और उन्हें सीमित करना आवश्यक है ताकि अल्पसंख्यकों के अधिकार सुरक्षित रहें । इस तर्क का तो औचित्य तभी सिद्ध हो सकता है जब यह आरोप वास्तविक हो कि बहुसंख्यकों को कोई ऐसे अनियंत्रित अधिकार प्राप्त हैं कि जिनके द्वारा वे अल्पसंख्यकों के अधिकारों का हनन करने में सचमुच समर्थ हैं । किन्तु इस प्रकार का अधिकार बहुसंख्यकों को न है, न दिया गया है । वस्तुतः हिन्दू धार्मिक दृष्टि से बहुसंख्यक हैं भी नहीं, इसलिए केवल उनके तथाकथित राजनैतिक बहुमत के आधार पर वे धार्मिक क्षेत्र में इस प्रकार के एकाधिकार का उपयोग कर ही नहीं सकते । पुनः यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या बहुसंख्यकों के प्रति यह भेदभाव और उन पर लगाया गया यह नियंत्रण उचित और आवश्यक भी है या नहीं । जैसा स्पष्ट है कि धारा 30 द्वारा अल्पसंख्यकों को यह तथाकथित समानता देने के स्थान में बहुमत को ही इस मौलिक अधिकार से वंचित कर दिया गया है । अतः

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

वहुसंख्यकों को अल्पसंख्यकों के बराबर भी अधिकार नहीं रहा। इस प्रकार संमानता के स्थान में स्पष्ट रूप से असमानता स्थापित की गई।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तविक समस्या

इसलिए आज समस्या यह नहीं है कि अल्पसंख्यकों को धार्मिक क्षेत्र में समानता किस प्रकार दी जाये बल्कि समस्या यह हो गई है कि वहुसंख्यकों को कम से कम अल्पसंख्यकों के समान अधिकार किस प्रकार दिया जाये ? अनेक धर्मों, भाषाओं और सम्प्रदायों के हमारे देश में केवल गैर हिन्दुओं को इस प्रकार के विशेष अधिकार देने की कोई आवश्यकता भी नहीं थी। जैसा हम देख चुके हैं कि तथाकथित हिन्दू धर्म वास्तविक अर्थ में कोई धर्म है ही नहीं और यदि है भी तो वह संगठित धर्म नहीं है। इसलिए उसके अनुयायियों की संख्या कितनी ही क्यों न हो वह अल्पसंख्यकों के धार्मिक अधिकारों को चुनौती देने की स्थिति में नहीं है। इसके विपरीत जिन्हें धार्मिक अल्पसंख्यक कहा जाता है, वे धार्मिक दृष्टि से इतने संगठित हैं कि अनेक सम्प्रदायों और जातियों में विभक्त वहुसंख्यक हिन्दुओं का आसानी से मुकाबला कर सकते हैं और करते रहे हैं। दूसरी वात यह है कि स्वयं हिन्दू धर्म के अनुयायी यह मानते हैं कि वे सव धर्मों को समान समझते हैं और इसलिये अपनी इस उदारता या निर्वलता के कारण वे गैर हिन्दुओं को हिन्दू धर्म में दीक्षित करने में विश्वास नहीं रखते। आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन की असफलता से यह और भी स्पष्ट हो गया है कि यदि हिन्दुओं का कोई वर्ग ऐसा प्रयत्न भी करे तो वह उनकी धार्मिक विभिन्नताओं और जात-पांत के भेदों के कारण सफल नहीं हो सकता। धार्मिक एकता और संगठन के अभाव में यदि केवल संख्या की दृष्टि से हिन्दुओं को वहुमत प्राप्त है भी तो उसका उपयोग वे राजनैतिक या आर्थिक लाभ के लिए भले ही कर सकें, किन्तु धार्मिक लाभ या हस्तक्षेप करके अल्पसंख्यकों को पीड़ित करने के लिए नहीं कर सकेंगे। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के अनुभव से भी यही निष्कर्ष निकलता है। इतना ही नहीं इस तथाकथित वहुमत को धार्मिक क्षेत्र में स्वयं अल्पसंख्यकों के संगठित आक्रमण का असहाय शिकार होना पड़ता

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

है। भारत की जनगणना के आंकड़ों से इस बात की पुष्टि होती है।
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संख्या या राजनैतिक दृष्टि से बहुमत में होने पर भी हिन्दू धर्म के अनुयायियों की संख्या तुलनात्मक दृष्टि से बराबर कम होती जा रही है जबकि दूसरी ओर अल्पसंख्यक धर्म के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। यह वृद्धि केवल अधिक सन्तान उत्पन्न होने के कारण नहीं बल्कि हिन्दुओं की संख्या की कीमत पर हो रही है। दूसरे शब्दों में राज्य व्यवस्था उनके हाथ में होने पर भी हिन्दुओं का ही धर्मान्तरण मुसलमान और ईसाइयों में हो रहा है। गैर हिन्दुओं का हिन्दू धर्म में प्रवेश केवल नगण्य तथा अपवादमात्र है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का प्रभावहीन और अनाक्रामक हिन्दू धर्म, अपने बहुमत का उपयोग अन्य धर्मों पर आक्रमण करने के लिए तो दूर उनमें हस्तक्षेप करने तक के लिए नहीं कर सकता। वह अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भी इस बहुमत का उपयोग करने में समर्थ नहीं हैं फिर चाहे वह ऐसा करने का प्रयत्न भी क्यों न करें। अब भी हिन्दू केवल जन्म से ही हिन्दू होते हैं धर्मान्तरण से नहीं। उनकी इन सब धर्मों के प्रति आस्था की बात केवल मौखिक नहीं है, व्यवहार में भी हम देखते हैं कि अल्पसंख्यकों के धार्मिक स्थानों और उत्सवों में जिस निष्ठा से हिन्दू सम्मिलित होते हैं उसका विपरीत उदाहरण मिलना कठिन है। अजमेर की प्रसिद्ध दरगाह में अधिकांश सम्पन्न तीर्थयात्री आज भी हिन्दू हैं। मुस्लिम यात्रियों में बहुसंख्या फकीरों की होती है जो केवल अपनी जीविका के लिये एकत्रित होते हैं। दूसरी ओर अजमेर के निकट ही हिन्दुओं का प्रसिद्ध और सबसे बड़ा तीर्थ पुष्कर है। उसमें सैलानियों और व्यापारियों के अतिरिक्त शायद ही कोई गैर हिन्दू तीर्थयात्रा की दृष्टि से जाता है और यदि वह जाना भी चाहे तो तथाकथित उदार हिन्दू उन्हें अपने मंदिरों में आने भी नहीं देगा। आज भी पुष्कर का सबसे बड़ा व प्रसिद्ध रंगजी का मन्दिर ऐसा है कि जिसमें गैर हिन्दू तो दूर तथाकथित अछूत हिन्दू भी प्रवेश नहीं कर सकता। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि बहुसंख्या के आधार पर इस देश मेंआज हिन्दुओं का राज्य है ऐसा समझा जाता है, किन्तु इस राजनैतिक वर्चस्व के बाद भी सत्ताधारी हिन्दू तक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

जितनी अधिक संख्या में आज इन मुस्लिम तीर्थ स्थानों में जियारत या तीर्थ करने जाने लगे हैं उतना वे अपनी राजनीतिक पराधीनता के समय में भी नहीं जाते थे। राजनैतिक क्षेत्र में भी अल्पसंख्यकों के ये धार्मिक संगठन हिन्दू बहुसंख्या को निष्फल और निष्क्रिय करने में समर्थ हैं जिसका स्पष्ट प्रमाण इस तथ्य से मिलता है कि आज तक कोई विशुद्ध हिन्दू संगठन या राजनैतिक दल केन्द्र में तो दूर अधिकांश राज्यों तक में सत्ता में नहीं आ सका।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह सब विवेचन केवल यह सिद्ध करने के लिए किया जा रहा है कि जिस भय और आशंका के कारण धार्मिक अल्पसंख्यकों को अपनी स्वतन्त्र शिक्षण संस्थाओं का यह विशेष अधिकार दिया गया है वह सर्वथा निराधार है। इतना ही नहीं उपरोक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि यदि आज किसी की धार्मिक स्वतन्त्रता को खतरा है अथवा संरक्षण देने की आवश्यकता है तो वह तथाकथित बहुमत का हिन्दू धर्म है। OO

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय 20

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्म दानं विशिष्यते

आर्यसमाज के इस दावे को छोड़े बिना कि वह एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है जो हिन्दू धर्म से भिन्न और पृथक् है, हम एक ऐसे विकल्प पर भी विचार कर सकते हैं जिसके द्वारा संविधान की धारा 26 के अन्तर्गत भी उसके द्वारा शिक्षण संस्थाएं स्थापित की जा सकती हैं। इस प्रकार इस धारा के अंतर्गत भी आर्यसमाज को शिक्षण संस्थाओं की स्थापना और प्रबध के लिए वही अधिकार दिया जा सकता है जो धारा 30 में अन्य अल्पसंख्यकों को प्राप्त है। धारा 26 "धार्मिक विषयों में प्रबंध की स्वतन्त्रता" देती है। यह धारा इस प्रकार है :—

सार्वजनिक शान्ति, नैतिकता और सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं की शर्त पर प्रत्येक धार्मिक समूह या उसके किसी भाग को अधिकार प्राप्त होगा कि –

अ—वह धार्मिक और दान संबंधी उद्देश्य के लिए संस्थाएं स्थापित करे और उनको बनाये रखें।

ब—धार्मिक क्षेत्र में अपने मामलों का प्रबंध करे।

स—चल अचल सम्पत्ति प्राप्त कर कानून के अनुसार उसका प्रबंध करे।

शिक्षा का दान

उपरोक्त उप धारा (अ) एवं (ब) से स्पष्ट है कि किसी भी धार्मिक संगठन को यह अधिकार है कि वह धार्मिक और दातव्य उद्देश्यों के लिए संस्थाओं की स्थापना एवं उनके प्रबध करे और उनसब मामलों का प्रबंध करे जो उनके धर्म से संबन्धित है। दातव्य उद्देश्य की परिभाषा या व्याख्या राज्यों के रिलिजिस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
चेरिटेबल ट्रस्ट एक्टस अर्थात् धार्मिक न्यास कानूनों में की गई है; उस परिभाषा में शिक्षा भी सम्मिलित है। उच्चतम न्यायालय ने भी इस बात को स्वीकार किया है जैसा ए. आई. आर. 1963 सुप्रीम कोर्ट के पृष्ठ 540 में कहा गया है और जैसा हम पहले बता चुके हैं कि हमारे प्राचीन धर्मग्रन्थों में भी कहा गया है कि "सर्वेषामेवं दानानां ब्रह्म दानं विशिष्यते" अर्थात् सब प्रकार के दानों में विद्या का दान सबसे श्रेष्ठ दान है।

इस प्रकार दान की परिभाषा में शिक्षण संस्थाएं चाहे फिर वे साधारण गैर धार्मिक विषयों के लिए भी क्यों न हों, धारा 26 में स्थापित की जा सकती हैं। जहां एक ओर दान में शिक्षा समाहित है वहां दूसरी ओर उच्चतम न्यायालय ने भी यह स्वीकार किया है कि धारा 3. के अन्तर्गत स्थापित शिक्षण संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य धार्मिक शिक्षा देना है और ये शिक्षण संस्थाएं गैर धार्मिक शिक्षा देने में स्वतन्त्र हैं। 1958 और 1974 के सर्वोच्च न्यायालय के प्रसिद्ध निर्णयों में, जिनका हम हवाला पहले दे चुके हैं, यह स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार धारा 26 और धारा 30 दोनों का आधार धर्म है और जहां धारा 30 में शिक्षा का स्पष्ट उल्लेख है वहां धारा 26 में भी वह समाहित हैं क्योंकि शिक्षा धर्म और दान दोनों में सम्मिलित है। यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि धार्मिक मान्यताओं की रक्षा और प्रचार दोनों के लिए शिक्षण संस्थाएं आवश्यक हैं। यह बात भी 1958 के उच्चतम न्यायालय के निर्णय से स्पष्ट है। इस सबका यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षण संस्थाएं धारा 26-ए के अन्तर्गत भी स्थापित करने का अधिकार है।

यदि धर्म पर आधारित धारा 30 के अन्तर्गत गैर धार्मिक विषयों के लिए शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने से इस धारा 30 का विरोध नहीं होता है तो धारा 26 में धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा इसी प्रकार की संस्थाएं स्थापित करना धारा 26 की परिधि से बाहर या उसके विरुद्ध क्यों समझा जाये? दिल्ली उच्च न्यायालय का यह तर्क कि यदि इन दोनों धाराओं में ऐसी गैर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
धार्मिक शिक्षण संस्था स्थापित की जाय तो धारा 30 अनावश्यक हो जायेगी सही नहीं है, क्योंकि अन्य धाराओं में भी यह पुनरावृत्ति मौजूद है। उदाहरण के लिए धारा 29 और 30 के सम्बंध में भी यही आक्षेप किया जा सकता है क्योंकि उन दोनों ही में अल्पसंख्यकों को शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने का एक ही अधिकार समान रूप से दिया गया है। इतना ही नहीं भाषायी अल्पमत के एक ही आधार पर धारा 29 और 30 दोनों में शिक्षण संस्थाएं स्थापित की जा सकती हैं। इस प्रकार भाषा का आधार दोनों में समान है फिर भी धारा 29 अनावश्यक नहीं समझी जाती। धारा 29 में भाषा के साथ लिपि का एक अतिरिक्त उल्लेख है किन्तु न्यायालयों के निर्णयों के परिणामस्वरूप लिपि पृथक् न भी हो तो भी केवल भाषा की पृथक्ता के आधार पर धारा 29 में शिक्षण संस्थाओं की स्थापना हो सकती है। उदाहरण के लिए मराठी और हिन्दी दोनों की लिपि एक है किन्तु अल्पसंख्यक मराठी भाषा-भाषी हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर सकते हैं और उन्हें यह अधिकार धारा 29 तथा 30 दोनों में प्राप्त है। दूसरी ओर केवल लिपि के भेद के आधार पर भी धारा 29 के अन्तर्गत भाषायी अल्पसंख्यक अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एक ही पंजाबी भाषा गुरुमुखी और उर्दू अथवा नागरी लिपि में लिखी जा सकती है और इस प्रकार नागरी लिपि में पंजाबी लिखने वाले महाराष्ट्र में अल्पसंख्यक हो सकते हैं और गुरुमुखी लिपि में पंजाबी की शिक्षा देने के लिए हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में पृथक् संस्थाएं स्थापित की जा सकती हैं। पंजाबी और उर्दू दोनों के लिए अरबी लिपि का प्रयोग होता है किन्तु इस लिपि में लिखी हुई उर्दू या हिन्दुस्तानी और हिन्दी पृथक् भी है और एक भी हैं और ऐसी समझी भी जाती हैं। धारा 29 में लिपि के अतिरिक्त एक अन्य बात का भी उल्लेख है और वह है संस्कृति। संस्कृति इतना व्यापक शब्द है कि उसमें भाषा और धर्म दोनों का समावेश हो सकता है और इस आधार पर भी धारा 29 और 30 दोनो एक ही उद्देश्य को पूरा करती हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धारा 26 और धारा 30 के संबंध में जिस वास्तविक या काल्पनिक कठिनाइयों के आधार पर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
देहली उच्च न्यायालय ने धारा 26 में आर्यसमाज द्वारा शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की मांग को अस्वीकार किया था वही प्रश्न या कठिनाई धारा 29 और 30 के सम्बंध में भी उठाई जा सकती है। ऐसी स्थिति में इस तथाकथित समस्या के उपरान्त भी यदि धारा 29 और 30 दोनों में से किसी में भी शिक्षण संस्थाएं स्थापित करना संभव है तो धारा 26 और 30 इन दोनों में भी इस प्रकार की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने के विरुद्ध दिया गया यह तर्क निराधार है और धारा 30 में धार्मिक अल्पसंख्यकों को दिया गया अधिकार धारा 26 में धार्मिक समुदायों को भी दिया जा सकता है और दिया जाना चाहिए।

धारा 26 और 30 एक दूसरे की पूरक हैं

उपरोक्त विवेचन के अतिरिक्त यह बात विचारणीय है कि धारा 26 और धारा 30 एक दूसरे की पूरक हैं। उनमें दो विभिन्न प्रकार के धार्मिक समुदायों को शिक्षण संस्था स्थापित करने का अधिकार दिया गया है। धारा 30 में केवल धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यक आते हैं जब कि धारा 26 के अन्तर्गत वे धार्मिक समुदाय आते हैं जो हिन्दू होने पर भी धार्मिक दृष्टि से अल्पमत में हैं। इस तरह से इन दोनों धाराओं में न कोई विरोध है और न ही कोई पुनरावृत्ति। इस प्रकार का एक और भी उदाहरण संविधान में है जो इस अन्तर की पुष्टि करता है। धारा 29 के अन्तर्गत भाषा संस्कृति आदि पर आधारित अल्पसंख्यकों को जो अधिकार दिये गये हैं वह किसी भी वर्ग के हो सकते हैं अर्थात् वे हिन्दू समाज के अंग भी हो सकते हैं और वास्तव में अधिकांश भाषायी अल्पसंख्यक धार्मिक दृष्टि से हिन्दू ही है और फिर भी धारा 29 के अन्तर्गत भाषायी अल्पसंख्यक स्वीकार किये गये हैं। भाषायी विभिन्नता के आधार पर ठीक यही अधिकार पुनः धारा 30 के अन्तर्गत भी दिया गया है जो केवल गैर हिन्दू अल्पसंख्यकों के लिए ही आरक्षण देने वाली धारा समझी जाती है। इससे स्पष्ट है कि धारा 30 में अल्पसंख्यकों की जो परिभाषा है उसमें बहुसंख्यक हिन्दुओं का भाषायी अल्पमत का वर्ग भी आता है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
इसलिए यह तर्क कि धारा 30 केवल गैर हिन्दू अल्पसंख्यकों के लिए निर्धारित है, सही नहीं है।

दूसरी निराधार आपत्ति

देहली उच्च न्यायालय ने इस आधार पर भी धारा 30 को धारा 26 के विरुद्ध सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जहाँ धारा 30 में दिया गया अधिकार अनियंत्रित है वहाँ धारा 26 और 29 में प्राप्त अधिकारों पर कुछ नियंत्रण है। यह बात भी सही नहीं है। पहले तो कोई भी अधिकार सर्वथा अनियन्त्रित हो ही नहीं सकता। तथाकथित धारा 30 तथा अन्य धाराओं में नियंत्रण की मात्रा में अन्तर भले ही हो, फिर भी धारा 30 को नियंत्रण से सर्वथा मुक्त समझना गलत है। धारा 30 पर पहला नियंत्रण तो धारा 29 की उपधारा 2 द्वारा ही स्पष्ट है जिसमें यह कहा गया है कि धारा 30 में संस्थापित संस्थाओं में विद्यार्थियों के प्रवेश के बारे में धर्म जाति आदि का कोई बन्धन नहीं होगा। इस प्रकार धारा 30 में स्थापित संस्था एक धर्म की होने पर भी उसमें अन्य धर्मों के विद्यार्थियों को प्रवेश देने से इंकार नहीं किया जा सकता। धारा 30 पर दूसरा नियंत्रण धारा 28 द्वारा लगाया गया है, जिसके अनुसार धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं में दूसरे धर्म के विद्यार्थियों को बिना उनकी मर्जी के धार्मिक शिक्षा नहीं दी जा सकती। इन दो संविधानिक नियंत्रणों के अतिरिक्त धारा 30 में स्थापित संस्थाओं पर विश्वविद्यालय द्वारा मान्यता और सरकार द्वारा अनुदान प्राप्त करने के लिए शर्तें लगाई जाती हैं जो इन संस्थाओं के अधिकार को एक सीमा तक नियंत्रित करती हैं जैसा उच्चतम न्यायालय के अनेक निर्णयों से स्पष्ट है। यद्यपि विश्वविद्यालय और राज्य सरकार द्वारा लगाई गई ये शर्तें नियामक होनी चाहिए, ऐसी नहीं कि जिनके कारण इन संस्थाओं को दी गई प्रबंध सम्बंधी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाय यह सही होने पर भी उनसे यह कथन तो असत्य सिद्ध हो जाता है कि धारा 30 नियन्त्रण से सर्वथा मुक्त है।

वस्तुतः धारा 30 में स्थापित संस्थाओं को केवल 3 विशेष अधिकार दिए गये हैं। एक तो उनकी प्रबंध समितियों के निर्माण का और दूसरा उनमें की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वाली नियुक्तियों के बारे में बशर्ते कि वे निर्धारित योग्यता के प्रतिकूल न हो और तीसरा उनमें सेवारत अध्यापकों आदि के संबंध में अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की स्वतन्त्रता है बशर्ते कि वह भी प्राकृतिक न्याय के प्रतिकूल न हो। इस प्रकार धारा 26 और 30 में इस आधार पर भेद नहीं किया जा सकता कि धारा 30 में दिया गया अधिकार अनियन्त्रित है और 26 में दिये गये अधिकार पर नियंत्रण है। वस्तुत: धारा 26 में भी उपरोक्त तीनों प्रकार के विशेष अधिकारों को सम्मिलित किया जा सकता है जो धारा 30 द्वारा दिये गये हैं। धारा 26 की उपधारा (स) में केवल सम्पत्ति के प्रबंध के बारे में यह शर्त है कि वह इस सम्बंध में बने कानून के अनुसार किया जाये। किन्तु संस्थाओं की स्थापना और उसके प्रबंध के सम्बन्ध में कोई शर्त या बंधन नहीं है। इस दृष्टि से भी इस धारा और धारा 30 में कोई अंतर नहीं है। वस्तुत: उसकी भाषा का विवेचन करने से तो यह स्पष्ट होता है कि एक प्रकार से धारा 26 में जिस स्वतन्त्रता की कल्पना की गई है वह धारा 30 की शब्दावली से प्रकट नहीं होती। धारा 26 में Managing its own affairs अर्थात् अपने मामलों का प्रबंध स्वयं करना लिखा है। Manage और धारा 30 में उल्लेखित Administer में कोई अन्तर नहीं है किन्तु जहाँ धारा 26 में "मैनेजर अर्थात् एडमिनिस्टर" इच्छानुसार करने का स्पष्ट संकेत है। वहाँ धारा 30 में च्वायस (Choice) या इच्छा शब्द इन्स्टीच्यूशंस अर्थात् संस्थाओं का विशेषण है एडमिनिस्ट्रेशन या प्रबंध का नहीं। अर्थात् धारा 30 में यह नहीं लिखा हैं कि अल्पसंख्यक अपनी इच्छानुसार संस्थाओं का प्रबन्ध करेंगे बल्कि यह लिखा है कि वे इच्छानुसार संस्थाओं की स्थापना कर सकेंगे। जबकि धारा 26 में यह स्वतन्त्रता मेनेज अर्थात् एडमिनिस्ट्रेशन के लिए दी गई है। दूसरे शब्दों में धारा 30 के अनुसार अल्पसंख्यकों को केवल इस बात की स्वतन्त्रता है कि यदि वे चाहें तो धार्मिक शिक्षा के लिए संस्थाओं की स्थापना करें और यदि वे चाहें तो अन्य विषयों के लिए भी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना कर सकते हैं। दूसरी ओर धारा 26 की उपधारा (अ) में धारा 30 का यह अधिकार तो है ही कि धार्मिक समुदाय धार्मिक और दातव्य अर्थात् शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना करने में स्वतन्त्र हैं

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
किन्तु उसके अतिरिक्त उपधारा (ब) में उनके प्रबंध की स्वतन्त्रता पृथक् रूप से दी गई है जिसका धारा 30 में अभाव है। ऐसी स्थिति में यह कहना सही होगा कि धारा 26 में शिक्षण संस्थाओं के प्रबंध के लिए यह अधिकार स्पष्ट रूप से उपलब्ध है। जबकि धारा 30 में यह अधिकार धारा की भाषा से नहीं अपितु न्यायालयों के निर्णयों से दिया गया है। यदि संविधान निर्माताओं की यह इच्छा होती तो वे धारा 30 में च्वायस (Choice) या मर्जी शब्द संस्थाओं के साथ न जोड़कर प्रबंध के साथ जोड़ते जैसा धारा 26 में किया गया है, इस शाब्दिक विवेचन के अतिरिक्त जो कानूनी दृष्टि से बड़ा महत्व का है यह भी स्पष्ट होता है कि संविधान बनाने वालों की इस प्रकार के शब्द का प्रयोग करने के पीछे क्या भावना रही होगी। आर्यसमाज को यदि धारा 30 में अल्पसंख्यक नहीं भी माना जाये तो कम से कम धारा 26 के अन्तर्गत वह एक धार्मिक संगठन या समुदाय है इससे इंकार नहीं किया जा सकता। अनेक निर्णयों में उसकी यह स्थिति स्वीकार भी की गई है। देहली उच्च न्यायालय के प्रतिकूल निर्णय में भी आर्यसमाज को धारा 26 के अन्तर्गत एक विशिष्ट धार्मिक समुदाय स्वीकार किया गया है किन्तु फिर भी शिक्षण संस्थाओं संबंधी उसके अधिकार को यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया है कि शिक्षण संस्थाओं की स्थापना धारा 26 का नहीं 30 का विषय है। देहली न्यायालय का यह मत कितना निराधार है यह हम देख चुके हैं। इस सम्बंध में यह भी स्मरण रखने की बात है कि धारा 30 में स्थापित शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश सम्बंधी प्रतिबन्ध धारा 29 की उपधारा 2 में दिये गये हैं न कि स्वयं धारा 30 में। अतः यही प्रतिबन्ध धारा 26 में स्थापित उन शिक्षण संस्थाओं पर भी लगाये जा सकते हैं जो सरकार से अनुदान प्राप्त करती हैं। धारा 29 की उपधारा 2 में अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं का नाम नही हैं इसलिए भी यह उपधारा धारा 26 के साथ भी संलग्न की जा सकती हैं। किन्तु यह तभी तर्कसंगत होगा जबकि धारा 26 में गैर धार्मिक विषयों के लिए शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की जाय।

क्योंकि केवल धार्मिक शिक्षण संस्थाओं में उस धर्म को जो लोग नहीं मानते हैं वे प्रवेश लेंगे ही नहीं इसलिए अन्य धर्मों के छात्रों को प्रवेश देने

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

का प्रश्न तभी उत्पन्न हो सकता है कि जब इस प्रकार की संस्था धारा 26 में
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
दूसरे गैर धार्मिक अर्थात् साधारण विषयों के लिए भी स्थापित की गई हों। दूसरे शब्दों में धारा 26 के अन्तर्गत भी इस प्रकार की गैर धार्मिक विषयों की संस्थाएं स्थापित की जा सकती हैं यह स्वीकार करने पर ही धारा 29 की उपधारा 2 को उससे सम्बन्धित करने का प्रश्न उठ सकता है। दूसरी ओर राज्य सरकार को धारा 26 के अन्तर्गत स्थापित की गई शिक्षण संस्थाओं पर भी वही शर्तें लगाने का अधिकार है जो वह धारा 30 के अन्तर्गत स्थापित संस्थाओं पर लगा सकती है बशर्ते कि धारा 26 की संस्थाएं राज्य सरकार से अनुदान प्राप्त करना चाहें। जो बात हम कहना चाहते हैं वह यह है कि जिन कारणों के आधार पर यह कहा गया है कि धारा 26 में गैर धार्मिक शिक्षण संस्थाएं स्थापित नहीं की जा सकतीं वे सब कारण निराधार हैं तथा धारा 26 के अन्तर्गत यदि कोई धार्मिक संगठन गैर धार्मिक विषयों की शिक्षा के लिए संस्थाएं स्थापित करें तो उनमें तथा धारा 30 की संस्थाओं में कोई भेद, आपत्ति या बाधा होगी यह कहना सही नहीं है। न ही उनमें पुनरावृत्ति अथवा प्रबंध सम्बन्धी विरोध की बात तर्क संगत है चाहे फिर इस प्रकार की संस्था तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यक (Minority) द्वारा स्थापित की गई हों या किसी स्पष्ट धार्मिक समूह (Denomination) द्वारा की गई हों।

धार्मिक समूह और अल्पसंख्यक

धारा 30 में रिलिजस डिनोमीनेशन (Religious Denomination) तथा धारा-30 में रिलिजस मैनोरिटी (Religious Minority) दोनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। 'डिनोमीनेशन' अर्थात् समूह या सम्प्रदाय भी अपेक्षाकृत अल्पसंख्यक ही होता है। वेबस्टर के प्रसिद्ध अंग्रेजी कोश में 'डिनोमीनेशन' का जो अर्थ दिया गया है उसके अनुसार वह कुछ व्यक्तियों का ऐसा समूह है जो एक नाम या विशेषण के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
अन्तर्गत पहचाना जाता है और विशेषकर ऐसा धार्मिक सम्प्रदाय या संगठन जिसके समान विश्वास है, जोउसमें सम्मिलित हैं और उसका अपना पृथक् नाम है। इस परिभाषा के अनुसार ईसाइयत और हिन्दू धर्म दोनों 'डिनोमीनेशन' की परिभाषा में आते हैं। 'डिनोमीनेशन' का अर्थ यही है कि जो एक नाम से पहचाने जायें। उनके अन्तर्गत जो अन्य सम्प्रदाय या पंथ हैं उन्हें भी 'डिनोमीनेशन' कहा जा सकता है। जैसा प्रसिद्ध संविधान शास्त्री श्री सिरवई ने लिखा है कि शिया धर्म के मानने वाले यद्यपि इस्लाम धर्म के और प्रोटेस्टेन्ट ईसाई धर्म के, अनुयायी हैं और इस प्रकार ये दोनों "डीनोमीनेशन" हैं फिर भी वे धार्मिक अल्पमत भी हैं। पाकिस्तान में मुसलमानों का बहुमत होने पर भी वहां शिया अल्पसंख्यक धर्म के अनुयायी हैं वस्तुतः पाकिस्तान में आज उन्हें मुसलमान तक मानने से इन्कार किया जाने लगा है और उन्हें गैर मुसलमान समझ कर पीड़ित और परेशान तक किया जाता है यहाँ तक कि उनकी मस्जिदों तक को जला दिया गया है इसी प्रकार उत्तरी आयरलैण्ड में कैथोलिक ईसाइयों की वही स्थिति है जो पाकिस्तान में शियाओं की एवं ईरान में जहां शिया बहुमत में हैं वहां सुन्नियों की। इसलिए स्पष्ट रूप से इन देशों में ये लोग धार्मिक अल्पसंख्यक हैं जिन्हें विशेष सुरक्षा की आवश्यकता है। ठीक यही स्थिति बहुमत के हिन्दू धर्म में आर्य समाजियों की है क्योंकि धार्मिक दृष्टि से आर्यसमाजी हिन्दुओं में भी अल्पसंख्यक हैं जिनकी शैक्षणिक संस्थाओं के लिए धारा 30 का हमारे संविधान में प्रावधान है। यदि तथाकथित धार्मिक बहुमत के हिन्दुओं से मुसलमान और ईसाइयों की सुरक्षा जरूरी है तो मूर्तिपूजा, तीर्थ-स्नान आदि जैसे महत्वपूर्ण धार्मिक विश्वासों के विरोध के कारण आर्यसमाज को भी अन्य हिन्दुओं के बहुमत से अपनी सुरक्षा जरूरी है। वस्तुतः स्वाधीनता प्राप्ति के बाद आर्यसमाज की अनेक धार्मिक गतिविधियों में, जिनमें शुद्धि, शास्त्रार्थ और खण्डनात्मक प्रचार सम्मिलित है, बाधा उत्पन्न हुई है। चाहे जो हो यदि मुसलमान होने पर भी शिया और ईसाई होने पर भी प्रोटेस्टेन्ट धार्मिक अल्पसंख्यकों की परिभाषा में आते हैं तो हिन्दू समाज का अंग होने पर भी आर्यसमाजी धार्मिक दृष्टि से ऐसे ही अल्पसंख्यक क्यों नहीं माने जा सकते ?

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार धारा 26 और 30 के शाब्दिक अन्तर के कारण धारा 26 में शिक्षण संस्थाओं की स्थापना में कोई वैधानिक बाधा या आपत्ति नहीं होनी चाहिए यह स्पष्ट है। वास्तव में ये दोनों धाराएें एक दूसरे की पूरक समझी जानी चाहिए ताकि धारा 30 में जो अधिकार धार्मिक अल्पसंख्यकों को दिए गए हैं वही अधिकार धारा 26 में हिन्दू धार्मिक समूह को दिए जा सकते हैं और इस प्रकार बहुमत और अल्पसंख्यक दोनों को धार्मिक स्वतन्त्रता का यह समान अधिकार प्राप्त हो सकता है। दोनों धाराओं के इस प्रकार समन्वित उपयोग और अर्थ करने से संविधान की 25 धारा के, अन्तर्गत सबको, चाहे फिर वह व्यक्ति हो, समुदाय हो, अल्पसंख्क हो, या बहुसंख्यक हो, जो धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है वह समान रूप से प्राप्त किया जा सकता है। कोई धार्मिक समूह या संगठन चाहे फिर वह धार्मिक दृष्टि से बहुमत का अंग ही क्यों न हो अपनी भाषा, संस्कृति और लिपि की सुरक्षा के लिए अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर सकता है जैसा धारा 29 में कहा गया है, और तब यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी हिन्दू शिक्षक संस्थओं को वे सुविधाएं नहीं दी जा सकेंगी जो धारा 30 में भाषा आदि की सुरक्षा के लिए स्थापित इस प्रकार की अन्य शिक्षण संस्थाओं को उपलब्ध हैं। डी.ए.वी कालेज जालन्धर और भटिण्डा सम्बन्धी निर्णयों में उच्चतम न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि धारा 29 या 30 में से किसी में भी आर्यसमाज द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं को समान अधिकार प्राप्त हैं। यदि अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के लिए धारा 30 में स्थापित संस्थाओं की स्वतन्त्रता आवश्यक है तो इस प्रकार की संस्था धारा 29 में स्थापित की जाये तो भी, उसके लिए वही स्वतन्त्रता आवश्यक क्यों न समझी जाये? धारा 26 की उपधारा (अ) के अन्तर्गत भी आर्यसमाज जैसा कोई धार्मिक समुदाय, वह चाहे फिर हिन्दुओं का अंग ही क्यों न हो गैर धार्मिक विषयों के लिए शिक्षण संस्थाएं स्थापित करता है तो उसे भी इस प्रकार की स्वतन्त्रता क्यों नहीं होनी चाहिए? धारा 26 में "Right

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

to maintain" अर्थात बनाए रखने का अधिकार है वह धारा 30 में उल्लेखित "राईट टू एडमनिस्टर" से भिन्न नहीं हो सकना क्योंकि यदि एड-मनिस्टर अर्थात् प्रबंध का अधिकार न हो तो मैनटेन अर्थात बनाये रखना या जारी रखने का अधिकार किस प्रकार कार्यान्वित किया जा सकता है ? यदि किसी समुदाय को अपने द्वारा स्थापित संस्थाओं के प्रबंध करने का अधिकार नहीं है तो वह उसको किस प्रकार बनाये रख सकता है? वस्तुतः बिना प्रबंध के अधिकार के संस्थाओं की स्थापना करना या उन्हे बनाये रखना अधिकार नहीं अपितु एक लायबिल्टी अर्थात् भार सिद्ध होगा । धारा 26 में "Manage its own affairs" अर्थात् स्वयं अपना प्रबंध करने का भी यही अर्थ है जो धारा 30 में "एडमनिस्टर" शब्द का है बल्कि उससे कहीं अधिक स्पष्ट और व्यापक है । जैसा हम देख चुके हैं धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बंधी तीनों धाराओं अर्थात् 25, 26 और 30 का समन्वय भी इसी प्रकार हो सकता है । क्योंकि इन तीनों धाराओं का उद्देश्य धार्मिक स्वतन्त्रता देना है जिसमें साधारण शिक्षा के लिए शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करना भी सम्मिलित माना गया है । इतना ही नहीं अपने धर्म की सुरक्षा के लिए भी धर्मप्रचार एक आवश्यक साधन स्वीकार किया गया है और यह भी स्वीकार किया गया है कि शिक्षण संस्थाएं इन दोनों के आवश्यक माध्यम हैं । ऐसी स्थिति में इस में क्या अन्तर है कि धारा 26 में धार्मिक शिक्षा के लिए स्थापित संस्थाओं में गैर धार्मिक अर्थात् अन्य विषयों की शिक्षा दी जाये या धारा 30 में स्थापित अन्य विषयों के लिए स्थापित शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा दी जाये ।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा और धारा 26

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धारा 26 के अन्तर्गत भी शिक्षण संस्थाओं की स्थापना संविधान के अनुकूल है और यदि उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय ध्यान में रखा जाये कि इस प्रकार की शिक्षण संस्थाओं का एक उद्देश्य धार्मिक सुरक्षा और धर्मप्रचार है तो हमारी सम्मति में यह उद्देश्य धारा 26 के माध्यम

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कहीं अधिक अच्छी तरह से पूरा किया जा सकता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि धारा 26 की संस्थाएं केवल धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित होगी जब कि धारा 30 में स्थापित धार्मिक संस्थाओं को गैर धार्मिक शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने के अधिकार तक सीमित नहीं किया गया है। वस्तुतः तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यकों को धारा 30 में जो यह विशेष अधिकार प्राप्त है, समनता और न्याय के आधार पर वही अधिकार उन धार्मिक संगठनों को या संस्थाओं को जो अल्पसंख्यकों की इस संकीर्ण परिभाषा में नहीं आती हैं, देने का एक मात्र यही उपाय है। दूसरे शब्दों में जो अधिकार धारा 30 में अल्पसंख्यकों को दिए गए हैं वही अधिकार धारा 26 के अन्तर्गत तथाकथित बहुसंख्यकों को या उनके अल्पसंख्यक संगठित समुदायों को दिए जा सकते हैं और दिए जाने चाहिए। समानता और न्याय के सर्वमान्य सिद्धान्त के आधार पर भी यह आवश्क और उपयुक्त है। हम देख चुके हैं कि धारा 26 में धार्मिक संस्थाओं के अर्थात् दातव्य संस्थाओं की स्थापना का भी अधिकार दिया गया है और शिक्षा स्पष्ट रूप से इन दोनों की अर्थात् धर्म और दान की परिभाषा में सम्मिलित हैं इस तरह से धारा 26 में धार्मिक और गैर धार्मिक दोनों उद्देश्यों के लिए स्थापित शिक्षण संस्थाएं आती हैं। धारा 26 की एक विशेषता यह भी है कि उसमें जिस उद्देश्य का जिक्र है वह धारा 30 में केवल न्यायालयों के निर्णयों द्वारा शामिल किया गया है। धारा 30 की स्वयं की भाषा से यह स्पष्ट नहीं होता कि उसके द्वारा किस उद्देश्य के लिए शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करने का प्रावधान है। उसमें केवल अल्पसंख्यकों के साथ धर्म और भाषा के विशेषण जोड़े गए हैं शिक्षण संस्थाओं के साथ नहीं। दूसरे शब्दों में यह नहीं कहा गया है कि धार्मिक या भाषायी सुरक्षा के लिए इन संस्थाओं की स्थापना की जाय किन्तु धारा 26 में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि उसमें स्थापित संस्थाएं धार्मिक और दातव्य सुरक्षा की पूर्ति के लिए हैं। धारा 30 में न्यायालयों के निर्णय द्वारा ही यह कहा गया है कि उसमें स्थापित संस्थाओं का उद्देश्य धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा है। परिणामस्वरूप धारा 26 के अन्तर्गत स्थापित शिक्षण संस्थाओं में साधारण या गैर धार्मिक शिक्षा देना उसके धार्मिक क्षेत्र

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाहर नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार धारा 30 में स्थापित संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा देना धारा 30 की सीमा के बाहर नहीं समझा गया है।

धारा -19

हमारे संविधान की धारा 19 में भाषण, अभिव्यक्ति सभा और संगठन की स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है, उसका भी धर्मप्रचार के लिए उपयोग किया जा सकता है क्योंकि शिक्षण संस्थाएं भी विचार और प्रचार के वैसे ही माध्यम हैं जैसे धारा 19 में दिए गए साधन धारा-19 में धारा-30 के समान धार्मिक अल्पसंख्यक होने आदि की कोई शर्त भी नहीं है। वस्तुत: हमारे संविधान के प्रमुख निर्माता डॉ. अम्बेडकर की भी यही स्पष्ट मान्यता था कि धारा 26 और धारा 30 में धार्मिक और सांस्कृतिक आधार पर जो विशेष अधिकार दिए गए हैं उनकी पूर्ति धारा 19 में दिए गये अधिकारों से भी की जा सकती है।

यदि हमने 25, 26 तथा धारा 30 को एक दूसरे का पूरक समझने के स्थान में परस्पर विरोधी मान लिया तो उनका मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जायेगा और परिणाम यह होगा कि धार्मिक स्वतन्त्रता जैसे मौलिक अधिकार से कुछ लोग वंचित रह जायेंगे, विशेषकर बहुसंख्यक होने मात्र से इस अधिकार से वंचित होना पड़ा, तो यह प्रजातन्त्र की मूलभूत भावना के सर्वथा प्रतिकूल होगा। देहली उच्च न्यायालय के अनुसार यदि हमने धर्म और अल्पसंख्यक जैसे शब्दों की मनमानी परिभाषा करना स्वीकार कर लिया तो परिणाम यह होगा कि इस प्रकार के निषेधात्मक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप यह अधिकार किसी को भी प्राप्त नहीं होगा। उदाहरण के लिए यह कहा जा सकता है कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक दोनों में से कोई भी धारा 25 के अन्तर्गत इस अधिकार का उपयोग नहीं कर सकते क्योंकि यह धारा केवल व्यक्तियों के लिए हैं। इस प्रकार के कुतर्क के स्थान में यदि हम इन धाराओं का अर्थ संविधान की भावना को ध्यान में रखकर करें तो

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

उनमें सामंजस्य दिखाई देगा और व्यक्ति, समूह और अल्पसंख्यक और
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
बहुसंख्यक इन सबका किसी न किसी धारा में समावेश किया जा सकेगा जिस प्रकार जाति, धर्म और सम्प्रदाय के आधार पर पक्षपात या भेदभाव करना अनुचित है वैसे ही अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक का भेद करके किसी को उसके अधिकार से वंचित करना भी अनुचित है, विशेषकर जब बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक दोनों के धार्मिक अधिकारों में कोई संघर्ष या विरोध न हो जैसा हम हिन्दू धर्म की विशेष स्थिति के संदर्भ में निवेदन कर चुके हैं। शिक्षण संस्थाएं यदि अल्पसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये आवश्यक हैं तो बहुसंख्यकों की धार्मिक स्वतन्त्रता के लिये वह आवश्यक नहीं है यह कैसे कहा जा सकता है? न्यायालयों के उपरोक्त निर्णयों के अनुसार अल्पसंख्यकों की धार्मिक सुरक्षा और धर्म प्रचार के लिये शिक्षण संस्थाएं आवश्यक समझी गई हैं। स्वाभावत: हिन्दुओं की धार्मिक सुरक्षा के लिये भी वे शिक्षण संस्थाएं उतनी ही आवश्यक हैं चाहे फिर हिन्दू तथाकथित बहुसंख्यक ही क्यों न हों। जहां तक आर्यसमाज का प्रश्न है उसका इस प्रकार का अधिकार और भी निर्विवाद और स्पष्ट है। धार्मिक दृष्टि से वह अल्पसंख्यक समुदाय है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। साथ ही यह भी निर्विवाद है कि वह एक ऐसा धार्मिक संगठन है जो केवल धर्मप्रचार और धर्मान्तरण में विश्वास ही नहीं करता है बल्कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसके द्वारा देश भर में अनेक शिक्षण संस्थाएं वर्तमान संविधान की रचना से बहुत पहले से ही स्थापित की जा चुकी थी इसलिए अब धारा 30 में दिये गए विशेष अधिकारों से उन्हें वंचित करना सर्वथा अन्यायपूर्ण होगा और संविधान की भावना के भी विपरीत होगा।

शिकायत का कारण

सेंट जेवियर कालेज सम्बन्धी उच्चतम न्यायालय के निर्णय में जैसा न्यायमूर्ति द्विवेदी ने कहा था कि यदि धारा 30 केवल धार्मिक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तक सीमित रहती तो अन्य धर्मावलम्बी और विशेषकर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज को कोई शिकायत न होती। उस स्थिति में जैसा अन्य धार्मिक अल्पसंख्यक अपने बच्चों के लिए धर्मशिक्षा देने की व्यवस्था करते वैसे हिन्दुओं के भिन्न-भिन्न धार्मिक संगठन भी कर सकते थे। किन्तु धीरे-धीरे न्यायालयों के निर्णयों के परिणामस्वरूप धारा 30 में न केवल अल्पसंख्यकों को अपनी धार्मिक शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने की स्वतन्त्रता है वल्कि उसकें द्वारा अब उन्हें गैर धार्मिक अन्य विषयों की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने की स्वतन्त्रता भी मिल गई है परिणामस्वरूप उन्हें गैर धार्मिक अन्य विषयों की शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने और उनके द्वारा इतना ही नहीं बहुमत के हिन्दुओं के बच्चों में भी अपने धर्म का प्रचार करने का विशेष अधिकार प्राप्त हो गया और वह भी उस सरकार के धन से जिसका अधिकांश भाग बहुसंख्यक हिन्दू टेक्सों द्वारा देते हैं। इस प्रकार गत 35 वर्षों में धारा 30 को जो अनपेक्षित रूप दिया गया है उसके कारण सबसे अधिक हानि आर्यसमाज और उसकी शिक्षण संस्थाओं को हुई है जिसका निराकरण आवश्यक है।

आर्यसमाज और उसका भिन्न स्वरूप

इस पुस्तक के प्रारम्भिक अध्यायों में हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार स्वामी दयानन्द ने एक सुनिश्चित वैदिक धर्म के प्रचार के लिए आर्य समाज की स्थापना की थी। वे उसे केवल एक सामाजिक तथा धार्मिक सुधार आन्दोलन तक ही सीमित नहीं करना चाहते थे और न ही उसे हिन्दू धर्म का एक संप्रदाय बना देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने हिन्दू शब्द तक का निषेध किया और अपने अनुयायियों को एक पृथक् नाम आर्य दिया। उनकी यह मान्यता थी कि जिस धर्म का वह पुनरोत्थान करना चाहते थे वह वास्तव में प्राचीन सार्वभौम वेद का धर्म है। उनकी सम्मति में आर्य ही यहीं के प्राचीन निवासी थे वे कहीं बाहर से नहीं आये थे जैसा पश्चिम विचारक मानते हैं। हमने उनके अनुयायियों के लिए आर्यसमाजी और उनके आन्दोलन के लिए आर्यसमाज के नामों का उपयोग किया है क्योंकि अनेक कट्टर सनातनधर्मी भी यह गलत दावा करते हैं कि उनका वर्तमान हिन्दू धर्म भी वेद पर आधारित है। स्वामी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
दयानन्द ने आर्य शब्द का एक अधिक व्यापक अर्थ भी किया है जिसके अनुसार प्रत्येक श्रेष्ठ और अच्छा व्यक्ति आर्य है, चाहे वह किसी नस्ल या जाति का क्यों न हो। इसी प्रकार जिस हिन्दू शब्द का स्वामी दयानन्द ने निषेध किया उसका भी अब एक नवीन अर्थ किया जाने लगा है। जैसा पूर्व अध्याय में हम देख चुके हैं कि वह केवल पौराणिक हिन्दू धर्म के अनुयायियों का नाम नहीं समझा जाता और न ही स्वयं हिन्दू धर्म कोई संगठित धर्म माना जाता है। इसलिए हमने यह स्वीकार करना उपयुक्त समझा कि सामाजिक और सांस्कृतिक अर्थ में आर्यसमाजी भी हिन्दू समाज के अंग हैं, किन्तु वे धार्मिक अर्थ में हिन्दू नहीं हैं। संसार के प्रायः सब प्रमुख धर्म उनके संस्थापकों के नाम पर प्रचलित हैं किन्तु स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि वे किसी नवीन धर्म की स्थापना नहीं कर रहे हैं, केवल भूले हुए प्राचीन वैदिक धर्म का ही पुनः प्रचार और प्रसार ही उनका उद्देश्य है। इसलिए उनके अनुयायी भी उन्हें अपने वैदिक धर्म का संस्थापक नहीं मानते और न ही स्वामी दयानन्द को मसीहा, पैगम्बर या अवतार मानते हैं। यद्यपि इसमें कोई संदेह नहीं कि आर्यसमाज के संस्थापक के रूप में वर्तमान वैदिक धर्म उन्हीं की देन है।

सम्प्रदाय या धर्म

इस पुस्तक में अन्यत्र जो विवेचन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज जिस वैदिक धर्म को मानता है वह हिन्दू धर्म नहीं है और न उस धर्म का अंग या सम्प्रदाय है अपितु एक स्वतन्त्र और प्राचीनतम धर्म है। अन्यथा हिन्दू धर्म का अंग बनकर वह उसका एक सम्प्रदाय मात्र ही रह सकता है। इसी प्रकार भारत के विशाल बहुसंख्यक लोगों का धर्म हिन्दू धर्म होने के कारण वैदिक धर्म को मानने वाले अपेक्षाकृत कम संख्या के आर्यसमाजी स्वभावतः अल्पसंख्यक हैं। जो लोग यह आक्षेप करते हैं कि आर्यसमाज का पृथक् धार्मिक अस्तित्व रखने का अर्थ उसे एक संप्रदाय बनाना है, वास्तव में वही लोग आर्यसमाज को एक सार्वभौम धर्म के स्थान में हिन्दू धर्म के अंग के रूप में उसका एक छोटा-सा संप्रदाय बनाना चाहते हैं, दूसरी ओर उस

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भिन्न और स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करने पर ही उसे हिन्दू धर्म का संप्रदाय होने से बचाया जा सकता है। इतना ही नहीं कालान्तर में तथाकथित हिन्दू धर्म में विलीन होकर लुप्त होने से बचाने के लिए भी यह आवश्यक है कि हम आर्यसमाज का कम से कम धार्मिक रूप में पृथक् अस्तित्व बनाये रखें जैसा उसके संस्थापक उसे बनाये रखना चाहते थे।

अल्पसंख्यक क्यों ?

इस प्रकार यदि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का संप्रदाय नहीं है और वह उससे एक भिन्न वैदिक धर्म का अनुयायी है तो स्वभावतः अल्पसंख्यक होने के कारण वह एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन भी है। उसकी यह स्थिति उसके वर्तमान अस्तित्व और भावी विकास कीं दृष्टि से भी अनिवार्य है। इसलिए यह धारणा सर्वथा भ्रमपूर्ण है कि धार्मिक अल्पसंख्यक होने का यह तर्क केवल उसकी शिक्षण संस्थाओं को बचाने अथवा उन के लिए विशेष अधिकार प्राप्त करने मात्र के लिए दिया जा रहा है। यह भी स्मरण रखने की बात है कि धारा 30 का सम्बन्ध केवल गैर हिन्दू अल्पसंख्यकों से ही नहीं है इसलिए यह कहना भी मूर्खतापूर्ण होगा कि यदि आर्य शिक्षण संस्थाओं को इस धारा का लाभ लेना हो तो वह गैर हिन्दू बनकर ही मिलेगा। सिख, जैन, बौद्ध भी हिन्दू के वर्तमान व्यापक अर्थ में हिन्दू की परिभाषा में आते हैं इसलिए धारा 30 का संरक्षण प्राप्त करने पर भी आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाएँ गैर हिंदू नहीं बन जायेंगी। वस्तुतः उसकी शिक्षण संस्थाओं की वर्तमान समस्या न भी होती तो भी स्वयं आर्यसमाज के भविष्य की दृष्टि से भी इस प्रश्न का समाधान आवश्यक है और यही इस विवेचन का मुख्य उद्देश्य भी है। किन्तु साथ ही आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की उपयोगिता और भविष्य की भी उपेक्षा हम नहीं कर सकते। आर्यसमाज के प्रचार और प्रसार में उनका जो महत्वपूर्ण योगदान रहा है और जिस उद्देश्य से उनकी स्थापना की गई थी उसे बनाये रखना भी आर्यसमाज के लिए कम आवश्यक नहीं है। इस पुस्तक के अन्तिम अध्यायों

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं, उनके इतिहास और महत्व तथा वर्तमान संदर्भ में उनकी कठिनाइयों का जो विवेचन किया गया है वह इस पुस्तक की मुख्य स्थापना का केवल परिणाम मात्र है, हमारी मुख्य स्थापना तो यह है कि आर्यसमाज न तो हिन्दू धर्म का कोई संप्रदाय है और न कोई नवीन धर्म है अपितु वह प्राचीन वैदिक धर्म का ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वर्तमान संस्करण है। स्वाधीन भारत के संविधान में यदि धार्मिक संगठनों और समुदायों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं के लिए धारा 30 का प्रावधान न होता तो आर्यसमाज की इन शिक्षण संस्थाओं के सामने भी कोई समस्या नहीं होती और उस स्थिति में कानूनी अर्थ में उसकी सही स्थिति भी सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। उसकी यह स्थिति तो स्वयं सिद्ध है किन्तु जैसा हम देख चुके हैं कि उच्च न्यायालयों के निर्णयों के बाद धारा 30 के अनुसार ये शिक्षण संस्थायें न केवल शिक्षा प्रचार की माध्यम हैं अपितु वे धर्मप्रचार की भी साधन समझी जाने लगी हैं। स्पष्ट है कि आर्यसमाज इस नवीन संविधानिक स्थिति की भी उपेक्षा नहीं कर सकता, ऐसा करने से न केवल उसकी शिक्षण संस्थाओं का अपितु स्वयं उसका अपना धार्मिक अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है। अन्य धर्मों द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाओं के विवेचन के संदर्भ में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं। सौभाग्य से धारा 30 में दिये गये इस संरक्षण को प्राप्त करने के लिए हमें केवल आर्यसमाज की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करना पर्याप्त है, इसके लिए हमें आर्यसमाज की स्थिति को बदलने या उसमें कोई नवीन परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं है जैसा संभवतः सिखों द्वारा किया जा रहा है। इसलिए जब यह कहा जाता है कि आर्यसमाज भी एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है तो वह कोई नवीन बात नहीं है और न ही केवल उसकी शिक्षण संस्थाओं की सुरक्षा के लिए ऐसा कहा जाता है। इसके विपरीत इस तथ्य की उपेक्षा करना और उसे उजागर न करना ही उसके असली स्वरूप को विकृत करना होगा। आर्यसमाज के इस वास्तविक स्वरूप से वही लोग इंकार कर सकते हैं जो या तो उसके स्वरूप को समझते नहीं हैं अथवा उसके खुले या प्रच्छन्न शत्रु हैं या उसके भविष्य तथा उसकी शिक्षण संस्थाओं को समाप्त करना चाहते हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि धारा 30 में दिये गये न्यायालयों के निर्णयों के परिणामस्वरूप आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के साथ पक्षपात और अन्याय न होता तो कानून और संविधान की दृष्टि से आर्यसमाज की वास्तविक स्थिति स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु हम देख चुके हैं कि हमारे संविधान में उन शिक्षण संस्थाओं को कुछ विशेष मौलिक अधिकार दिये गए हैं जिनकी स्थापना तथाकथित धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा की गई है। उन्हें न केवल अपनी पृथक् शिक्षण संस्थाएँ स्थापित करने का ही अबाध्य अधिकार दिया गया है अपितु उनके प्रबंध और संचालन में भी सरकार या विश्वविद्यालय द्वारा हस्तक्षेप करने का निषेध किया गया है। इनमें इन संस्थाओं की प्रबन्ध समितियों का निर्माण, उनमें की जाने वाली नियुक्तियों और उनमें कार्य करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध अनुशासन की कार्यवाही करने जैसे महत्वपूर्ण अधिकार सम्मिलित हैं और साथ ही इन संस्थाओं को सरकारी अनुदान प्राप्त करने का भी पूरा अधिकार है जबकि तथाकथित हिन्दू बहुमत की संस्थाओं को इन सब अधिकारों से वंचित रखा गया है। इसका सबसे अधिक दुष्प्रभाव आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं पर पड़ा है जैसा हम बता चुके हैं।

इस पक्षपातपूर्ण स्थिति को आर्यसमाज की ओर से सबसे पहले बिहार में और उसके बाद पंजाब में चुनौती दी गई और उन दोनों में आर्यसमाज को सफलता मिली। पंजाब के डी.ए.वी. कालेज जालन्धर और भटिण्डा के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि आर्यसमाज भी धारा 29 और 30 के अन्तर्गत एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है। पंजाब के गुरु नानक विश्वविद्यालय द्वारा डी.ए.वी. संस्थाओं पर गुरुमुखी लादने तथा उनके आन्तरिक प्रबन्ध में अनुचित हस्तक्षेप करने के विरोध में इन डी.ए.वी. संस्थाओं ने याचिका दायर की थी। अन्य प्रान्तों या राज्यों में आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की स्थिति के सम्बन्ध में अब भी शंकाएँ प्रकट की जा रही हैं। उदाहरण के लिए देहली उच्च न्यायलय ने वहां की अनेक डी.ए.वी. संस्थाओं की याचिका को इसी आधार पर निरस्त कर दिया कि आर्यसमाज

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दूधर्म का ही एक सम्प्रदाय मात्र है। इस समस्या को समझने और उसका समाधान करने के लिए न्यायालय के निर्णयों और उनके संदर्भ में आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यहाँ कुछ संवैधानिक और कानूनी मुददों का विवेचन किया जा रहा है।

बिहार के दो अनुकूल निर्णयों के बाद बिहार सरकार ने अब आर्य-समाज की शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 के अन्तर्गत मान्यता देना स्वीकार कर लिया है। 1974 के एक अन्य निर्णय द्वारा भी इन पूर्व निर्णयों की पुष्टि की गई है।अभी 1980 में बिहार राज्य सरकार द्वारा जो शिक्षा विधेयक पारित किया गया उसमें आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को अन्य अल्पसंख्यकों के समान विधेयक की कुछ धाराओं से मुक्त कर दिया गया है।

न्यायालयों के निर्णय और आर्यसमाज

आर्यसमाज एक स्वतन्त्रत धार्मिक संगठन है या हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय है इसका निर्णय उसकी मान्यताओं और सिद्धान्तों और संगठन के आधार पर ही किया जा सकता है और किया जाना चाहिये। जैसा भी हम स्पष्ट कर चुके हैं। इसलिए न्यायालयों के विपरीत निर्णय वास्तविक तथ्य को गलत साबित नहीं कर सकते किन्तु धारा 30 के अन्तर्गत अल्पसंख्यक शिक्षण संस्थाओं के सम्बन्ध में जो निर्णय दिए गए हैं उसके कारण आर्यसमाज के सामने भी उसकी कानूनी स्थिति के बारे में शंका उत्पन्न हो गई है जिस का प्रभाव हमारे देश भर में फैली हुई शिक्षण संस्थाओं पर पड़ सकता है और कई स्थानों पर पड़ा भी है। बिहार तथा पंजाब में आर्यसमाज के पक्ष में दिए गए निर्णयों से जहाँ उसके इस वास्तविक स्वरूप की पुष्टि होती है कि वह एक स्वतन्त्र और हिन्दुओं से पृथक् धार्मिक संगठन है वहीं दूसरी ओर देहली उच्च न्यायालय द्वारा सन् 1976 में दिये गए विपरीत निर्णय से आर्यसमाज की यह कानूनी स्थिति संदेहजनक हो गई है। देहली उच्च न्यायालय ने उच्चतम न्यायालय के डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर सम्बन्धी अनुकूल निर्णय की भी यह कह कर उपेक्षा की कि वह निर्णय केवल पंजाब के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संदर्भ में था, क्योंकि वहाँ सिखों के मुकाबले में हिन्दुओं का अल्पमत है और आर्यसमाज हिन्दू धर्म का ही एक सम्प्रदाय होने के कारण वह भी पंजाब में अल्पसंख्यक समझा गया था। दूसरे शब्दों में इस निर्णय के अनुसार जिन राज्यों में हिन्दू बहुसंख्यक हैं वहाँ आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 का लाभ नहीं दिया जा सकता। आश्चर्य की बात तो यह है कि देहली उच्च न्यायालय ने पटना उच्च न्यायालय के निर्णयों को भी अपने पूर्वाग्रह के कारण गलत समझा। यह निर्विवाद है कि बिहार हिन्दू बहुसंख्यक राज्य है और जब वहाँ भी आर्यसमाज को धार्मिक अल्पसंख्यक स्वीकार किया गया तो देहली उच्च न्यायलय का यह विपरीत निर्णय संविधानिक और कानून दोनों दृष्टियों से गलत सिद्ध होता है। उसने इस धारा के दोनों मुद्दों अर्थात् धर्म और अल्पमत के जो अर्थ किये हैं वे तर्क तथ्य और संविधान सबके विपरीत हैं। इन सब प्रश्नों पर विस्तार से विचार करने के लिए अलग अध्याय में देहली उच्च न्यायालय के निर्णय की विस्तार से समीक्षा की गई है। यहाँ हम पटना तथा उच्चतम न्यायालय के उन निर्णयों पर विचार करेंगे जिनमें आर्यसमाज को एक धार्मिक अल्पसंख्यक स्वीकार किया गया है।

पटना उच्च न्यायालय

आर्यसमाज के इतिहास में यह पहला अवसर था जब सन् 1958 में हिन्दुओं से पृथक् उसकी धार्मिक स्थिति के सम्बन्ध में न्यायालय में विचार किया गया। आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार द्वारा मिठापुर में एक दयानन्द कन्या विद्यालय की स्थापना की गई थी और उसी के द्वारा उसका संचालन किया जाता था। कुछ असंतुष्ट तत्वों की शिकायत पर बिहार सरकार के शिक्षा विभाग के निदेशक ने इस विद्यालय की चुनी हुई प्रबंध समिति को भंग करके उसके स्थान में एक नामजद समिति को विद्यालय का प्रबंध सौंपने का आदेश दे दिया। बिहार की आर्य प्रतिनिधि सभा ने इस आदेश के विरुद्ध धारा 30 में न्यायालय में एक याचिका प्रस्तुत की जिसमें दावा किया कि यह शिक्षण संस्था आर्यसमाज द्वारा स्थापित और संचालित है और चूंकि आर्यसमाज

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है उसके इसलिए स्कूल के आन्तरिक प्रबंध में
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
इस प्रकार का हस्तक्षेप करने का राज्य सरकार को अधिकार नहीं है। आर्य समाज की ओर से यह दावा किया गया कि भारतीय संविधान की धारा 30 के अनुसार अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाओं का प्रबंध स्वयं उन्हें करने का विशेष अधिकार है इसलिए उनका प्रबन्ध आर्यसमाज के अतिरिक्त अन्य बाहरी व्यक्तियों को नहीं सौंपा जा सकता। सरकार की ओर से इसका स्वभावतः विरोध किया गया और कहा गया कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का ही एक सुधरा हुआ अंग है, इसलिए धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यकों को दिए गए विशेष अधिकार उसे प्राप्त नहीं हैं। दोनों पक्षों की बहस सुनने के बाद उच्च न्यायालय ने एक मत से आर्यसमाज के पक्ष को स्वीकार करते हुए कहा कि "आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है और यह कन्या पाठशाला स्वयं धार्मिक अल्पमत अर्थात् आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा स्थापित और संचालित है इसलिए धारा 29 व 30 में उसे भी उसकी शिक्षण संस्थाओं को चलाने का वही अधिकार प्राप्त है जो अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को संविधान में दिए गए हैं अतः सरकार की ओर से जो आपत्ति की गई वह सही नहीं है अतः उसे निरस्त किया जाता है।" अपने इस निर्णय के समर्थन में न्यायालय ने यह तर्क दिया कि इस शिक्षण संस्था में वैदिक धर्म की विशेष शिक्षा का प्रबंध है जिसका उद्देश्य वैदिक संस्कृति की सुरक्षा करना है। वहां वैदिक मन्त्रों से प्रार्थना और वैदिक हवन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह संस्था आर्यसमाज नामक धार्मिक संगठन द्वारा स्थापित और संचालित है। इन तथ्यों के विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं दिया गया इसलिए सरकार की ओर से जो आपत्ति की गई वह सही नहीं है और उसे स्वीकार नहीं, किया जा सकता।

दूसरा निर्णय

इस निर्णय के बाद सन् 1963 में इसी प्रकार की एक अन्य याचिका पटना हाई कोर्ट में ब्रह्मसमाज द्वारा भी प्रस्तुत की गई। उसमें भी पटना हाई कोर्ट के सन् 1958 के आर्यसमाज के पक्ष में दिए गए निर्णय का हवाला दिया गया और इस प्रकार उसके अल्पसंख्यक होने की पुनः पुष्टि की गई

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
न्यायालय के निर्णय में कहा गया कि आर्यसमाज के समान बिहार में ब्रह्मसमाज भी एक छोटा किन्तु पृथक् धार्मिक समुदाय है जिसकी हिन्दू धर्म से भिन्न मान्यताएँ हैं और अपना अलग संगठन है इसलिये वह निश्चित रूप से विधान की धारा 30 की परिभाषा के अनुसार धर्म पर आधारित अल्पमत है। यह स्मरण रखने की बात है कि "बिहार एजुकेशन कोड" नामक शिक्षा विधेयक में शिक्षण संस्थाओं पर नियंत्रण रखने सम्बंधी जो अनेक धाराएँ थीं वे एंग्लो इण्डियन शिक्षण सन्स्थाओं पर सरकार ने यह कहकर लागू नहीं कीं कि एंग्लो इण्डियन धर्म और भाषा के आधार पर स्थित एक अल्पमत है। आर्यसमाज ने भी इस विधेयक में दिये गए विशेष अधिकार की माँग करते हुए बिहार सरकार को लिखा था कि एंग्लो इण्डियन संस्थाओं के समान उसकी संस्थाओं को भी सरकार के अनुचित हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाये किन्तु सरकार ने अपने पक्षपातपूर्ण निर्णय को बदलना अस्वीकार कर दिया और इसलिये आर्यसमाज को उच्च न्यायालय की शरण लेनी पड़ी। पटना उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय के समर्थन में संविधान की धारा 14 और 26 का भी हवाला दिया था जिसमें समानता तथा धार्मिक समूहों को अपनी संस्थाएँ स्थापित करने का अधिकार है। उच्च न्यायालय ने केरल एजूकेशन बिल पर उच्चतम न्यायालय ने जो प्रसिद्ध निर्णय दिया था उसका भी हवाला दिया और कहा कि शिक्षण संस्थाएँ अल्पसंख्यकों के धर्म, भाषा और संस्कृति की सुरक्षा के लिए आवश्यक माध्यम हैं उन्हीं के द्वारा वे अपने बच्चों के संवेदनशील मस्तिष्क को अपनी इच्छा के अनुसार शिक्षा दे सकते हैं।

इन निर्णयों का महत्व

पटना उच्च न्यायालय के इन दो निर्णयों का केवल इतना ही महत्व नहीं है कि वे इसप्रकार के पहले निर्णय हैं जिनमें सिख, जैन एवं बौद्धों के समान आर्यसमाज को भी धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यक स्वीकार किया गया है बल्कि उनका दूसरा महत्व यह भी है कि बिहार जैसे राज्य में जहाँ हिन्दुओं का बहुमत है उसमें भी आर्यसमाज का पृथक् धार्मिक अस्तित्व स्वीकार किया गया।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1977 का नवीनतम निर्णय

जैसा हम देख चुके हैं, देहली उच्च न्यायालय ने बिहार के इन दोनों निर्णयों का न केवल गलत अर्थ लगाया था। अपितु उन्हें पुराने तथा संविधान की भावना के भी विपरीत बताया था इसलिए 1977 में जब पटना हाई कोर्ट के सामने आर्यसमाज की स्थिति के बारे में तीसरी बार यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो सरकार की ओर से 1976 के देहली के निर्णय का सहारा लिया गया किन्तु पटना हाई कोर्ट ने देहली न्यायालय के तर्क को अस्वीकार करते हुए पुनः अपने पूर्व निर्णयों की पुष्टि करदी।[1]

उच्चतम न्यायालय का निर्णय

भारत का सर्वोच्च न्यायालय सुप्रिम कोर्ट है उसके द्वारा डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर तथा भटिण्डा के मामलों में गुरुनानक विश्वविद्यालय पंजाब के विरुद्ध 1971 में दिया गया निर्णय आर्यसमाज की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है। पंजाब के गुरु नानक विश्वविद्यालय के कानून (एक्ट) में यह प्रावधान है कि वह अपने अधिकार क्षेत्र में जो महाविद्यालय है उन्हें मान्यता देने के लिए जो उचित समझे शर्तें लगा सकता है। इसलिए डी ए वी. कॉलेज जालन्धर तथा भटिण्डा को मान्यता देने के लिए विश्वविद्यालय ने ये शर्तें लगाई कि उनकी प्रबन्ध समितियों का निर्माण तथा उनमें अध्यापकों की नियुक्ति विश्वविद्यालय की स्वीकृति के बिना नहीं की जा सकेगी। अध्यापकों और आचार्यों के विरुद्ध की गई अनुशासन की कार्यवाही में भी हस्तक्षेप करने का विश्वविद्यालय को अधिकार था। वस्तुतः प्रायः देश के सारे विश्वविद्यालय को ऐसे कानूनी अधिकार दिये गए हैं कि वे अपने अधीन महाविद्यालों को मान्यता देते समय प्रबंध समिति के गठन तथा नियुक्तियों आदि के बारे में अपना नियत्रण रख सके। किंतु जैसा हम देख चुके हैं कि जो महाविद्यालय और शिक्षण संस्थाएं

---

1. देखें 1978 के बिहार लॉ जजमेंट पेज 309।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित और संचालित की जाती हैं उन्हें संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत इस प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त समझा जाता है, देश के अनेक विश्वविद्यालयो द्वारा इन संस्थाओं पर लगाई इस प्रकार की शर्तों को न्यायालयों ने असंविधानिक घोषित कर दिया आर्यसमाज की ओर से इन दोनों कॉलेजों को भी धारा 29 और 30 के अन्तर्गत गुरु नानक विश्वविद्यालय द्वारा लगाई शर्तों से मुक्त करने के लिये उच्चतम न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की गई थी। डी.ए.वी. कॉलेज भटिण्डा की याचिका पर धारा 29 के अन्तर्गत विचार किया गया इस धारा के अनुसार अपनी पृथक् भाषा और लिपि के आधार पर कोई भी अल्पसंख्यक संगठन अपनी शिक्षण सस्थाएं बिना उपरोक्त नियन्त्रण के संचालित कर सकता है। पंजाब में हिन्दुओं और विशेष कर आर्यसमाजियों की धार्मिक भाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी है। यह एक जाँच आयोग द्वारा भी स्वीकार किया जा चुका है जब कि वहाँ के बहुसंख्यक सिखों की भाषा पंजाबी और लिपि गुरुमुखी है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने डी.ए.वी. कॉलेज भटिन्डा पर विश्वविद्यालय द्वारा लगाई गई शर्तों को धारा 29 के विपरीत घोषित करके निरस्त कर दिया किन्तु अपने निर्णय में यह भी कहा कि आर्यसमाज यद्यपि पंजाब में हिन्दू समाज का अंग है फिर भी वह एक धार्मिक अल्पसंख्यक संस्था भी है। इसलिए धारा 29 और 30 दोनों के अन्तर्गत दिये गए विशेष अधिकार इस कॉलेज को प्राप्त हैं। पिछले अध्याय में इन दोनों धाराओं की समानता और भिन्नता पर विचार करते हुये यह स्पष्ट किया जा चुका है कि धारा 29 में अपनी पृथक् भाषा होने के आधार पर भारत के नागरिक अपनी पृथक् और स्वतन्त्र शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर सकते हैं। 29 धारा के लिए धार्मिक अल्पसंख्यक होने की अवाश्यकता नहीं है। इसलिए डी. ए. वी, कॉलेज भटिण्डा के उपरोक्त निर्णय में केवल इतना कहना ही पर्याप्त होता कि पंजाब में आर्यसमाजियों की अपनी नागरी लिपि तथा हिन्दी भाषा है इसलिए डी. ए. वी. कॉलेज भटिण्डा विश्वविद्यालय द्वारा लगाये उपरोक्त

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

बन्धनों से धारा 29 के अनुसार मुक्त है, किन्तु उच्च न्यायालय ने अपने
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
फैसले में आर्यसमाज को एक धार्मिक अल्संख्यक भी घोषित किया और इस प्रकार धारा 30 में भी उसके विशेष अधिकार का समर्थन किया। इतना ही नहीं राज्य सरकार ने जब ये आपत्ति की आर्यसमाज न तो एक भाषायी और न ही एक धार्मिक अल्पसंख्यक (मायनारिटि) है बल्कि वह एक धार्मिक समूह (डिनोमिनेशन) भी नहीं है तो उन्हें भी निरस्त करते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा कि इस मामले में इस बात पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि आया आर्यसमाज धारा 26 के अनुसार कोई पृथक् धार्मिक (डिनोमिनेशन) समूह है या नहीं और न ही इस पर विचार करने की आवश्यकता है तो वह कोई भाषायी अल्पसंगठन है या नहीं, हमारी राय में यदि आर्यसमाज यह सिद्ध कर देता है कि एक बहधार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय (मायनोरिटि) है तो धरा 30 में संरक्षण सम्बन्धी उनकी मांग स्वीकार करने योग्य है।

स्पष्ट है कि उच्च न्यायालय द्वारा उल्लेखित यह मापदण्ड आर्यसमाज ने पूरा कर दिया था कि धारा 30 के अनुसार भी वह एक धार्मिक अल्पसंख्यक है यद्यपि धारा 29 के अन्तर्गत इस मामले में ऐसा सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। न्यायालय की इस विचार धारा से भी आर्यसमाज धार्मिक अल्पसंख्यक होना सिद्ध होता है। यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि न्यायालय ने आर्यसमाज को पंजाब में हिन्दू कम्यूनिटी का अंग कहा है। हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदयाय नहीं कहा अन्यथा इतना ही कहना पर्याप्त होता कि चुंकि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का अंग है और हिन्दू पंजाब में अल्पसंख्य हैं इसलिए वह भी धारा 30 के संरक्षण अधिकारी है। उसने आर्यसमाज को हिन्दू धर्म के स्थान में हिन्दू कम्यूनिटी का अंग कहा और इस प्रकार हिन्दू धर्म से उसे सम्बिन्धित नहीं किया और साथ ही आर्यसमाज के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से रिलिजस मैनोरिटी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
विशेषण का उपयोग किया। इस प्रकार आर्य समाज की इस मान्यता की पुष्टि होती है कि चाहे वह हिंदू कम्यूनिटी या हिन्दू समाज का अंग या भाग भले ही हो किन्तु वह हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय नहीं है।

डी. ए. वी. कालेज जालन्धर

डी. ए. वी. कालेज जालन्धर सम्बंधी 1971 का ही दूसरा निर्णय भटिण्डा सम्बंधी निर्णय से भी अधिक स्पष्ट और महत्व का है। यह मामला केवल धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यक होने के आधार पर न्यायालय में प्रस्तुत हुआ था, जिसमें स्पष्ट रुप से यह प्रश्न विचाराधीन था कि क्या आर्य समाज एक ऐसा धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है जिसे अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों की शिक्षण संस्थाओं के समान वे विशेष अधिकार प्राप्त हैं जो संविधान की धारा 30 में उन्हें को दिए गए हैं।

उच्चतम न्यायालय ने इस विवाद में अपना निर्णय देते हुए कहा है कि "आर्यसमाज ने स्मृतियों की अनेक मूर्खतापूर्ण बातें तथा अन्य परम्परागत विश्वासों का निषेध किया है और प्राचीन साहित्य पर आधारित एक अधिक तर्कपूर्ण तथा विशुद्ध धर्म का प्रतिपादन करके यह सिद्ध कर दिया है कि वह एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है। कम ने कम हिन्दू अल्पसंख्यक का भाग होने के कारण पंजाब में तो है ही।" अपने निर्णय के पैरा 16 में यह निष्कर्ष उच्चतम न्यायालय ने इससे पूर्व आर्यसमाज की ऐताहासिक पृष्ठभूमि और सैद्धान्तिक मान्यताओं का विवेचन करके निकाला है किन्तु 'कम से कम' के लिए अंग्रेजी के at any rate इस वाक्यांश का गलत अर्थ लगाकर, देहली उच्च न्यायालय ने उसका यह अर्थ निकाला कि इस निर्णय में आर्यसमाज को केवल पंजाब में ही अल्पसंख्यक माना है और वह भी इसलिए कि वहां हिन्दू भी अल्पसंख्यक हैं। At any rate का किसी भी अर्थ में only यानी केवल अर्थ नहीं होता और न ही यह अर्थ होता है कि आर्य समाज हिन्दू धर्म का अंग होने के कारण ही वहां अल्पमत में है। अंग्रेजी के अधिकृत कोश "The Oxford" इंग्लिश डिक्शनरी के भाग 8 के पृष्ट 163 पर rate शब्द के अन्तर्गत इस वाक्यांश अर्थात् At any rate के 5 अर्थ दिए गए हैं किन्तु उनमें से किसी के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

भी आधार पर भी इसका 'केवल' या 'सिर्फ' यह अर्थ नहीं निकल सकता।
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
वस्तुत: उसका एक अर्थ At least—दिया गया है जिसका हिन्दी भाषा में सही भाषान्तर या रूपान्तर "कम से कम" ही हो सकता है। At Any rate के अन्य अर्थों से भी यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

इसके अनुसार उसका अर्थ यह है कि जो निर्णय या बात कही गई है उसके सम्बन्ध में किसी अन्य कारण कोई आशका भी हो तो कम से कम दूसरे कारण से तो उसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता अर्थात् आर्यसमाज अपनी धार्मिक मान्यताओं के आधार पर अल्पसंख्यक है यह निर्विवाद या सही हैं किन्तु यदि इस इस बारे में कोई शंका भी हो तो कम से कम पंजाब में इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता क्योंकि वहां हिन्दू भी अल्पसंख्यक हैं। देहली उच्च न्यायालय के निर्णय की समीक्षा सम्बंधी दूसरे अध्याय में हम इस बारे में और अधिक प्रकाश डालेंगे। विशेषकर प्रसिद्ध विधिवेत्ता श्री सिरवई की सम्मति के बाद हमारी मान्यता की स्पष्ट पुष्टि हो जायगी यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि उच्चतम न्यायालय ने धर्म के मापदण्ड के आधार पर पहले यह निष्कर्ष निकाला कि आर्यसमाज एक पृथक् धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है और चूंकि उसके सामने पंजाब में आर्यसमाजियों की स्थिति का प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय था इसलिए अपने निर्णय की और अधिक पुष्टि करते हुए यह भी कहा कि कम से कम पंजाब में तो आर्यसमाज अल्पसंख्क है ही। जैसा हम देख चुके हैं कि उसी दिन डी.ए.वी. कालेज भटिण्डा सम्बन्धी निर्णय भी सुनाया गया था, जिसमें उच्चतम न्यायालय ने अपने इसी आधारभूत निष्कर्ष के कारण यह कहा था कि यदि आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसंख्क संगठन सिद्ध होता है तो इस आधार पर भी उसे धारा 30 के अन्तर्गत धारा 29 के भी विशेष अधिकार प्राप्त हैं और इसलिए धारा 29 में भाषायी अल्पमत या धारा 26 में धार्मिक समूह के बारे में विचार करने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं इस निर्णय में यह स्पष्ट रूप से कहा है गया कि "आर्यसमाज द्वारा धार्मिक अल्पसंख्यक होने का दावा हमें सही प्रतीत होता है जैसा नीचे लिखे कारणों से भी जाहिर है।" इसके बाद निर्णय के बाकी के 3 अनुच्छेदों मे इन कारणों

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का उल्लेख करते हुए आर्यसमाज के सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है जिसमे उसके एकेश्वरवाद का भी जिक्र है साथ ही एक अन्य कारण यह भी बताया गया कि आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों का आधार वेदों के उस अर्थ पर है जो स्वामीजी ने किया है। इसी प्रकार वैदिक उपासना और यज्ञ आदि का भी उल्लेख किया गया है। अनुच्छेद 15 में इस बात का भी उल्लेख है कि आर्यसमाज जाति प्रथा के विरुद्ध है। उसके द्वारा श्रेष्ठ प्रकार के स्कूल और कालेज संचालित हैं जिनमें वेदों की शिक्षा जी जाती है। अंत में स्वामी दयानन्द की तुलना ईसाई धर्म सुधारक मार्टिन लुथर से करने के बाद यह कहा गया है कि स्वामी दयानन्द ने न केवल मूर्तिपूजा का विरोध किया अपितु ब्राह्मणवाद और स्मृतियों के एकाधिकार का भी खण्डन किया है जैसा मार्टिन लुथर ने रोमन चर्च का विरोध करके किया।

अनुच्छेद 16

हमने प्रारम्भ में इस उच्चतम न्यायालय के जिस निष्कर्ष को उद्धृत किया है वह इन 13, 14 एवं 15 अनुच्छेदों में दिये गये कारणों के आधार पर ही अनुच्छेद 16 में दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि न्यायालय का यह निर्णय इन तीन पूर्व के अनुच्छेदों में आर्यसमाज की धार्मिक भिन्नताओं और विशेषताओं के विश्लेषण का परिणाम था। वस्तुतः अनुच्छेद 16 में दिया गया यह निष्कर्ष उसके प्रारम्भिक वाक्य से भी स्पष्ट और असदिग्ध हो जाता है। उच्च न्यायालय ने अनुछेद 16 के प्रथम वाक्य में ही कहा है कि ऊपर जो कुछ कहा गया उससे स्पष्ट होता है कि इस बात में कोई संदेह नहीं हो सकता कि आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसंख्यक (Religious Menority) है।

पंजाब में हिन्दुओं का अल्पमत

यदि आर्यसमाज को एक धार्मिक अल्पसंख्यक घोषित करने का आधार यही होता कि पंजाब में हिन्दु अल्पमत में हैं तो आर्यसमाज के धार्मिक मन्तव्यों और विशेषताओं पर इन पूर्व के अनुच्छेदों में विस्तार से विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। देश के सबसे ऊँचे न्यायालय

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि उसने अपना मूल्यवान् समय इस प्रकार का अनावश्यक विवेचन करने में किया हो। यदि उनके निर्णय का केवल यही आधार होता कि चूंकि पंजाब में हिन्दू अल्पसंख्क हैं इसलिए आर्यसमाज भी अल्पसंख्यक है तो यह सब विवेचन निरर्थक हो जाता है। सरकार और विश्वविद्यालय के विरुद्ध आर्यसमाज के डी.ए.वी. कालेज द्वारा दाखिल की गईया चिका का निर्णय केवल इतना कहकर भी किया जा सकता था कि पंजाब में हिन्दू अल्पसख्या में हैं स्वयं पंजाब सरकार ने प्रारम्भ में ही यह बात स्वीकार कर ली थी कि उस राज्य में हिन्दू एक धार्मिक अल्पसंख्यक हैं। इसके बाद ऐसी स्थिति में आर्यसमाज की भिन्न धार्मिक मान्यताओं का विवेचन और भी अनावश्यक था।

इतना ही नहीं निर्णय के अनुच्छेद 11, 12 में. उच्च न्यायालय ने स्पष्ट रूप से यह प्रश्न उठाया था कि क्या आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसंख्क है और उसका उत्तर देने के लिए आर्यसमाज के सिद्धान्तों का विवेचन करने के बाद ही उसने इस तथ्य को स्वीकार किया। न्यायालय पंजाब में हिन्दुओं के अल्पसंख्यक होने के निर्विवाद तथ्य के स्थान में आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों का विवेचन इसीलिए किया ताकि उनके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर दिया जा सके, कि क्या आर्यसमाज एक प्रथक् धार्मिक अल्पसंख्क संगठन है? इसमें सन्देह नहीं कि निर्णय में हिन्दू कम्यूनिटी के अतिरिक्त हिन्दू रिलिजिअस शब्द का भी उपयोग किया गया है, लेकिन इन सब तथ्यों के संदर्भ में उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। अक्सर हिन्दू शब्द धर्म और कम्यूनिटि दोनों के साथ प्रयुक्त होता है। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लें कि पंजाब में हिन्दू धर्म के अनुयायियों के अल्पसंख्यक होने के कारण आर्यसमाज को भी धार्मिक अल्पसंख्यक कहा गया है तो भी उसके साथ कम से कम शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि उच्चतम न्यायालय ने अपने तर्कपूर्ण निर्णय को असंदिग्ध रूप से प्रकट करने के लिए ही यह अतिरिक्त सावधानी बरती है अर्थात् पंजाब में हिन्दुओं के अंग रूप में भी आर्यसमाज को अल्पसंख्य कहा जा सकता है किन्तु इस सावधानी के कारण न्यायालय के आधारभूत

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिन्दू समुदाय या धर्म—

इस प्रकार स्वयं उच्चतम न्यायालय ने भटिण्डा के केस में आर्यसमाज को पंजाब में हिन्दू कम्यूनिटि अर्थात् हिन्दू समाज का अंग कहा है जो उसकी वास्तविक मान्यता के अधिक अनुकूल है। वस्तुतः आर्यसमाज को न्यायालय हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय इसलिए भी नहीं मान सकता था क्योंकि ऐसा करने के लिए यह आवश्यक था कि पहले हिन्दू धर्म क्या है यह स्पष्ट किया जाता। हिन्दू और हिन्दूसमाज को पहचानना आसान है किन्तु हिन्दू धर्म की व्याख्या करना कठिन कार्य है। धारा 30 का सम्बन्ध एक धार्मिक अधिकार से है न कि किसी नागरिक या सामाजिक अधिकार से। इसलिए उसके अन्तर्गत दिये गए अधिकार का विवेचन हिन्दू धर्म क्या है, यह स्पष्ट किए बिना संभव नहीं था। इसी प्रकार यदि हिन्दू धर्म कानूनी अर्थ में कोई धर्म है तो वह वास्तव में सनातन धर्मावलम्बियों का पौराणिक धर्म ही है। मूर्तिपूजा, जात-पांत, श्राद्ध तीर्थ, तर्पण तथा अन्य कर्मकाण्डों को जो इस हिन्दू धर्म की आवश्यक मान्यताएं हैं उसका आर्यसमाज ने किस प्रकार निषेध किया यह कह कर उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया कि आर्यसमाज इस धर्म का अंग या सम्प्रदाय नहीं है। वैसे भी बोलचाल की भाषा में आर्यसमाज को हिन्दू या हिन्दूसमाज का अंग कहने के स्थान में केवल हिन्दू धर्म का अंग कहने मात्र से वह इस पौराणिक धर्म का अंग या अनुयायी नहीं बन सकता जिसका वह अत्यन्त स्पष्ट और कड़े शब्दों में विरोध और निषेध करता है। धर्म और सैक्ट या सम्प्रदायों जैसे शब्दों का अनिश्चित अर्थों में न्यायालयों और यहां तक कि हमारी संविधान सभा में भी प्रयोग किया गया है। इसलिए उड़ीसा उच्च न्यायालय ने अपने 1959 के एक निर्णय में तथा माइसौर उच्च न्यायालय ने 1970 के दूसरे निर्णय में इस बात को स्पष्ट किया है कि सैक्ट या सम्प्रदाय न केवल धर्म के एक अंग या भाग के रूप में उपयुक्त किये जा सकते है बल्कि किसी बड़े पृथक् धर्म के भी यह शब्द पर्यायवाची है। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म भी है और एक सैक्ट और सम्प्रदाय भी है। इसलिए किसी स्थान पर आर्यसमाज के लिये सैक्ट जैसे अनिश्चित शब्द के प्रयोग

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

मात्र से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि वह एक पृथक वैदिक धर्म का प्रतिनिधित्व नहीं करता और वह तथाकथित हिन्दू धर्म का ही एक अंग मात्र है।
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्चतम न्यायालय के ऊपर उल्लेखित अनुच्छेदों में इसलिए केवल आर्यसमाज की उन विशेष मान्यताओं और सिद्धान्तों का ही विवेचन किया गया है जिससे यह सिद्ध हो सकता था कि वह तथाकथित हिन्दू धर्म से पृथक् अल्पसंख्यक धर्म का प्रतिपादक है। दूसरी ओर यदि न्यायालय को यह अभिप्रेत होता कि आर्यसमाज को पंजाब में हिन्दू अल्पसंख्यक धर्म का एक सैक्ट या सम्प्रदाय मात्र सिद्ध किया जाये तो न्यायालय हिन्दू धर्म से उसकी समानताओं का विवेचन करता भिन्नताओं का नहीं। इसलिए इस स्थिति में ऐसा करना अनिवार्य था वस्तुतः इस सम्बन्ध में और अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि जैसा हमने ऊपर बताया है कि यदि उच्चतम न्यायालय की यही मंशा या मान्यता होती कि आर्यसमाज को पंजाब में हिन्दू अल्पसंख्यक धर्म का अंग सिद्ध करना है तो वह केवल एक ही वाक्य में यह कह कर किया जा सकता था कि पंजाब में हिन्दू अल्पसंख्यक हैं इसलिये आर्यसमाज भी उसके अंग के रूप में अल्पसंख्यक है। क्योंकि न्यायालय की मान्यता इससे भिन्न थी इसलिये उसने आर्यसमाज की धार्मिक मान्यताओं का उदाहरण देकर हिन्दू धर्म से उसकी भिन्नता स्पष्ट की है। इतना नहीं यदि हम उस निर्णय को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो यह स्पष्ट होगा कि उस लम्बे फैसले में ऐसे अनेक अवसर थे जब न्यायालय आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का अंग या सम्प्रदाय कह सकता था यदि उसकी यही मान्यता होती तो इन अवसरों पर ऐसा कहना आवश्यक था किन्तु इन सब अवसरों पर विद्वान् न्यायाधीशों ने आर्यसमाज के पृथक् और भिन्न धार्मिक अस्तित्व पर ही जोर दिया है और इस प्रकार इस प्रश्न पर संदेह के लिए कोई गुंजाइस नहीं रखी। उदाहरण के लिए फैसले के अनुच्छेदों में वे कहते हैं कि स्वामी दयानन्द आर्यसमाज नामक संगठन के संस्थापक थे जिसके सम्बन्ध में यह दावा किया गया कि उसका निश्चित धार्मिक कार्यक्रम है। और उसके संस्थापक की इन धार्मिक शिक्षाओं और दार्शनिक मान्यताओं का प्रसार करने के लिए उसके संविधान की रचना की गई है। आर्यसमाज का यह भी दावा है कि

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उसका अपना दर्शन है और ईश्वर और उसकी उपासना की मान्यता है तथा धार्मिक द्धिद्धान्त है, उसके सामाजिक तथा शैक्षणिक कार्यक्रम हैं। आगे फिर लिखा है कि उसकी शिक्षक संस्थाएँ धर्म और भाषा पर आधारित अल्पसंख्यक हैं क्योंकि वह आर्यसमाज के धर्म की भिन्न अनुयायी हैं। इन स्थापनाओं को स्वीकार करते हुए न्यायालय ने प्रश्न उठाया कि क्या उसकी शिक्षण संस्थाएँ धर्म और भाषा के आधार पर स्थित एक अल्पसंख्यक समुदाय द्वारा स्थापित और संचालित हैं ? इसके पश्चात् निर्णय में धारा 29 और 30 को उद्धृत करते हुए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि इसमें उल्लेखित अधिकार केवल इसी प्रकार के अल्पसंख्यकों के लिए दिये गए हैं।

अनुच्छेद 12 में "पंजाब के समस्त हिन्दू और आर्यसमाजी" यह वाक्य भी कम महत्व का नहीं है क्योंकि समस्त हिन्दुओं में आर्यसमाजियों को सम्मिलित करने के स्थान में, "समस्त हिन्दू और आर्यसमाजी" यह कहा गया है न कि यह कि आर्यसमाजियों सहित पंजाबके समस्त हिन्दू। अनुच्छेद 17 में इस मुद्दे पर विचार करते हुये कि क्या आर्यसमाज धारा 26 के अन्तर्गत एक धार्मिक समूह या संप्रदाय (डिनोमीनेशन) भी है ? इस विषय में न्यायालय का यह कहना है कि हो सकता है कि वह इस परिभाषा में आता हो किन्तु चूंकि हमने यह स्वीकार किया है कि आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसख्यक है इसलिए इस बात पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है कि अल्पसंख्यक होने के अतिरिक्त वह एक धार्मिक समुदाय भी है क्योंकि सविधान की धारा 30 में यह प्रश्न विचारणीय नहीं है। न्यायालय का यह तर्क बड़े महत्व का अर्थ रखता है, क्योंकि यदि न्यायालय अप्रत्यक्ष रूप से भी यह कहना चाहता कि आर्यसमाज पंजाब में हिन्दू धर्म का अंग है तो यही अवसर था जब उसे यह कहना चाहिए था कि वह एक 'डीनोमीनेशन या सम्प्रदाय है। इस प्रकार यदि आर्यसमाज, हिन्दू धर्म से पृथक् या स्वतन्त्र, धार्मिक अल्पसंख्यक (रिलिजिस मैनोरिटि) स्वीकार नहीं किया गया होता तो निर्णय में सर्वत्र आर्यसमाज के लिए यह कानूनी वाक्य अर्थात् "रिलिजिस मैनोरिटी" का उपयोग करने के स्थान में

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
धारा 26 के संदर्भ में यह कहना उपयुक्त और आवश्यक था कि आर्य समाज अल्पसंख्यक अर्थात् मैनोरिटी न होकर हिन्दू धर्म का एक अंग अर्थात् "डीनोमीनेशन" है जैसा धारा 26 में कहा गया है। किन्तु ऐसा कहने के स्थान में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि चूंकि हम आर्यसमाज को एक रिलिजिस अर्थात् धार्मिक अल्पसंख्यक मानते हैं इसलिए उसके "डीनोमिनेशन" अर्थात् एक सम्प्रदाय या समूह होने के प्रश्न पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं धारा 26 के स्थान में धारा 30 को ही अपने निर्णय का आधार मानकर न्यायालय ने पुनः इस बात की पुष्टि की है कि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाएं धार्मिक अल्पसंख्यक की परिभाषा में ही आती हैं। निर्णय के अनुच्छेद 13 का निष्कर्ष निकालते हुए पुनः कहा गया है "कि हम पहले ही यह स्वीकार कर चुके हैं कि आवेदनकर्त्ता कि संस्था धार्मिक अल्पसंख्यकों द्वारा स्थापित की हुई हैं और इस लिए धारा 30 के अन्तर्गत उन्हे यह अधिकार है कि वे अपनी इच्छानुसार इन शिक्षण संस्थाओं का प्रवन्ध करें।" आर्यसमाज को धार्मिक अल्पसंख्यक कहने के लिए या मानने के लिए इससे अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध रूप में और क्या कहा जा सकता था? इन सब अनुच्छेदों में एक स्थान पर भी आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का सैक्ट या सम्प्रदाय नहीं कहा गया और अनुच्छेद 16 में जहां 'हिन्दू धर्म' शब्द का उपयोग किया गया है उसमें भी At any rate अर्थात् कम से कम यह विशेषण लगाकर मुख्य मान्यता की ही पुष्टि की गई है, जैसा हम स्पष्ट कर चुके हैं।

धारा 30 का आधार धार्मिक अल्पसंख्यक ही है

उच्चतम न्यायालय के डी.ए.वी. कॉलेज सम्बन्धी दोनों निर्णय एक अन्य दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं। संविधान की धारा 29 और 30 दोनों में ही भाषायी अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने का अधिकार दिया गया है किन्तु निर्णय में कहा गया है कि धारा 30 के अन्तर्गत यह आवश्यक नहीं है कि अल्पसंख्यक धर्म तथा भाषा दोनों के आधार पर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अल्पसंख्यक हों। दूसरे शब्दों में धार्मिक या भाषायी अल्पसंख्यक दोनों में से कोई भी एक आधार इस धारा 30 में दिये गए एक अधिकार प्राप्त करने के लिए पर्याप्त है। ऐसी स्थिति में डी.ए वी. कालेज जालन्धर की धारा 30 में प्रस्तुत याचिका को भी उच्चतम न्यायालय केवल इतना ही कह कर स्वीकार कर सकता था कि डी.ए.वी. कॉलेज भटिण्डा के केस में आर्यसमाज एक भाषायी अल्पसंख्यक मान लिया गया है इसलिए वह धार्मिक अल्पसंख्यक भी है या नहीं इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः धारा 26 के सम्बन्ध में यही तर्क देकर न्यायालय ने आर्यसमाज, एक सम्प्रदाय है या नहीं इस पर विचार करना तक अनावश्यक कहा। इसलिए यह बड़े निर्णायिक महत्व की बात है कि उच्चतम न्यायालय ने आर्यसमाज को एक धार्मिक अल्पसंख्यक स्वीकार करके ही धारा 30 में यह याचिका स्वीकार की जब कि उसे भाषायी अल्पसंख्यक मानकर भी इसी धारा अर्थात् 30 में यह याचिका भी स्वीकार की जा सकती थी जैसी डी.ए.वी. कॉलेज भटिण्डा की याचिका में किया गया।

इस प्रकार डी. ए. वी. कॉलेज भटिण्डा के केस में आर्यसमाज को भाषायी अल्पसंख्यक के आधार पर विशेष अधिकार दिए गये और डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर सम्बन्धी याचिका में उसे एक धार्मिक अल्पसंख्यक मानकर उसकी शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 के अन्तर्गत ही यह अधिकार दिया गया अर्थात् पंजाब में न्यायालय ने आर्यसमाज को भाषायी और धार्मिक अल्पसंख्यक पृथक्-पृथक् रूप में स्वीकार किया। यहाँ प्रश्न यह है कि उसने ऐसा क्यों किया? जबकि केवल भाषायी अल्पसंख्यक मानकर भी उसे धारा 29 और 30 दोनों में यह समान अधिकार दिया जा सकता था। इसका एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह कि उच्चतम न्यायालय अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करना चाहता था कि भाषायी अल्पसंख्यक होने के अतिरिक्त आर्यसमाज हिन्दू बहुसंख्यकों से पृथक् एक स्वतन्त्र धार्मिक अल्पसंख्यक संस्था भी है। एक और बात से भी इस निष्कर्ष को

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्टि होती है। अनुच्छेद 18 में देव नागरी में हिन्दी को केवल आर्यसमाज की ही धार्मिक भाषा स्वीकार किया गया है। पंजाब के अन्य हिन्दुओं की नहीं। अनुच्छेद 11 में पंजाब में भाषा सम्बन्धो विवाद का हवाला देते हुए पंजाब सीमा आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री शाह की निम्नलिखित सम्मति उद्धृत की गई है अर्थात् "पंजाब के हिन्दू स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज आन्दोलन से प्रभावित हो गए और स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सत्यार्थप्रकाश के प्रकाशित होने के बाद देवनागरी लिपि में हिन्दी का प्रचार किया गया और इस प्रकार हिन्दुओं के एक भाग की दृष्टि में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को धार्मिक आधार प्राप्त हो गया।"

हिन्दी धार्मिक भाषा

न्यायमूर्ति शाह ने स्पष्ट किया है कि पंजाब में समस्त हिन्दू देवनागरी लिपि और हिन्दी को अपनी धार्मिक भाषा नहीं समझते थे बल्कि उनका एक भाग जो स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज का अनुयायी था वही इसे अपनी धार्मिक भाषा मानता है। पंजाब में हिन्दुओं का एक समुदाय ऐसा भी है जो पंजाबी को अपनी भाषा मानता है। वस्तुतः जनसघ और बाद में भारतीय जनता पार्टी के समर्थक हिन्दुओं ने आर्यसमाजियों द्वारा अपनी भाषा हिन्दी होने का आग्रह करने के लिए उनकी समालोचना की। जैसा सिख करने लगे हैं यदि हम मान भी लें कि पंजाब के अन्य हिन्दू भी देवनागरी लिपि में हिन्दी को अपनी भाषा स्वीकार करने लगे हैं तो भी उनके और आर्यसमाज के दृष्टिकोण में अन्तर है। जहां आर्यसमाज देवनागरी में हिन्दी को अपनी धार्मिक भाषा भी मानता है, क्योंकि जैसा न्यायमूर्ति शाह ने कहा है कि, आर्यसमाज का धर्मग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश देवनागरी लिपि और हिन्दी भाषा में लिखा गया है। तो दूसरी ओर पंजाब के अन्य हिन्दू उसे अपनी मातृभाषा या प्रादेशिक भाषा के रूप में ही स्वीकार करते हैं जैसे गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी वहां की प्रादेशिक भाषा है धार्मिक नहीं कहने का तात्पर्य यह है कि समस्त हिन्दुओं की हिन्दी धार्मिक भाषा नहीं है। यहां तक कि सहजधारी सिख और सिंधी आदि जो ग्रन्थ साहब को अपनी धार्मिक पुस्तक मानते है उनके लिए गुरुमुखी

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

पंजाबी ही उनकी धार्मिक भाषा है। बंगाल और विशेषकर मद्रास में तो वहां के हिन्दू भी हिन्दी भाषा का कड़ा विरोध करते हैं। किन्तु आर्यसमाज के अनुयायी वहां भी देवनागरी लिपि और हिन्दी को अपनी धार्मिक भाषा मानते हैं इसलिए पंजाब में भी केवल इस भाषायी भिन्नता के आधार पर वे अल्पसंख्यक हिन्दुओं के साथ अल्पसंख्यक स्वीकार नहीं किये गये बल्कि अपनी धार्मिक पृथक्ता के आधार पर उन्हें यह मान्यता दी गई थी क्योंकि हिन्दी उनकी धार्मिक भाषा भी है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य शिक्षण संस्थाएं और हिन्दी

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाएं चाहे वे गैर हिन्दी भाषा-भाषी राज्यों या देश के बाहर विदेशों में हो उन सब में देवनागरी लिपि और हिन्दी अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती है उसका कारण भी यही हैं कि स्वामी दयानन्द के आदेशानुसार हिन्दी जिसे वे आर्यभाषा कहते थे उनके अनुयायियों की धार्मिक भाषा है। स्वामीजी के समस्त ग्रंथ और सत्यार्थप्रकाश इस लिए हिन्दी में लिखे गए हैं यद्यपि उनकी मातृभाषा गुजराती थी। आर्य-समाज के उपनियमों में भी यह स्पष्ट आदेश है कि उसकी सारी कार्य-वाही आर्यभाषा अर्थात् हिन्दी में की जायेगी। आर्यसमाज के उपनियमों की धारा—17 में इसे अनिवार्य रूप से स्वीकार किया गया है। आर्यसमाज के लिए इसलिए हिन्दी का वही महत्त्व है जो सिखों के लिए गुरुमुखी का। गैर हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों में इसलिए आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को धारा—29 के अन्तर्गत वही अधिकार प्राप्त हैं जो धार्मिक अल्पसंख्यक होने के आधार पर धारा 30 में प्राप्त हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देहली न्यायालय के निर्णय की समीक्षा

सन् 1973 में देहली सरकार ने एक Delhi education code अर्थात् "देहली शिक्षा अधिनियम" पारित किया था। इसके अनुसार अन्य अनेक बातों के अतिरिक्त गैर शिक्षण संस्थाओं पर सरकार द्वारा उनकी प्रबंध समितियों का निर्माण, उनमें की जाने वाली नियुक्तियों और उनके सम्बन्ध में की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही के जो अधिकार इन संस्थाओं को प्राप्त थे उन सबमें शिक्षा विभाग द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण बन्धन लगाये गये और कई महत्वपूर्ण मामलों का अन्तिम अधिकार शिक्षा विभाग को दिया गया। यहाँ तक कि विद्यार्थियों के प्रवेश के सम्बन्ध में भी शिक्षा विभाग को हस्तक्षेप करने का प्रावधान किया गया। इन सब शर्तों से अल्पसंख्यक मुसलमान, ईसाई आदि धार्मिक संगठनों द्वारा संचालित संस्थाओं को धारा 30 के कारण मुक्त रखा गया।

देहली में आर्यसमाज की सबसे अधिक गैर सरकारी शिक्षण संस्थाएं हैं। कुछ सिखों और जैन संगठनों द्वारा भी संचालित हैं। आर्यसमाज सिख और जैन तीनों की ओर से इसलिये देहली उच्च न्यायालय में धारा 30 के अन्तर्गत याचिकाएं दी गईं कि वे भी अल्पसंख्यकों की परिभाषा में आते हैं इसलिए ईसाई संस्थाओं के समान उन्हें भी उनके आन्तरिक मामलों में उपरोक्त अधिनियम में उल्लेखित सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाय।

देहली उच्च न्यायालय ने अपने 1976 के निर्णय में जहाँ सिखों और जैन धर्मावलम्बियों की याचिकाएं स्वीकार करके उन्हें इस शिक्षा अधिनियम की उपरोक्त धाराओं से मुक्त कर दिया वहां आर्यसमाज की याचिका यह कह कर खारिज कर दी कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का एक सुधारवादी सम्प्रदाय है, कोई पृथक् धार्मिक संगठन नहीं है और चूंकि देहली में हिन्दुओं का बहुमत है इसलिए आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को धारा 30 में दिया गया संरक्षण नहीं दिया जा सकता।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व निर्णयों की उपेक्षा

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि बिहार, जहां दिल्ली के समान हिन्दुओं का बहुमत है, वहां के उच्च न्यायालय ने आर्यसमाज को हिन्दू धर्म से पृथक् एक धार्मिक अल्पसंख्यक संस्था स्वीकार किया है। इसी प्रकार डीएवी कॉलेज, भटिण्डा और विशेषकर जालन्धर के मामलों में उच्चतम न्यायालय ने भी आर्यसमाज की यह स्थिति स्वीकार की है।

इसलिए देहली उच्च न्यायालय का यह विपरीत निर्णय आश्चर्यजनक प्रतीत होना स्वाभाविक है। देहली उच्च न्यायालय ने न केवल आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का एक सम्प्रदाय घोषित किया अपितु 'धर्म' और 'अल्पसंख्यक' इन दोनों का भी विचित्र अर्थ करके आर्यसमाज की याचिका निरस्त कर दी।

देहली उच्च न्यायालय के निर्णय पर उन प्रश्नों के संदर्भ में समीक्षा करना आवश्यक है जिनके कारण उसने आर्यसमाज की याचिका अस्वीकार कर दी अर्थात् :—

1- क्या संविधान की धारा 30 में केवल वही अल्पसंख्यक आते हैं जिन्हें अंग्रेजी राज्य में विशेष राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। जैसा इस निर्णय में कहा गया है ?

2- क्या न्यायालय का यह निष्कर्ष भी सही है कि जिन अल्पसंख्यकों को यह अधिकार दिया गया है उनका सम्बन्ध उन्हीं धर्मों से है जिसे संविधान में परिभाषित किया गया है ?

3- क्या आर्यसमाज हिन्दू धर्म का ही एक सम्प्रदाय है जैसा देहली उच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा है और इस प्रकार आर्यसमाज देहली में बहुसंख्यक हिन्दुओं की श्रेणी में आता है जिसके लिए धारा 30 का संरक्षण उपलब्ध नहीं है ?

देहली उच्च न्यायालय ने इन तीनों प्रश्नों पर जो सम्मति व्यक्त की है वह कानून, तथ्य और संविधान तीनों दृष्टियों से असंगत और निराधार है इस-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
लिए इस निर्णय के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में आर्यसमाज की ओर से अपील दायर की गई जिसे विचारार्थ स्वीकार करने के बाद उच्चतम न्यायालय ने आपत्तिजनक धाराओं के सम्बंध में स्थगन आदेश जारी किया है अर्थात् जब तक अपील का निर्णय न हो तब तक देहली स्थित आर्यसमाज की सैकड़ों शिक्षण संस्थाओं पर देहली शिक्षा अधिनियम की अनेक धाराऐं लागू नहीं होगी जिन पर आपत्ति की गई है और जिनसे सिख और जैन संस्थाएं मुक्त हैं।

उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय आर्यसमाज की दृष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि यदि उच्चतम न्यायालय का निर्णय आर्यसमाज के पक्ष में होता है, जैसी कि पूर्ण आशा है, तो सारे देश में फैली आर्य शिक्षण संस्थाओं को वही संरक्षण मिलेगा जो ईसाई, मुसलमान, सिख, जैन तथा बौद्ध शिक्षण संस्थाओं को प्राप्त हैं।

संविधानिक का गलत अर्थ

देहली उच्च न्यायालय का उक्त निर्णय भारतीय संविधान के भी किस प्रकार प्रतिकूल है यह नीचे लिखे विवेचन से स्पष्ट हो सकेगा।

मैनोरिटी या अल्पसंख्यक कौन है ? क्या संविधान में उसका कोई विशेष अर्थ किया गया है ? इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए देहली उच्च न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि संविधान की धारा 30 में मायनोरिटी का एक विशेष अर्थ है जिसे न्यायालय ने टैकनीकल कहा है संविधान में इस विषय पर हुई चर्चा का हवाला देकर यह निर्णय दिया कि धारा 30 के अन्तर्गत मायनोरिटि अर्थात् अल्पसंख्यक समुदाय वही हैं जिन्हें 1933 में भारत सरकार कानून में पृथक् राजनैतिक अधिकार दिए गए थे। निर्णय के अनुच्छेद 9 में इसे और स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि, "मायनोरिटि" शब्द जो धारा 30 में धर्म के आधार पर प्रयुक्त किया गया है वह केवल उन धार्मिक अल्पसंख्यक समूहों का वाचक है जिन्हें स्वतन्त्र भारत के संविधान से पूर्व हिन्दुओं से पृथक् राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे जैसे मुसलमान और

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईसाई। चूंकि भारत में मायनोरिटि शब्द का उपयोग उसके इस राजनैतिक अर्थ में किया जाता रहा है, इसलिए उसका उपयोग आर्यसमाज जैसे हिन्दुओं के किसी समुदाय के लिए नहीं किया जा सकता।

बी. शिवराव द्वारा रचित "दी फ्रेमिंग ऑफ इण्डियाज कन्स्टीट्यूशन" नामक पुस्तक में संविधान सभा की कार्यवाही और निश्चयों का विवरण प्रकाशित किया गया है। यह पुस्तक चार भागों में इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन नई दिल्ली द्वारा सन् 1966 में प्रकाशित हुई है। यहाँ हम इसी पुस्तक के आधार पर श्री बी. शिवराव के नाम से संविधान सम्बन्धी तथ्यों को उद्धृत करेंगे।

सबसे पहले मायनोरिटि शब्द को ही लें। इस सम्बन्ध में संविधान सभा में जो विचार विनिमय और निर्णय लिया गया उससे स्पष्ट है कि देहली उच्च न्यायालय ने इस शब्द का जो अर्थ किया है वह संविधान सभा के विचारों के अनुकूल होना तो दूर सर्वथा विपरीत है। स्वाधीन भारत के संविधान में स्पष्ट रूप से ब्रिटिशकालीन पृथक् राजनैतिक अधिकारों को समाप्त करने का निश्चय किया गया है और यही कारण है कि ईसाई, मुसलमान आदि तथाकथित टैकनीकल मायनोरिटिज को सन् 1935 के अधिनियम के अन्तर्गत अंग्रेजों ने जो पृथक् निर्वाचन तथा आरक्षण का अधिकार दिया था वह समाप्त कर दिया गया। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि देहली न्यायालय ने अंग्रेजी राज्य के इस राष्ट्र विरोधी प्रावधान को अपने निर्णय का मुख्य आधार बनाना कैसे उपयुक्त समझा और वारबार इस बात को दोहराया जो वर्तमान संविधान के स्पष्ट प्रावधान ही नहीं अपितु उसकी भावना तक को चुनौती है। उदाहरण के लिए सिखों के पक्ष में निर्णय देते समय फैंसले के अनुच्छेद 33 में यह बात दोहराई गई है कि चूंकि मुसलमानों के समान 1935 के अधिनियम में सिखों को भी पृथक् निर्वाचन का अधिकार दिया गया था इसलिए धारा 30 के अन्तर्गत वे धार्मिक अल्पसख्यक की परिभाषा में आते हैं। श्री बी. शिव राव के ग्रंथ के चौथे भाग "ए स्टडीज" में धारा 30 सहित अन्य धाराओं में जिन मौलिक अधिकारों का इतिहास दिया गया

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है उससे यह स्पष्ट होता है कि संविधान सभा में जब कुछ धार्मिक अल्प-संख्यकों की ओर से उनके पृथक् राजनैतिक अधिकारों की मांग की गई तो संविधान सभा ने उसे अन्तिम रूप से अस्वीकार कर दिया। इतना ही नहीं मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में जब विचार हुआ तो धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक अधिकारों को राजनैतिक अधिकारों से सर्वथा पृथक् करके उन पर विचार किया गया। इसलिए इन धार्मिक अधिकारों का राजनैतिक अधिकारों से सम्बन्ध जोड़ना सर्वथा काल्पनिक प्रयास है। संविधान सभा ने अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में सिफारिश करने लिए एक पृथक् उपसमिति नियुक्त की थी और इस उप समिति ने दो पृथक् प्रश्नावलियाँ प्रसारित कीं उन्हें एक दूसरे से पृथक् रखकर उन पर अपनी रिपोर्ट पेश की। एक प्रश्नावली केवल धार्मिक, सांस्कृतिक और शैक्षणिक संरक्षणों से सम्बन्धित थी और दूसरी राजनैतिक संरक्षणों से।

इस ग्रंथ के पृष्ठ 754 पर इसलिए यह स्पष्ट किया गया है कि इस उप समिति ने उपरोक्त धार्मिक मौलिक अधिकारों पर विचार समाप्त कर लिया है और अब 21 जुलाई 1947 को उसकी बैठक राजनैतिक संरक्षणों के सम्बंध में विचार करने के लिए की गई। इतना ही नहीं संविधान की धारा 25 से 30 में दिए गए अधिकारों को मौलिक अधिकारों की पृथक् सूची में रखा गया। मुस्लिम लीग द्वारा उठाई गई देश के विभाजन की मांग जब पाकिस्तान के रुप में स्वीकार कर ली गई तो उसके बाद अल्पसंख्यकों को अलग राजनैतिक अधिकार देने के बारे में विचार तक करना अनावश्यक और अनुचित समझा गया। वस्तुतः मुस्लिम अल्पसंख्यकों को अखण्ड भारत में साथ रखने की दृष्टि से ही उनके राजनैतिक अधिकारों और विशेष संरक्षण की मांग पर विचार किया जा रहा था जब यह स्पष्ट हो गय कि मुस्लिम अल्पसंख्यक अपना पृथक् राज्य चाहते हैं तो शेष भारत में उन्हें कोई विशेष अधिकार देने की बात का प्रश्न ही नहीं रह जाता था। वस्तुतः देश के सब राष्ट्रीय नेता, इस प्रकार के पृथक् अधिकारों को अंग्रेज सरकार की बाटों और राज्य करो' की नीति का अवशेष मानते थे और केवल तत्कालीन स्थिति की विवशता को

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ध्यान में रख कर उस पर विचार कर रहे थे। किन्तु जब मुस्लिम लीग ने
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
संविधान सभा का बहिष्कार कर दिया, उसके बाद अन्य सदस्यों ने ऐसी मांगों पर जिन के आधार पर दिल्ली न्यायालय ने उन्हें अल्पसंख्यक माना है आगे विचार करने का जोरदार विरोध किया और उसी का परिणाम है कि संविधान सभा ने अंत में अल्पसंख्यकों को केवल कुछ विशेष धार्मिक अधिकार देना स्वीकार किया।

अनुसूचित जाति

धर्म के नाम पर किसी को पृथक् राजनैतिक अधिकार न देने के सम्बंध में संविधान सभा का मत इतना स्पष्ट और अंतिम था कि जब अनुसूचित जाति और जनजातियों को अन्य कारणों के आधार पर एक निश्चित समय के लिए राजनैतिक आरक्षण देने का निश्चय किया गया तो उनके लिए मायनोरिटि या अल्पसंख्यक शब्द का जानबूझकर प्रयोग नहीं किया गया क्योंकि अंग्रेजी काल में इस शब्द के साथ राजनैतिक पृथक्ता और विभाजन की भावना जुड़ी हुई थी। इस पृष्ठभूमि की उपेक्षा करके देहली उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों ने इतनी बड़ी भूल कैसे की यह समझना कठिन है। यह कहना उनके साथ अन्याय होगा कि उन्होंने जब संविधान निर्मातृ सभा का हवाला दिया तो वास्तव में उन्होंने उसकी कार्यवाही को ध्यान से पढ़ा ही नहीं था। अधिक संभावना इस बात कि है कि बौद्धिक पूर्वाग्रह के कारण उन्होंने अर्थ का यह अनर्थ किया है।

हमारे संविधान निर्माता यदि अनुसूचित जातियों को विशेष राजनैतिक अधिकार दिए जाने पर भी ब्रिटिशकालीन टेकनीकल अर्थ में मायनोरिटि का उपयोग करने के विरुद्ध थे तो यह कहना कि धारा 30 में गैर राजनैतिक अर्थात् धार्मिक अधिकार देते समय भी उनकी मंनशा इसी प्रकार के राजनैतिक अल्पसंख्यकों से थी तो यह एक बुद्धि और तर्क विरोधी बात होगी। वस्तुतः संविधान की धारा 26 में इसीलिए स्पष्ट रूप से मायनोरिटिज बेस्ड ऑन रिलिजन अर्थात् "धर्म पर आधारित अल्पसंख्यक" शीर्षक का उपयोग किया गया है। इस के पीछे भी स्पष्ट रूप

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
से यह भावना थी कि इन अल्पसंख्यकों को किसी भी दृष्टि से राजनैतिक अल्पसंख्यक न समझा या माना जाय अन्यथा पुनः अंग्रेजी शासन के इस राजनैतिक पृथक्ता के अभिशाप के बीज अंकुरित होंगे जिसने देश के विभाजन को जन्म दिया और जैसा संविधान सभा की कार्यवाही से स्पष्ट है कि मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान की मांग के आग्रह के पश्चात् संविधान सभा ने मुसलमानों के लिए पृथक् राजनैतिक अधिकारों पर विचार करना तक अनावश्यक समझा। इस सम्बन्ध में श्री बी. शिव राव ने 'ए स्टडी' के अध्याय 25 में मायनोरिटिज के शीर्षक से विस्तारपूर्वक संविधान सभा की कार्यवाही और निश्चयों का उल्लेख किया है। वे लिखते है कि "30 दिसम्बर 1948 को हुई अल्पसंख्यक उपसमिति की बैठक की रिपोर्ट के अनुसार कुछ सदस्यों ने अनुभव किया कि सलाहकार समिति ने 1947 में जो सिफारिशें की थीं उसके बाद परिस्थिति बदल गई है और इसलिए स्वाधीन भारत में मुसलमान ईसाई, सिख या अन्य किसी धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय के लिए स्थान सुरक्षित रखना उपयुक्त नहीं है। यद्यपि पृथक् निर्वाचित की पद्धति समाप्त होने के बाद देश के राजनैतिक जीवन का यह विष बहुत कुछ कम हो गया हैं किन्तु फिर भी यदि अल्पसंख्यकों के लिए स्थान सुरक्षित किए गए तो पृथक्तावाद की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलेगा और धर्मनिरक्षेप प्रजातन्त्र राज्य के आदर्श के यह बाद विपरीत होगी"।

पृष्ठ 770-71 पर पुनः यह उल्लेख है, कि इस रिपोर्ट से जाहिर है कि 11 मई को जो बैठक स्थगित हुई उसमें अनुसूचित जातियों के अतिरिक्त अन्य किसी अल्पसंख्यक समुदाय के लिए स्थान सुरक्षित करने की परिपाटी समाप्त करने का बहुत बड़े बहुमत से समर्थन किया गया। सरदार वल्लभ भाई पटेल ने इस निर्णय की 25 मई 1949 को हुई संविधान सभा की बैठक में सूचना दी।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि धारा 30 में निर्देशित अल्पसंख्यकों को दिए गए अधिकार का दूर से भी [कोई सम्बन्ध किसी प्रकार के राजनैतिक अधिकारों से नहीं था। वस्तुतः देहली न्यायालय ने स्वयं अपनी इस विचित्र

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
मान्यता का खण्डन किया है जब उसने यह स्वीकार किया कि ईसाइयों ने कभी पृथक् राजनैतिक अधिकार मागे हों, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुतः केवल ईसाई ही नहीं बल्कि जैन और पारसियों ने भी न ऐसे राजनैतिक अधिकार मागें और न उन्हें कभी दिए गए। किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा होने पर भी धारा 30 के अन्तर्गत उनका भी समावेश होता है स्वयं देहली उच्च न्यायालय ने भी उन्हें इस धारा के अन्तर्गत अल्पसंख्यक स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में केवल आर्यसमाज के सम्बन्ध में उसका यह तर्क सर्वथा काल्पनिक और तर्कशून्य है कि वह इस धारा के अन्तर्गत इसलिए नहीं आ सकता कि उसे कभी पृथक् राजनैतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। संविधान की उपरोक्त कार्यवाही से यह स्पष्ट है कि देहली उच्च न्यायालय ने इस धारा में उल्लेखित धार्मिक अल्पसंख्यकों की जो राजनैतिक परिभाषा करने का प्रयत्न किया है वह सर्वथा निराधार, अनुचित और पक्षपातपूर्ण है।

गैर राजनीतिक अल्पसंख्यक

एक और महत्वपूर्ण बात जो स्मरण रखने योग्य है वह यह कि संविधान में कहीं पर भी अल्पसंख्यक या मायनोरिटि की कोई परिभाषा करने का प्रयत्न तक नहीं किया गया जैसी देहली उच्च न्यायालय की धारणा है। इसके विपरीत डॉ. बी. एन. राव जो संविधान सभा के अधिकृत सलाहकार थे, उन्होंने स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि मायनोरिटि शब्द का संविधान की धाराओं में उपयोग तो किया गया है किन्तु संविधान में इसकी कहीं पर भी परिभाषा नहीं दी गई है वस्तुतः संविधान में मायनोरिटि शब्द की कोई सही परिभाषा करना मुश्किल था। भाषा, धर्म, और यहां तक कि समुदाय किसी भी आधार पर हो सकते है। अपनी इस आपत्ति के आधार पर उन्होंने यह शंका व्यक्त की कि क्या इस प्रकार के अपरिभाषित अल्पसंख्यकों को सांस्कृतिक और शैक्षणिक विशेष अधिकार दिया जाना और उन्हें मौलिक अधिकारों की श्रेणी में रखना उचित होगा?* किन्तु उनकी इस आपत्ति को स्वीकार नहीं किया गया जिसका

*देखें पृष्ठ 275

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभिप्राय यह हुआ कि धारा 30 में जिन अल्पसंख्यकों को विशेष अधिकार दिए गए हैं उनकी कोई निश्चित परिभाषा या लक्षण निर्धारित नहीं हैं और अन्य अनिर्णित अल्पसंख्यक भी उसके अन्तर्गत अल्पसंख्यक होने का दावा कर सकते हैं जिसका निर्णय तथ्यों के आधार पर करने का उत्तरदायित्व न्यायालयों पर है। शाब्दिक दृष्टि से अपेक्षाकृत थोड़ी संख्या का प्रत्येक समूह अल्पसंख्यक है यह निर्विवाद है किन्तु वह धार्मिक अल्पसंख्यक है या नहीं यह सिद्ध करना उसका उत्तरदायित्व है और न्यायालय उसके द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के आधार पर यह निर्णय करने में स्वतन्त्र है कि वह धार्मिक अल्पसंख्यक समूह है या नहीं। किन्तु देहली उच्च न्यायालय ने तर्क और तथ्यों के आधार पर निर्णय करने के स्थान में संविधान का निराधार हवाला देकर आर्यसमाज के सम्बंध में गलत निर्णय दिया है यह कहने में हमें कोई संकोच नहीं है।

कम्युनिटी या समूह

देहली उच्च न्यायालय ने इस प्रकार की एक और अन्य भूल यह भी कि जब उसने यह कहा कि पहले कम्युनिटि शब्द धारा 30 में था जिसे हटाकर मायनोरिटि शब्द रखा गया है तो उसका भी तात्पर्य यह था कि मायनोरिटि शब्द का अर्थ वही है जो देहली न्यायालय ने किया है। संविधान सभा की कार्यवाही से देहली न्यायालय की यह बात भी गलत सिद्ध होती है। श्री ठाकुरदास तथा उसके कुछ अन्य सदस्यों ने कम्युनिटि शब्द इसलिए हटाने का प्रस्ताव किया था कि उसके स्थान में वे 'रेस' और 'कास्ट' अर्थात् नस्ल और जाति शब्द रखना चाहते थे न कि इसलिए कि उसके स्थान में मायनोरिटि शब्द, जैसा देहली उच्च न्यायालय ने कहा है। इतना ही नहीं जयप्रकाश नारायण ने संविधान सभा में अपने सुझाव में मायनोरिटि और कम्युनिटि दोनों को एक प्रकार से पर्यायवाची बताया था तथा दोनों को किसी धार्मिक आधार पर विशेष अधिकार दिए जाने का विरोध किया था और यह भी कहा था कि ऐसा करना हमारे संविधान की धर्म-निरपेक्षता के आदर्श के विपरीत होगा। इसलिए यह कहना कि कम्युनिटि और मायनोरिटि इन दो शब्दों के पीछे कोई ऐसी विचारधारा थी, जिसका देहली उच्च न्यायालय ने संकेत किया है

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्वथा निराधार है। अपने निर्णय के अनुच्छेद 8 में इस प्रकार की एक गलत-फहमी के आधार पर इस न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया है कि क्योंकि मायनोरिटि शब्द का राजनैतिक आधार है इसलिए वह आर्यसमाज या अन्य किसी हिन्दू समुदाय के लिए लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि हिन्दुओं के किसी समुदाय को अल्पसंख्यक नहीं माना गया है इसलिए धारा 30 में मायनोरिटि शब्द हिन्दुओं के किसी भाग के लिए लागू नहीं हो सकता।

हम ऊपर देख चुके हैं कि उच्चतम न्यायालय ने डीएवी कॉलेज सम्बन्धी अपने दो निर्णयों में आर्यसमाज को धारा 29 और धारा 30 में अल्पसंख्यक माना है और यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाये कि उसने आर्यसमाज को पंजाब में हिन्दुओं के एक अंग के रूप में मायनोरिटि स्वीकार किया है तो भी देहली उच्च न्यायालय की इस मान्यता का अपने आप निषेध हो जाता है कि हिन्दुओं का कोई भाग या अंग अल्पसंख्यक नहीं हो सकता। हम यह भी बता चुके हैं कि स्वयं धारा 30 में धर्म और भाषा दोनों प्रकार के अल्पसंख्यकों का प्रावधान है किन्तु भाषा के आधार पर देश में अधिकांश अल्पसंख्यक या मायनोरिटिज हिन्दू बहुसंख्यकों के अंग ही हैं। उदाहरण के लिये उत्तरप्रदेश में बंगाली और बंगाल में महाराष्ट्रियन दोनों बहुसंख्यक हिन्दू धर्म के अंग होने पर भी भाषा के आधार पर वहां अल्पसंख्यक स्वीकार किये गये हैं। इतना ही नहीं एक धार्मिक अल्पसंख्यक समुदाय भी भाषायी बहु-संख्यक का अंग हो सकता है जैसे बंगाल में मुसलमान। इसी प्रकार मुसलमान भाषा की दृष्टि से हिन्दुओं के समान बंगाल में बंगाली भाषा-भाषी होने के कारण बहुमत में हैं किन्तु धार्मिक दृष्टि से अल्पसंख्यक हैं।

क्या धर्म भी राज्य द्वारा निश्चित है ?

जिस प्रकार मायनोरिटि या अल्पसंख्यक कि परिभाषा करते हुए देहली उच्च न्यायालय ने भूल की है वैसी ही भूल उसने धारा 30 में उल्लेखित धर्म की परिभाषा करते हुए भी की है। अपने निर्णय के अनुच्छेद 13 में उसने कहा है कि संविधान की धारा 25 उपधारा 2 (अ) सेस्पष्ट है कि संवि-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
धान किसी धर्म विशेष के अनुयायी को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वे यह तय करें कि उनके धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इसी अनुच्छेद में डॉ. ड्यूरेट की सम्मति के हवाले से यहां तक कहा गया है कि इस संविधान की धारा 25 में जो धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार दिया गया है वह धारा 25 (2) बी के द्वारा एक प्रकार से निरस्त कर दिया गया है।

असंगत तर्क

देहली उच्च न्यायालय के उपरोक्त दोनों निष्कर्षों को यदि सही माना जाये तो धारा 25, 26 और यहां तक की धारा 30 में धार्मिक स्वतन्त्रता का जो अधिकार दिया गया है वह समाप्त हो जायेगा जैसा डॉ. ड्यूरेट ने भी संकेत किया है।

वस्तुत: ऐसा कहना हमारे धर्मनिरपेक्ष आदर्श के भी विपरीत है। ड्यूरेट के अनुसार धारा 25 (2) बी में क्योंकि संविधान ने राज्यों को कुछ धार्मिक मामलों में कानून बनाने का अधिकार दिया है इसीलिये धर्म क्या है इसकी व्याख्या या निर्णय करने का भी अधिकार राज्य को है पहले तो धारा 25 (2) बी में संविधान ने राज्यों को धार्मिक सिद्धान्तों या विश्वासों का निर्णय करने का अधिकार नहीं दिया है बल्कि केवल धर्म से सम्बन्धित आर्थिक, राजनैतिक या वित्तीय मामलों में कानून बनाने का अधिकार दिया है जो वास्तविक अर्थ में न धर्म है, न धर्म से उसका कोई आवश्यक या अनिवार्य सम्बन्ध है। धर्म के नाम पर इस प्रकार के विषयों को धार्मिक राज्यों ने भी स्वीकार नहीं किया है। यहां तक कि पाकिस्तान जैसे ईस्लामी राज्य में भी जो बातें इस्लाम की धार्मिक मान्यताएं समझी जाती थीं उन्हें अब या कम से कम जनरल जिया के पूर्व तक ऐसा नहीं समझा जाता था। चाहे जो हो देहली उच्च न्यायालय का यह कहना भी तर्कसंगत नहीं है कि चूंकि संविधान में कुछ धार्मिक मामलों या धर्मों का धारा 25 (2) ए में उल्लेख है इसलिये संविधान की दृष्टि में केवल वही धर्म की परिभाषा में सम्मिलित हो सकते है अन्य नहीं। किन्तु जैसे मायनोरिटि अल्पसंख्यक शब्द की संविधान में कोई व्याख्या नहीं की गई, वैसे ही धर्म क्या है उसकी भी संविधान में कोई परिभाषा या निश्चित व्याख्या नहीं दी गई है। यह बात देहली उच्च न्यायालय भूल गया।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यायालय का कर्त्तव्य

श्री शिवराव द्वारा लिखित पुस्तक के भाग 2 के पृष्ठ 266 से भी यही स्पष्ट होता है। उसमें इस धारा का प्रारूप बनाने वाले स्व. श्री के.एम. मुंशी का हवाला देकर यह स्पष्ट किया गया है कि जब कुछ लोगों ने इस धारा में से धर्म शब्द हटाकर उसके स्थान में 'रेस' कम्यूनिटि, कास्ट आदि लिखने का सुझाव दिया तो उन्होंने उसका विरोध करते हुए कहा कि यदि ऐसा किया गया तो इसके गंभीर परिणाम होंगे। उन्होंने यह प्रश्न उठाया था कि संसार के अधिकांश संविधानों में धर्म की स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ? और उत्तर दिया कि "यह निर्णय करने का उत्तरदायित्व न्यायालय पर है कि धर्म क्या है और क्या नहीं।" देहली न्यायालय ने भी धारा 30 के निर्णय में श्री मुंशी की भूमिका को स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति में यह समझ में नहीं आता कि उसने यह बात कैसे कही कि धार्मिक अल्पसंख्यक कौन हैं इसका निर्णय करने का न्यायालय को अधिकार नहीं है क्योंकि इन दोनों के सम्बंध में संविधान द्वारा पहले ही निर्णय दिया जा चुका है और उसके अनुसार ईसाई और मुसलमान ही इस परिभाषा में आते हैं।

धारा 25 का उदाहरण

अपनी उपरोक्त मान्यता के उपरान्त भी देहली न्यायालय ने सिख, जैन और बौद्धों को धार्मिक अल्पसंख्यक कैसे स्वीकार किया यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है। उसका कहना है कि इसका आधार धारा 25 की उपधारा 2 है और जिसमें मन्दिरों और धर्म स्थानों में प्रवेश का अधिकार दिया गया है और यह धार्मिक स्थान कौन कौन से हैं इसे स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है कि हिन्दू मन्दिरों और धार्मिक स्थानों में सिख, जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायियों के धार्मिक स्थान भी सम्मिलित समझे जायेंगे। देहली उच्च न्यायालय का तर्क यह है कि यद्यपि इसमें इन सबको हिन्दू कहा गया है फिर भी उनके साथ सिख, जैन और बौद्ध धर्मों का भी उल्लेख है इसलिए वे हिन्दू धर्म के अंग या सम्प्रदाय नहीं हैं। दूसरा कारण जिसके आधार पर आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का अंग स्वीकार किया गया है, किन्तु सिख, बौद्ध और जैनों को हिन्दू धर्म की परिधि से पृथक् स्वीकार किया गया है, वह हिन्दू कोड बिल

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
में सिख, बौद्ध और जैनों के साथ धर्म शब्द का उल्लेख है। ये दोनों तर्क भी सही नहीं हैं क्योंकि यदि धारा 25 में सिख, जैन और बौद्धों का हिन्दू धर्म के संदर्भ में उल्लेख होने पर भी वे हिन्दू धर्म के अंग नहीं माने जा सकते तो आर्यसमाज जिसका इस उपधारा में कहीं भी उल्लेख तक नहीं है उसे इस धारा के अनुसार हिन्दू धर्म का संप्रदाय कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? जहाँ तक हिन्दू कोड बिल का प्रश्न है उसका सम्बंध केवल विवाह, तलाक, गोद आदि ऐसे विषयों से है जिसे परसनल लॉ या व्यक्तिगत कानून कहा जा सकता है। उसके आधार पर धर्म क्या है इसका निर्णय नहीं किया जा सकता।

हमारे देश में ऐसे बहुत से सम्प्रदाय हैं जो हिन्दू धर्म के अनुयायी न होने पर भी इस प्रकार के व्यक्तिगत कानून के लिए हिन्दू रीति-रिवाजों या परम्पराओं के अन्तर्गत शामिल किए गये हैं। उदाहरण के लिए मुसलमानों के एक सम्प्रदाय पर भी हिन्दू परसनल लॉ लागू होता है जैसा डी. एफ. मुल्ला नामक पारसी विधिवेत्ता ने अपनी 'हिन्दू लॉ' नामक पुस्तक में कहा है। उनके अनुसार हिन्दू लॉ की धारा 582 कच्छी मेनन मुसलमानों पर लागू होती है क्या इसका अर्थ यह हुआ कि चूंकि उन पर यह हिन्दू कानून लागू होता है इसलिये वे भी हिन्दू धर्म के एक सम्प्रदाय हैं ? जहाँ तक सिखों का सम्बन्ध है स्पष्ट रूप से वे इस धारा के आधार पर हिन्दू धर्म की व्यापक परिधि में आ जाते हैं और सम्भवतः ऐसी किसी सम्भावना को दूर करने के लिए ही अकालियों द्वारा यह आन्दोलन तक किया जा रहा है कि संविधान की धारा 25 में उनका जो उल्लेख किया गया है उसे हटा दिया जाये।

धर्म और अल्पसंख्यक

महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि यदि आर्यसमाज या अन्य कोई समुदाय यह दावा करता है कि वह हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं है बल्कि एक पृथक् धर्म है तो इसका निर्णय कौन और कैसे किया जायेगा ? क्या संविधान में जिन धर्मों का उल्लेख है उनके अतिरिक्त किसी अन्य को इस बात की स्वतन्त्रता नहीं है और सदा सर्वदा के लिए धर्म की जो संविधानिक व्याख्या धारा 30 के लिए देहली उच्च न्यायालय ने की है वह अंतिम है। जैसा ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि इस प्रकार की धारणा तर्क और स्वयं संविधान की

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
भावना के विपरीत है। वस्तुतः जैसा स्व. श्री के.एम. मुंशी ने कहा कि धार्मिक अल्पसंख्यक कौन है इसका निर्णय करना न्यायालय का अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है। दूसरी ओर एक अन्य दिग्गज संविधान निर्माता डॉ. अम्बेडकर ने स्पष्ट रूप से यह चेतावनी दी थी कि राजनैतिक अधिकारों पर आधारित अल्पसंख्यकों को धार्मिक अल्पसंख्यकों से जोड़ना बड़ी भूल होगी। इन सब प्रमाणों के उपरान्त भी देहली उच्च न्यायालय द्वारा इन दोनों को पर्यायवाची समझना कहीं अधिक आपत्तिजनक है। अपने निर्णय के अनुच्छेद 5 में उसके द्वारा इस से भी अधिक विचित्र निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया गया है अर्थात् धारा 30 में मायनोरिटि या अल्पसंख्यक इस एक ही शब्द के दो अर्थ किये गये हैं और यह कहा गया कि जहाँ तक धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक होने का प्रश्न है वहाँ अल्पसंख्यक का अर्थ राजनैतिक अल्पसंख्यक समझना चाहिये और जहां भाषा से सम्बन्धित अल्पसंख्यक होने का प्रश्न है वहां उसे गैर राजनीतिक अर्थ में लिया जाना चाहिये। राजनैतिक और गैर राजनैतिक अल्पसंख्यक का भेद कितना निराधार है यह हम देख चुके हैं किन्तु एक ही धारा में एक ही शब्द के दो अर्थ करने का क्या आधार या औचित्य है यह समझना और भी कठिन है।

धारा 29 का गलत अर्थ

देहली न्यायालय ने माइनोरिटि शब्द के अपने विचित्र अर्थ के सम्बन्ध में एक तर्क यह भी दिया कि धारा 29 में इस शब्द का इसीलिए प्रयोग नहीं किया गया है क्योंकि उसमें बहुसंख्यक समुदाय के किसी भाग को भी अधिकार दिया गया हैं। किन्तु वास्तविक बात तो यह है कि धारा 29 के लिए जिस शीर्षक का उपयोग किया गया है वह अभी भी मायनोरिटि ही है। उसका यह शीर्षक है "मायनोरिटि के हितों की सुरक्षा"।

इस प्रकार यह कहना गलत है कि धारा 29 का मायनोरिटि शब्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्पष्ट है कि देहली उच्च न्यायालय का यह तर्क निराधार है कि धारा 29 में से मायनोरिटि शब्द हटाने का कारण यह था कि इस धारा का सम्बन्ध बहुमत या मैजोरिटि से भी है। इसके अतिरिक्त हम ऊपर देख चुके हैं कि धारा 30 में मायनोरिटि अर्थात् अल्पसंख्यक शब्द का जो प्रयोग

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है वह हिन्दू बहुमत के समूह या अंग के लिए भी प्रयुक्त किया गया है और इसलिए उसमें मायनोरिटि "बेस्ड ऑन लैंग्वेज" जैसा स्पष्ट उल्लेख है। इस आधार पर भी न्यायालय का यह तर्क निराधार है कि धारा 29 में से मायनोरिटि शब्द के स्थान में "नागरिकों का कोई समूह" लिखने का कारण यह था कि मायनोरिटि शब्द का जो राजनैतिक अर्थ है वह धारा 29 में बहुसंख्यकों के किसी वर्ग लिए उपयोग नहीं किया जा सकता था।

देहली उच्च न्यायालय ने धारा 30 में उपरोक्त एक ही मायनोरिटि शब्द के जो दो अर्थ किए हैं वे भी इसी धारा 29 के आधार पर गलत साबित होते हैं क्योंकि इस धारा में जो सांस्कृतिक अधिकार दिए गए हैं वह धार्मिक अल्पसंख्यक अर्थात् रिलिजियस मायनोरिटि के लिए भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार यह तर्क भी निराधार है कि धारा 30 में जहाँ धार्मिक अल्पसंख्यक कहा गया है उसका तात्पर्य राजनैतिक अल्पसंख्यकों से है। सांस्कृतिक अल्पसंख्यक भाषा और लिपि के आधार पर भी हो सकते हैं और हैं। इस प्रकार ऐसे भाषायी अल्पसंख्यक वस्तुतः बहुसंख्यक हिन्दुओं में भी हैं यह हम बता चुके हैं।

देहली उच्च न्यायलय ने अनुच्छेद 8 में रिलिजियस मायनोरिटि अर्थात् धार्मिक अल्पसंख्यक इस वाक्य का उपयोग किया है जो धारा 30 के वाक्यांश के विपरीत है। धारा 30 में "मायनोरिटिज बेस्ड ऑन रिलिजन" इस वाक्यांश का उपयोग किया गया है। यह शाब्दिक अन्तर इस लिए भी महत्त्व का है कि धारा 30 में धर्म की व्यापक परिभाषा या व्याख्या करना अपेक्षित नहीं था, जैसा देहली न्यायालय द्वारा उपयोग किए गए व्याक्यांश से ध्वनित होता है। वस्तुतः धारा 30 में धार्मिक अल्पसंख्यक क्या हैं इस के लिए उस अल्पसंख्यक समुदाय का धर्म क्या है इसका विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है, जैसा प्रसिद्ध संविधानशास्त्री श्री सी. एम. सिरवई ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में स्पष्ट किया है।

इस शाब्दिक परिवर्तन का उद्देश्य स्पष्ट रूप से यह निराधार निष्कर्ष निकालना प्रतीत होता है कि उसका अर्थ उन धार्मिक अल्पसंख्यकों तक

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
सीमित रखा जाये जिन्हें राजनैतिक अधिकार प्राप्त थे। अंग्रेजी राज्य के इस अवशेष के सम्बन्ध में देहली उच्च न्यायालय का यह आग्रह सचमुच आश्चर्यजनक है। किन्तु न्यायालय के इस निर्णय में हमारे संविधान का अर्थ अंग्रेजी राज्य की इस विचारधारा के आधार पर करने का प्रलोभन कितना स्पष्ट है यह न्यायालय के अनुच्छेद 6 में पुनः दिये गये तर्क से स्पष्ट है। इस में कहा गया है कि कम्युनिटि शब्द का तात्पर्य या तो हिन्दू धर्म के अनुयायी से है जिन्हें मायनोरिटि कम्युनिटि कहा गया हैं या हिन्दू से पृथक् धर्म के अनुयायिओं जैसे ईसाई, मुसलमान और सिखों से है, जिन्हें मायनोरिटि कहा गया है और यहीं कारण है कि कम्यूनल अवार्ड, कम्युनलिज्म, कम्युनल रिजर्वेशन और कम्युनल शब्दों को हमेशा धर्म और भाषा पर आधारित मायनोरिटि के लिए उपयोग किया गया है। यह निष्कर्ष कितना निराधार हैं यह संविधान सभा के उद्धहरण देकर हम पहले ही बता चुके हैं। उसके एक सदस्य ठाकुरदास भार्गव ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा था कि मायनोरिटि का आधार केवल धर्म और भाषा ही नहीं बल्कि नस्ल और जाति भी होता है। श्री शिवराव की संविधान सम्बन्धी "ए स्टडी" के पृष्ठ 276 से भी देहली उच्च न्याया-लय द्वारा मायनोरिटि शब्द का जो अर्थ किया गया है वह किस प्रकार गलत है यह स्पष्ट हो सकता है। वहां उल्लेख है कि संविधान निर्मातृ सभा के एक अन्य प्रमुख सदस्य और कांग्रेस—इतिहास के लेखक श्री पट्टाभि सीता रमैया ने जब यह सुझाव दिया कि रिलिजन अर्थात् धर्म के साथ कास्ट और क्रीड अर्थात् जाति और विश्वास शब्द भी जोड़ा जाये तो उसका विरोध करते हुये संविधान विशेषज्ञ श्री बी. एन. राव ने उत्तर में कहा कि यह शब्द जोड़ना अनावश्यक है क्योंकि मायनोरिटि शब्द इतना व्यापक है कि है कि उसमें कास्ट अर्थात् जाति और धर्म अर्थात् रिलीजन और क्रीड इन सबका समावेश हो जाता है। ठाकुरदास भार्गव ने भी मायनोरिटि शब्द के प्रयोग के समर्थन में यही तर्क दिया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि न रिलीजन और न ही मायनोरिटि शब्दों का किसी राजनैतिक अल्पसंख्यक के लिए प्रयोग किया गया है जैसा देहली उच्च न्यायालय ने बारबार कहा है

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
वस्तुतः न्यायालय की विचारधारा इस सम्बन्ध में परस्पर विरोधी और भ्रमपूर्ण है। आर्यसमाज के सम्बन्ध में इसी अवसर पर दिये गये 5 दिसम्बर 1975 के एक अन्य निर्णय में उसने संविधान की धारा 26 का विवेचन करते हुए यह कहा है कि मौलिक अधिकारों का अर्थ करते समय न्यायालय दो प्रकार से विचार कर सकते हैं। एक तो यह कि उस धारा में दी गई भाषा को ही आधार माना जाये और दूसरा यह कि किसी विन्दू पर बल दिया जाये। न्यायालय ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि जहां तक धारा 30 का सम्बन्ध है का अर्थ उसकी भाषा के आधार पर करना उपयुक्त होगा। इस सिद्धान्त के बाद भी न्यायालय ने स्वयं अपने मापदण्ड की उपेक्षा करके धारा 30 में दिए गए मायनोरिटि शब्द का शाब्दिक अर्थ स्वीकार करने के स्थान में एक ही शब्द मायनोरिटि के दो भिन्न अर्थ किए हैं—एक शाब्दिक और दूसरा राजनैतिक।

तर्क और तथ्यों की इस विकृति का यह परिणाम हुआ है कि आर्यसमाज के सम्बन्ध में दिया गया यह निर्णय भी वैसा ही भ्रमपूर्ण है। निर्णय के अनुच्छेद 22 में अपने द्वारा निर्मित नवीन वाक्यांश अर्थात् रिलिजस मायनोरिटि आर्यसमाज पर लागू होता है या नहीं इस का उत्तर देते हुए कहा गया है कि चूंकि शिक्षण संस्थाओं की स्थापना और प्रबन्ध का विशेष अधिकार केवल राजनैतिक विशेष अधिकार रखने वाले अल्पसंख्यकों को दिया गया है इसलिए मायनोरिटि शब्द केवल राजनैतिक आधार पर परिभाषित धार्मिक अल्पसंख्यकों को ही उपलब्ध है। ऊपर के विवेचन के बाद हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि मायनोरिटि और कम्यूनिटि इन दोनों का कोई राजनैतिक आधार मानना संविधान की भावना और स्पष्ट मान्यता के विपरीत है।

क्या आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसंख्यक संगठन है

देहली न्यायालय को जिस मुख्य मुद्दे पर विचार और निर्णय करना था वह यह था कि क्या आर्यसमाज हिन्दू धर्म से पृथक् धार्मिक संगठन है या नहीं? किन्तु न्यायालय ने या तो इस मुख्य प्रश्न को नजरअन्दाज कर

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया या फिर धर्म और अल्पसंख्यक इन दोनों शब्दों का निराधार अर्थ करके एक सर्वथा गलत दृष्टिकोण अपनाया। आश्चर्य की बात तो यह है कि पटना उच्च न्यायालय के दोनों निर्णय और उच्चतम न्यायालय का जालन्धर सम्बन्धी निर्णय जो स्पष्ट रूप से इस बात का समर्थन करते थे कि आर्यसमाज एक धार्मिक अल्पसंख्यक संस्था है, देहली न्यायालय ने सर्वथा उपेक्षा की। अपने निर्णय के अनुच्छेद 29 में उसने लिखा कि ए. आई. आर. पटना 1962 के अनुसार द्विपेन्द्रनाथ सरकार बनाम बिहार राज्य के मामले में न्यायालय की पूरी बैंच जिसमें मुख्य न्यायाधीश और न्यायमूर्ति शाह सम्मिलित थे, उन्होंने यह निर्णय दिया था कि ब्रह्मसमाज हिन्दू धर्म से एक पृथक् धर्म है। हम यह देख चुके हैं कि ए. आई. आर. 1958 पटना में पृष्ठ 359 पर आर्यसमाज सम्बन्धी जो निर्णय प्रकाशित किया गया है उसमें आर्यसमाज को भी स्पष्ट रूप से इसी प्रकार का धार्मिक अल्पसंख्यक स्वीकार किया गया है। वस्तुत: 1962 के निर्णय में आर्यसमाज सम्बन्धी 1958 के निर्णय का हवाला देकर ही ब्रह्मसमाज के पक्ष में निर्णय दिया गया था। देहली उच्च न्यायालय ने इन दोनों निर्णयों को यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि वे हमारे संविधान की भावना के प्रतिकूल थे। यह समझ में नहीं आता कि देहली उच्च न्यायालय ने इन निर्णयों की भावना का किस आधार पर अनुमान लगाया। जब दोनों निर्णयों की भाषा और शब्द किसी अदृश्य भावना को प्रमाणित नहीं करते; जाहिर है कि स्वयं देहली उच्च न्यायालय ने ही संविधान निर्माताओं की भावना को न समझ कर उसके सर्वथा विपरीत निर्णय दिया है। धर्म तथा अल्पसंख्यक इन दोनों का उसने जो अर्थ किया वह संविधान की भावना ही नहीं उसकी स्पष्ट घोषणा के भी विपरीत है, जैसा हम बता चुके हैं। पटना के निर्णय में ब्रह्मसमाज को धारा 30 में अल्पसंख्यक कहा गया है यह बात देहली उच्च न्यायालय ने अपने उद्धरण में स्वीकार की है। यदि बिहार जैसे हिन्दू बहुल राज्य में ब्रह्मसमाज धार्मिक अल्पसंख्यक हो सकते हैं तो आर्यसमाज क्यों नहीं हो सकता? विशेषकर जब पटना का आधारभूत पूर्व निर्णय आर्यसमाज से ही सम्बन्धित

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। देहली न्यायालय का यह कहना कि पटना के निर्णय में आर्यसमाज को हिन्दू धर्म से पृथक् अल्पसंख्यक धर्म नहीं माना गया है वास्तविकता के भी विपरीत है। विहार उच्च न्यायालय के दोनों निर्णयों को पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार डीएवी कॉलेज जालन्धर सम्बन्धी उच्चतम न्यायालय का निर्णय भी यह कह कर स्वीकार नहीं किया गया कि धारा 30 के अन्तर्गत धार्मिक अल्पसंख्यक वही माने गए हैं जिन्हें राजनैतिक विशेष अधिकार प्राप्त थे और इसलिये वह हिन्दुओं के किसी सम्प्रदाय पर लागू नहीं हो सकता। दूसरा तर्क यह दिया गया कि उच्चतम न्यायालय ने जो निर्णय दिया है वह पंजाब तक ही सीमित था जहां आर्यसमाजी हिन्दुओं के अल्पसंख्यक होने के कारण इस धारा में सम्मिलित किए गए।

पहले तर्क की विसंगति के सम्वन्ध में हम विस्तारपूर्वक विवेचन कर चुके हैं कि वह किसी प्रकार भी संविधान के आधार पर सही नहीं है। इस सम्वन्ध में यह भी स्मरण रखने की बात है कि संविधान का अर्थ लगाना एक कानूनी मुद्दा है। संविधान की धारा 143 में स्पष्ट रूप से यह निर्देश दिया गया है कि उच्चतम न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय उच्च न्यायालयों के लिए कानून के समान माननीय हैं। इसलिए उच्चतम न्यायालय ने डीएवी कॉलेज जालन्धर के सम्वन्ध में जो निर्णय दिया है उसके विपरीत देहली न्यायालय को अपना भिन्न मत देने का वैसे भी कोई अधिकार नहीं था। हम यह भी देख चुके हैं कि उच्चतम न्यायालय ने आर्यसमाज को पंजाब में हिन्दुओं का भाग या अंग कह कर धार्मिक अल्पसंख्यक घोषित नहीं किया अपितु आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ऐसा निर्णय दिया है इसलिए भी देहली न्यायालय को उच्चतम न्यायालय के निर्णय की उपेक्षा करने का अधिकार नहीं था।

हिन्दू तथा हिन्दू धर्म

देहली न्यायालय के अनुच्छेद 22, 23, 24 और 25 को पढ़ने से यह भी विदित होता है कि उसने उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के जो हवाले

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

दिए हैं वे उनके संदर्भ की उपेक्षा करके दिया है परिणाम स्वरूप उनके
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
आधार पर निकाला गया यह निष्कर्ष भी भ्रमपूर्ण है कि उच्चतम न्यायालय ने आर्यसमाज को हिन्दुओं का एक सुधार आन्दोलन तथा हिन्दू समाज का अंग कहा है इसलिए वह हिन्दू धर्म का भी एक संप्रदाय है। यह निष्कर्ष निकालते समय देहली उच्च न्यायालय ने स्वयं अपने एक महत्वपूर्ण तर्क को नजरन्दाज किया है। अनुच्छेद 15 में उसने कहा है कि 'हिन्दू' के दो अर्थ हैं एक सामाजिक और ऐतिहासिक दूसरा धार्मिक। किन्तु आर्यसमाज के सम्बन्ध में निर्णय देते समय हिन्दू के इस द्वयर्थक आधार को भुला दिया गया। इस पुस्तक के प्रारम्भिक अध्याय में हम स्पष्ट कर चुके हैं कि किस प्रकार न केवल आर्यसमाज के संस्थापक अपितु उसके प्रमुख विचारक और नेताओं ने स्पष्ट रूप से इस बात का निषेध किया है कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का एक संप्रदाय है। इस सम्बन्ध में लाला लाजपत राय तथा भाई परमानन्द जैसे हिन्दूनिष्ठ आर्यसमाज के नेताओं तक ने उसे हिन्दू धर्म का संप्रदाय नहीं कहा है। इससे स्पष्ट है कि आर्यसमाज, हिन्दू समुदाय या समाज का अंग होने पर भी हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं हो सकता। निर्णय के अनुच्छेद 15 में प्रसिद्ध विधिवेत्ता डॉ. हरिसिंह गौड़ द्वारा जैनियों को हिन्दू धर्म के अनुयायी कहे जाने की चर्चा की गई है किन्तु देहली न्यायालय ने डॉ. गौड़ का भी खण्डन यही कह कर किया कि हिन्दू के भी दो अर्थ हैं एक का आधार धार्मिक विश्वास है और इस आधार पर जैनी और सिख हिन्दू धर्म से पृथक् है। पुनः अनुच्छेद 19 में न्यायालय ने यह तर्क दोहराते हुए कहा है कि जैन, हिन्दू धर्म के अनुयायी हुए बिना भी हिन्दू कहे जा सकते हैं। आश्चर्य की बात है कि जब आर्यसमाज के सम्बन्ध में भी यही आधार लागू हो सकता है तो उसे क्यों नहीं स्वीकार किया गया और वह भी केवल यह कह कर कि कुछ पुस्तकों में आर्यसमाज को हिन्दू आन्दोलन अथवा हिन्दू समुदाय का अंग कहा गया है। न्यायालय ने एक भी ऐसा ग्रंथ या प्रमाण का उल्लेख नहीं किया जिसमें आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय कहा गया हो। न्यायालय ने इस बारे में भाई परमानन्द का हवाला देकर यह बताने का प्रयत्न किया है कि उनके अनुसार आर्यसमाजी हिन्दू धर्म

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection

के अनुयायी हैं। यह बात तथ्यों के विपरीत है। 1925 में प्रकाशित पुस्तिका
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
"आर्यसमाज और कांग्रेस" में तो भाई परमानन्द ने ठीक इस मान्यता के विपरीत यह आरोप लगाया है कि आर्यसमाज में ऐसे व्यक्ति हैं जो आर्यसमाज को स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित एक पृथक् धर्म मानते हैं और सत्यार्थप्रकाश को महत्त्व देते हैं जो मुसलमान कुरान को और ईसाई बाईबिल को। 'उनकी मान्यता है कि आर्यसमाजी होने के लिए ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित धार्मिक मन्तव्यों को स्वीकार करना अनिवार्य है। भाईजी का यह आरोप या कथन सर्वथा सही है, यह हम पिछले अध्याय में बता चुके हैं। इसी प्रकार न्यायालय ने लाला लाजपत राय के हवाले से जो बात कही है वह भी उसके इस निष्कर्ष को सिद्ध नहीं करती कि लाला लाजपत राय आर्यसमाज को हिन्दू धर्म का अंग मानते थे। यद्यपि लाला लाजपत राय जी हिन्दू संगठन के कट्टर समर्थक थे फिर भी आर्यसमाज के नेता के रूप में वे भी उन्हीं लोगों में से थे जिनका भाई परमानन्द ने जिक्र किया है अर्थात् जो लोग स्वामी दयानन्द की धार्मिक मान्यताओं को आर्यसमाज का आधार समझते थे। लालाजी की अंग्रेजी की 'दी आर्यसमाज' नामक पुस्तक का उद्धरण देकर हम पहले ही यह बात स्पष्ट कर चुके हैं। भाईजी की पुस्तक 1925 में लिखी गई थी। हो सकता है उस समय भाईजी जैसे आर्यसमाज के कुछ लोगों का इस सम्बन्ध में मतभेद रहा हो किन्तु वर्तमान स्थिति सर्वथा स्पष्ट है। जैसा कला ेस इलाहाबाद में सन् 1940 में प्रकाशित आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय की अंग्रेजी की पुस्तक "दी ओरिजनल मिशन एण्ड स्कोप ऑफ दी आर्यसमाज" से विदित होगा कि सन् 1927 के सार्वदेशिक सभा के अधिकृत निर्णय के बाद इस मतभेद के लिए अब कोई गुंजाइश नहीं रही अब आर्यसमाज के उपनियमों में स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर दी गई है कि आर्यसमाज के सदस्य होने के लिए ऋषि दयानन्द द्वारा वेदों के आधार पर प्रतिपादित धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना भी अनिवार्य है। स्वयं लाला लाजपत राय ने भी सन् 1916 में ही इस विचारधारा का समर्थन किया था जिसकी अब उपनियमों के द्वारा पुष्टि की गई है। यह स्मरण रखने की बात है कि श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय न केवल

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज के एक प्रसिद्ध और अधिकृत विद्वान् और प्रवक्ता थे बल्कि वे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान भी थे।

देहली न्यायालय ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि हिन्दू कोड बिल में आर्यसमाजियों को हिन्दू गिना गया है। यदि इसी कारण आर्यसमाजी हिन्दू धर्म में भी सम्मिलित किए जा सकते हैं तो न केवल सिख, जैन और बौद्धों को ही अपितु कच्छी मेनन मुसलमानों तक को हिन्दू धर्म का अनुयायी घोषित करना पड़ेगा क्योंकि इन सब पर हिन्दुओं का व्यक्तिगत कानून लागू होता है जैसा एफ. डी. मुल्ला के 'हिन्दू कानून' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ से जाहिर है।

हम नम्रतापूर्वक यह कहना चाहते हैं कि आर्यसमाज की वास्तविक धार्मिक स्थिति क्या है इसका निर्णय न तो हिन्दू कोड बिल के आधार पर किया जा सकता है और न ही संविधान की धारा 25(2) या अन्य किसी कानून में धर्म और हिन्दू शब्द लिख देने से किया जा सकता है। यह निर्णय तो आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों और मान्यताओं के आधार पर ही हो सकता हैं जैसा उच्चतम न्यायालय ने डी.ए.वी. कालेज जालन्धर सम्बंधी निर्णय में किया है।

हिन्दू विवाह कानून

देहली न्यायालय ने हिन्दू मैरिज एक्ट 1955 का हवाला दिया है, जिसमें आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज को एक श्रेणी में रख कर यह कहा गया है कि इस श्रेणी में किस प्रकार के हिन्दू धर्म के अनुयायी सम्मिलित हैं जब कि बौद्ध और सिखों को एक दूसरी श्रेणी में रखा गया है। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं कि यह अधिनियम भी हिन्दू कोड बिल के सामान हिन्दू व्यक्तिगत कानून 'पर्सनल लॉ" ही है। इसलिए आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज को उसमें सिखों, बौद्धों से अलग श्रेणी में लिखने मात्र से यह निष्कर्ष कैसे निकाला जा सकता है कि जहां बौद्ध और सिख हिन्दू धर्म के अनुयायी नहीं हैं वहां आर्यसमाजी और ब्रह्मसमाजी हिन्दू संप्रदाय में सम्मिलित हैं। बरहाल दोनों श्रेणियों के

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

अनुयायी जिस अधिनियम के अन्तर्गत उल्लेखित हैं उसका शीर्षक तो 'हिन्दू' ही Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
है। इसलिए हिन्दू और यहां तक कि हिन्दू धर्म जैसे वाक्यों का उपयोग करने मात्र से आर्यसमाज के धार्मिक भाग्य और भविष्य का फैसला नहीं हो सकता। जिस तर्क के आधार पर डॉ० हरिसिंह द्वारा जैनियों को हिन्दू धर्म का अंग मानने की बात देहली न्यायालय ने स्वीकार नहीं की है वही तर्क आर्यसमाज के सम्बंध में क्यों नहीं स्वीकार किया गया ? न्यायालय का कहना है कि इस अधिनियम में सिख जैन, और बौद्धों को धर्म कहा गया है इस लिए वह पृथक् धर्म है। इस सम्बंध में उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश और प्रसिद्ध विधिवेत्ता डॉ० गजेन्द्रगड़कर ने न्यायालय के प्रसिद्ध निर्णय में जो सम्मति व्यक्त की है वह विचारणीय है। यह निर्णय ए. आई. आर. 1967 सुप्रिम कोर्ट के पृष्ठ 1119 पर देखा जा सकता है। इसका सम्बंध हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश के अधिकार से था। श्री गजेन्द्रगड़कर ने अपने निर्णय के अनुच्छेद 41 में सन् 1956 के अधिनियम की धारा 2(ए) उद्धृत की है जिसमें जैन, सिख और बौद्धों को सर्वत्र हिन्दू कहा है और उनके लिए पृथक् धर्म शब्द का भी उपयोग नहीं किया गया है। इसलिए यदि देहली न्यायालय के अनुसार आर्यसमाज के साथ धर्म शब्द का उपयोग नहीं किये जाने से वह पृथक् धार्मिक संगठन नहीं हो सकता तो इसी आधार पर उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय के अनुसार सिख, बौद्ध और जैन भी पृथक् धर्म न होकर हिन्दू धर्म के ही सम्प्रदाय समझे जाने चाहिए। देहली न्यायालय की आर्यसमाज के सम्बंध में सारी तर्क शैली गलत शब्दों और उनके मनमाने अर्थों पर आधारित है, ठोस कानूनी मुद्दों और प्रमाणों पर नहीं। उदाहरण के लिए एक स्थान पर इस न्यायालय ने सिखों को हिन्दू धर्म से भिन्न मानने के पक्ष में यह भी तर्क दिया है कि उनका सिख मैरिज एक्ट नामक एक पृथक् कानून है। इसी आधार पर आर्यसमाज भी हिन्दू धर्म से प्रथक् सिद्ध हो सकता है क्योंकि इसी प्रकार का एक पृथक् अधिनियम आर्य मैरिज एक्ट नाम से भी पारित किया जा चुका है जो हिन्दू कोड बिल पास होने से पहले का है और उसमें आर्यसमाजियों द्वारा किये गये अन्तर्जातिय विवाहों को वैध स्वीकार किया गया है, जब कि उस समय तक हिन्दू कानून में इस प्रकार के विवाह अवैध समझते थे।

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1967 के उच्चतम न्यायालय के जिस निर्णय का ऊपर उल्लेख किया गया है उसमें तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश गजेन्द्र गडकर के अनुसार आर्यसमाजी ही नहीं अपितु सिख, जैन और बौद्ध भी उनके द्वारा की गई हिन्दू धर्म की परिभाषा में सम्मिलित किये गये हैं। किन्तु देहली न्यायालय ने यह बताने का प्रयत्न किया है कि इस निर्णय में केवल आर्यसमाजी ही इस परिभाषा में सम्मिलित किए गए थे। जैसा पहले लिखा जा चुका है कि देहली न्यायालय ने धारा 25 में 'हिन्दू संस्था' के स्पष्टीकरण करने वाली उपधारा 2 (बी) के आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लिया कि उसमें सिख, जैन और बौद्धों के लिए 'रिलिजन' शब्द का उपयोग किया गया है केवल इसीलिए वे हिन्दू धर्म से पृथक् है यद्यपि यह स्पष्टीकरण भी मन्दिरों आदि हिन्दू धार्मिक संस्थाओं के लिए ही किया गया था। यदि हम न्यायमूर्ति गजेन्द्र गडकर द्वारा दिए गए निर्णय के अनुच्छेद 40, 41 और 42 को ध्यानपूर्वक पढ़ें तो उस से देहली हाई कोर्ट की बात का नहीं किन्तु हमारे द्वारा निकाले गए निष्कर्ष का ही समर्थन होता है। अनुच्छेद 41 में लिखा गया है कि "हमारे संविधान के निर्माता हिन्दू धर्म के व्यापक और सर्वग्राही स्वरूप से पूरी तरह से परिचित थे और इसलिए उन्होंने धार्मिक स्वतन्त्रता सम्बन्धी धारा 25 में यह स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दुओं का जो उल्लेख है उसका अर्थ सिख, जैन और बौद्ध धर्मों के अनुयायी के लिए भी लागू समझा जायेगा और हिन्दू धार्मिक संस्थाओं का अर्थ भी इसी प्रकार किया जायेगा। गजेन्द्र गड़कर द्वारा हिन्दू धर्म तथा धारा 25 की उपधारा 2 (बी) के सम्बन्ध में किए गए इस स्पष्टीकरण के बाद देहली न्यायालय द्वारा निकाला गया निष्कर्ष कितना निराधार है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह भी है कि न्यायमूर्ति श्री गजेन्द्र गड़कर ने हिन्दू धर्म या हिन्दू रिलिजन शब्द का जो अर्थ किया वह हिन्दू मन्दिरों के संदर्भ में किया गया है और उसमें आर्यसमाज के मन्दिरों का जिक्र तक नहीं है जबकि सिख, जैन और बौद्ध मन्दिर उसमें सम्मिलित किए गए हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्यसमाज के मन्दिरों का उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण है कि परसनल लॉ के सीमित क्षेत्र में हिन्दू धर्म का जो उपयोग किया गया है वह आर्यसमाज पर लागू नहीं होता। गजेन्द्र गड़कर ने हिन्दू धर्म की जिस व्यापकता का उल्लेख किया है वह भी हिन्दू मन्दिरों, उनकी देवी-देवताओं और उपासना पद्धतियों की अनेकताओं को ध्यान में रखकर किया गया है क्योंकि उनके सामने विचाराधीन प्रश्न भी यही था कि जिस मन्दिर में प्रवेश के सम्बन्ध में विवाद है उसके भिन्न देवता और उपासना पद्धति के कारण क्या वह हिन्दू मन्दिरों में प्रवेश के लिए दिये गये इस अधिकार क्षेत्र में आता है या नहीं ? जहाँ तक आर्यसमाज का सम्बन्ध है उसके मन्दिरों में प्रवेश पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है और न ही वह देवी-देवताओं की मूर्तियों या उनकी भिन्न उपासना पद्धति में विश्वास करता है। इसलिए गजेन्द्र गड़कर ने हिन्दू धर्म के इस व्यापक अर्थ में भी आर्यसमाज मन्दिरों का समावेश नहीं किया जबकि जैन, सिख और बौद्ध मन्दिरों का समावेश किया है जिन्हें देहली उच्च न्यायालय ने हिन्दू धर्म की इस सीमा से पृथक् माना है। हिन्दू मन्दिरों और उनके देवी-देवताओं तथा उपासना पद्धति की भिन्नता हिन्दू धर्म की एक विशेषता समझी जाती है किन्तु सिख, जैन और बौद्धों के मन्दिरों में ये भिन्नताएँ न होने पर भी उनका हिन्दू धर्म की इस व्यापक परिभाषा में सम्मिलित किया जाना इस बात का भी प्रमाण है कि वे धार्मिक अर्थ में भी हिन्दू माने गये हैं जबकि आर्यसमाज के मन्दिरों का उसमें उल्लेख न होने का यह अर्थ है कि वे सिख, बौद्ध और जैन धर्मावलम्बियों के अनुयायी जितने भी हिन्दू धर्म के निकट नहीं हैं।

हम नम्रतापूर्वक यह भी कहना चाहते हैं कि न्यायमूर्ति गजेन्द्र गड़कर की यह परिभाषा भी तात्विक आधार पर नहीं बल्कि केवल तात्कालिक आधार पर की गई है क्योंकि उनके सामने प्रश्न केवल उन मन्दिरों में प्रवेश का था जिससे आर्यसमाज का कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारे इस निष्कर्ष का न्यायमूर्ति गजेन्द्र गड़कर द्वारा लोकमान्य तिलक की हिन्दू धर्म की परिभाषा को उद्धृत किए जाने से भी समर्थन होता है, क्योंकि लोकमान्य तिलक ने अपनी परि-

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में अनेक देवी-देवताओं की उपासना को हिन्दू धर्म की विशेषता कहा है जो आर्यसमाज पर लागू नहीं हो सकती। वह न अनेक देवी-देवताओं पर विश्वास करता है और न ही भिन्न उपासना पद्धति का समर्थन करता है। उच्चतम न्यायालय के इस निर्णय में लोकमान्य तिलक की परिभाषा के समर्थन में प्रसिद्ध इतिहास समीक्षक टायनबी का भी हवाला दिया गया है जिन्होंने भी यही कहा है कि हिन्दू धर्म के अनुसार सत्य और मुक्ति के भी भिन्न मार्ग हैं जो सब एक दूसरे के पूरक हैं। आर्यसमाज की मान्यता इस बात से मेल नहीं खाती।

जैन हिन्दू हैं

भारत के निवर्तमान उप राष्ट्रपति श्री हिदायतुल्ला जब उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश थे तब उन्होंने "पन्नालाल बनाम सीताबाई" नामक केस के प्रसिद्ध निर्णय में जैन धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण निर्णय दिया था जो ए. आई. आर. 1953 नागपुर के पृष्ठ 76 में प्रकाशित किया गया है। डॉ. हरिसिंह गौड़ की सम्मति को उद्धृत करते हुए न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला ने निर्णय में लिखा था कि "जैनी हिन्दू धर्म का एक असहमत सम्प्रदाय है किन्तु फिर भी वह हिन्दू ही है और उन पर हिन्दू कानून लागू होता है। देहली उच्च न्यायालय ने जहाँ आर्यसमाज के सम्बन्ध में केवल धारा 25 के अन्तर्गत दिए गए स्पष्टीकरण का प्रमाण दिया और वह भी उसका गलत अर्थ करके, वहाँ भी न केवल न्यायमूर्ति गजेन्द्र गड़कर निर्णय की उपेक्षा की बल्कि जैनियों के सम्बन्ध में न्यायमूर्ति हिदायतुल्ला के इस निर्णय को भी नजरअन्दाज कर दिया। श्री हिदायतुल्ला ने अपने निर्णय में यह भी स्पष्ट किया है "कि धर्म एक चीज है और कानून दूसरी। इसलिए धारा 25 में उल्लेखित कानून का उपयोग उन सब निर्णयों को निरस्त करने के लिये नहीं किया जा सकता जो अनेक उच्च न्यायालयों ने और यहाँ तक कि प्रिवी कौंसिल तक ने जैन धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में दिया है।" अर्थात् माननीय हिदायतुल्ला का तात्पर्य यह है कि जब इतने सारे न्यायालयों के निर्णय में जैन धर्मावलम्बियों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित समझा गया है तो केवल संविधान की धारा 25 के कानूनी अर्थ का उपयोग इस बात से इन्कार करने के लिये नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उन्होंने देहली उच्च न्यायालय के इस निष्कर्ष का विरोध किया है कि

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चूंकि धारा 25 में उसके अनुसार जैनियों का पृथक् धर्म कहा गया है इसलिए उन्हें हिन्दू धर्म की परिभाषा में सम्मिलित नहीं किया जा सकता। यही बात सिख धर्म के अनुयायियों पर भी लागू होती है जैसा हम ऊपर बता चुके हैं कि संविधान सभा में सरदार पटेल ने सिखों को हिन्दुओं का एक सुधारक समुदाय कहा था और इस प्रकार देहली न्यायालय द्वारा सिखों को हिन्दू धर्म से पृथक् समझने सम्बन्धी निर्णय का तो विरोध होता ही है साथ ही उसका यह दूसरा तर्क भी निराधार सिद्ध होता है कि चूंकि सिखों में अछूत नहीं हैं इसलिए अछूतों को हिन्दू मन्दिर में प्रवेश देने के लिए धारा 25 में हिन्दू धर्म का जो अर्थ किया गया है वह सिखों पर लागू नहीं होता। सरदार पटेल की यह घोषणा इन्हीं मुद्दों के समर्थन में की गई थी कि सिखों में भी मजहबी और रामदासी सिखों को अछूत समझा जाता है जैसा हिन्दू धर्म में समझा जाता है और इसलिए सुधारवादी होने पर भी वे हिन्दू धर्म की परिभाषा में आते हैं। दूसरी ओर आर्यसमाज का कोई भी वर्ग अछूत नहीं है वह छुआछूत और जात-पांत का कड़ा विरोध करता है।

जैन और सिखों के सम्बन्ध में ऊपर जो विवेचन किया गया है उससे हमारा तात्पर्य यह सिद्ध करना नहीं है कि वे वास्तव में ही हिन्दू धर्म के सम्प्रदाय हैं बल्कि यह बताना है कि देहली उच्च न्यायालय ने आर्यसमाज को जिस आधार पर सिख और जैनियों से भिन्न मानकर हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय कहा है वह सर्वथा भ्रमपूर्ण है। धर्म और कानून दोनों के, बारे में उसकी तर्कशैली उच्चतम न्यायालय के उन दोनों निर्णयों के प्रतिकूल है जो न्यायमूर्ति गजेन्द्र गड़कर तथा हिदायतुल्ला जैसे प्रसिद्ध विधिवेत्ताओं ने दिये हैं जहां देहली न्यायालय आर्यसमाज के इस दावे को अस्वीकार किया है कि वह हिन्दू समाज का अंग भले ही हो हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं है वहाँ दूसरी ओर जैन और सिखों की स्थिति आर्यसमाज की तुलना में कमजोर होने पर भी उनकी याचिका इसी आधार पर मान ली है। यदि आर्यसमाज के सम्बन्ध में भी देहली उच्च न्यायालय उन्हीं तर्कों और मापदण्डों को लागू करता जो उसने जैन और सिखों को हिन्दू धर्म से पृथक् मानने के

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
लिये किया है तो स्पष्ट है कि उनके आधार पर आर्यसमाज को भी कम से कम जैन, सिख और बौद्धों के समान धार्मिक अल्पसंख्यक स्वीकार करना उसके लिये अनिवार्य होता।

वास्तव में देहली उच्च न्यायालय के निर्णय का आधार ही गलत है। अंग्रेजी शासन के समय प्रचलित और संविधान द्वारा निरस्त किए गए अल्पसंख्यकों का स्वतन्त्र भारत में भी अस्तित्व सिद्ध करने के लिए उसने यह सारा प्रयत्न किया है जबकि उसके सामने विचारणीय प्रश्न यह था कि क्या आर्य समाज की शिक्षण संस्थाएँ संविधान की धारा 30 में संरक्षण पाने के लिए सक्षम है या नहीं जैसा जालंधर डी. ए. वी. कालेज के बारे में उच्चतम न्यायालय ने और आर्य कन्या विद्यालय मिठापुर के बारे में पटना उच्च न्यायालय के निर्णयों से सिद्ध होता था।

संविधानवेत्ता सिरवई की समीक्षा

देहली उच्च न्यायालय के उपरोक्त सन् 1976 के निर्णय के बाद 1983 में महाराष्ट्र के पूर्व एडवोकेट जनरल तथा प्रसिद्ध संविधान विशेषज्ञ श्री एच. एम. सिरवई की प्रसिद्ध पुस्तक "कॉन्स्टीच्यूशनल लॉ ऑफ इण्डिया" अर्थात् 'भारत का संविधानिक कानून' तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ है उसमें भी सिरवाई ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में दिए गए देहली उच्च न्यायालय के निर्णय की कड़ी समालोचना की है* और कहा है कि यह निर्णय स्पष्ट रूप से गलत है। देहली उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए इस तर्क का कि धार्मिक अल्पसंख्यकों में वृद्धि नहीं की जानी चाहिए, उन्होंने कहा है कि इस प्रकार की विचारधारा संविधान की उस भावना के सर्वथा विपरीत है जिसके द्वारा धार्मिक स्वतन्त्रता का प्रावधान किया गया है। विद्वान् लेखक ने डीएवी. कॉलेज जालन्धर के केस में उच्चतम न्यायालय द्वारा आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्तों के विवेचन का हवाला देकर भी आर्यसमाज के पक्ष का समर्थन किया है। "मायनोरिटि बेस्ड ऑन रिलीजन" अर्थात् धर्म के आधार पर स्वीकृत अल्पसंख्यक तथा रिलीजन इन दो शब्दों का देहली न्यायालय ने जो अर्थ किया है उसे गलत बताते हुए श्री सिरवाई ने लिखा है कि रिलिजन क्या है इसकी व्याख्या

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

*प्रथम भाग के पृष्ठ 985

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
करने का कार्य न्यायालय का नहीं था । श्री सिरवई के अनुसार देहली न्यायालय द्वारा दिया गया तर्क अनेक ऐतिहासिक तथ्यों के सर्वथा विपरीत है । उदाहरण के लिए कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दोनों ईसाई होने पर भी यह निर्विवाद है कि आयरलैण्ड के अलस्टर राज्य में कैथोलिक मायनोरिटि बेस्ड ऑन रिलीजन की परीभाषा में आते हैं और पाकिस्तान में शिया मुसलमान होने पर भी अल्पसंख्यक है इसी प्रकार हिन्दू होने पर भी आर्यसमाजी धारा 30 की अल्पसंख्यक की परिभाषा में आते हैं ।

श्री सिरवई आगे लिखते हैं कि भारत के संविधान में ऐसे अल्पसंख्यकों को जो अधिकार दिया है उसका उद्देश्य यही है कि उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा जाये । इसलिए रिलीजन या धर्म के व्यापक अर्थों का विवेचन करना अनावश्यक और अप्रासंगिक है । न्यायालय का यह अधिकार नहीं है कि वह इसका निर्णय करे कि हिन्दू धर्म क्या है ? और न ही यह कि उसमें कोई अल्पसंख्यक नहीं हो सकता । ऐसा करना इस धारा में दिए गए मौलिक अधिकारों का हनन करना है ।

पुस्तक के प्रारम्भिक अनुच्छेद 13:33⊙ में न्यायालय के इस निष्कर्ष को भी विद्वान् लेखक ने गलत कहा है कि किसी रिलीजन का कोई भाग जैसे हिन्दुओं में आर्यसमाज है, वह धारा 30 में नहीं आता क्योंकि वह हिन्दू धर्म का भाग है ।

देहली उच्च न्यायालय के सिख न्यायाधीश सरदार सफीर (जो एक प्रसिद्ध कवि भी हैं) उन्होंने इस निर्णय में जो यह विचार व्यक्त किया कि देश की एकता के लिए यह आवश्यक है कि धर्म के नाम पर स्वतन्त्र या पृथक् अधिकारों की मांग को निरुत्साहित करना चाहिए । सिरवई ने उसकी यह कह कर कड़ी समीक्षा की है कि न्यायाधीशों का काम संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारों के अनुसार निर्णय करना है न कि धर्म के नाम पर एकता की दुहाई देना । श्री सफीर द्वारा दिए गए कारण धार्मिक अल्प-संख्यकों को अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित करने का जो मौलिक अधिकार दिया गया है उसके सर्वथा भिन्न है ।

⊙ पृष्ठ 958
CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रिंसीपल वाब्ले की हिन्दी में अनुवादित अंग्रेजी पुस्तक

The Arya Samaj Hindu Without Hinduism

के सम्बन्ध में प्रसिद्ध अंग्रेजी समाचार पत्रों की कुछ प्रशंसात्मक समीक्षाओं का हिन्दी रूपान्तर

'दी सूर्य', देहली

(1) "आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने अपने समाज का नाम हिन्दू समाज नहीं बल्कि आर्यसमाज रखा। प्रो. वाब्ले का आर्यसमाज से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उन्होंने इस पुस्तक में उसके संस्थापक तथा संगठन के सम्बन्ध में गहन अध्ययन का परिचय दिया है।

—दिनांक 15 जनवरी, 83

'दी स्टेट्समैन', देहली

इस पुस्तक द्वारा पुनः एक बार भारतीय समाज और संस्कृति पर आर्यसमाज के प्रभाव का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया गया है। "हिन्दू विदाउट् हिन्दूइज्म" पुस्तक का यह उप शीर्षक आर्यसमाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता का द्योतक है। प्रो. वाब्ले की सम्मति में आर्यसमाज का स्वतन्त्र धार्मिक अस्तित्व हिन्दू धर्म का कायाकल्प करने में सहायक होगा। इस पुस्तक के प्रथम भाग में आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक की विशेषताओं का परिचय दिया गया है और दूसरे भाग में एक समाज सुधार तथा राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में उसका विवेचन किया गया है। इस प्रकार लेखक ने धार्मिक और तार्किक दृष्टिकोण का समन्वय करने का प्रयत्न किया है।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
उसके धार्मिक सिद्धान्तों की विशेषताओं को बताते हुए लेखक ने यह भी आशंका व्यक्त की है कि कहीं वह भी अन्य धार्मिक सुधार आन्दोलनों के समान जात-पांत से ग्रसित हिन्दू धर्म में विलीन न हो जाये। पुस्तक के अन्तिम भाग में आर्यसमाज की उपलब्धियों का ज़िक्र करते हुए लेखक ने उसके शिक्षा के क्षेत्र में किए गए योगदान का मूल्यांकन करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि अन्य धार्मिक अल्पमतों की शिक्षण संस्थाओं के समान आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को भी विशेष स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए अन्यथा ये शिक्षण संस्थाएँ अपनी विशेषता खो बैठेंगी।

—दिनांक 3-4-83

'दी ट्रिब्यून', चण्डीगढ़

(3) विद्वान् लेखक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से हिन्दू होते हुए भी आर्यसमाज हिन्दू धर्म का सम्प्रदाय नहीं है। हिन्दू धर्म से उसका मतभेद ऊपरी न होकर मौलिक है। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म के बहुदेवतावाद तथा मूर्तिपूजा इन दोनों का आर्यसमाज विरोध करता है। वेदों के सम्बन्ध में भी उसका अपना स्वतन्त्र और पृथक् अर्थ है। अपने प्रारम्भिक काल में भी आर्यसमाज अपने को हिन्दू धर्म से पृथक् मानता रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द ने उसे एक सार्वभौम धर्म कहकर इस बात का विरोध किया था कि आर्यसमाज किसी भी अर्थ में केवल एक हिन्दू आन्दोलन है किन्तु लाला लाजपतराय के नेतृत्व में अनेक आर्यसमाजी उसका हिन्दुओं से सम्बन्ध विच्छेद करने के पक्ष में नहीं थे। वे यह तो चाहते थे कि उसका पृथक् अस्तित्व बना रहे किन्तु वह हिन्दुओं के भीतर ही रह कर कार्य करें। बाद में हिन्दू मुस्लिम संघर्ष के काल में आर्यसमाज हिन्दुओं के निकट आ गया। अब यह विवाद इस पुस्तक द्वारा एक नये रूप में प्रकट हुआ है।

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के आंतरिक प्रबन्ध में राज्य सरकारों और विश्वविद्यालयों के बढ़ते हुए हस्तक्षेप के कारण आर्यसमाज ने पुनः अपने धार्मिक अस्तित्व की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया है ताकि अन्य अल्पमत

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की शिक्षण संस्थाओं के समान इन्हें भी संविधान की धारा 30 के अन्तर्गत दिया गया संरक्षण प्राप्त हो सके। पुस्तक के अधिकांश भाग में आर्यसमाज को एक धार्मिक अल्पमत होने के समर्थन में तथ्य और तर्क दिए गए हैं और शेष भाग में इस सम्बन्ध में न्यायालयों के निर्णयों का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया गया है। जिनमें पटना हाईकोर्ट के दो निर्णय तथा उच्चतम न्यायालय के डी.ए.वी. कॉलेज भटिण्डा और जालन्धर सम्बन्धी निर्णयों का विश्लेषण है।

लेखक का कहना है कि आर्यसमाज के विशिष्ट धार्मिक स्वरूप के बारे में अंतिम निर्णय न्यायालयों द्वारा नहीं अपितु उसके अपने धार्मिक सिद्धान्त, संगठन और उसके संस्थापक के विचारों के आधार पर ही किया जा सकता है।

—दिनांक 12-3-83

'दी पेट्रियट', देहली

भारत के समाज सुधार तथा धार्मिक क्रांति के इतिहास में स्वामी दयानन्द का नाम सर्वोपरि है। उन्होंने आर्यसमाज के रूप में एक नवीन धर्म की स्थापना की है, जिसका उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करना था और साथ ही हिन्दू धर्म के अनेक झाड़-झंखाडों को समाप्त करना था किन्तु जैसा लेखक ने कहा है कि उसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण उसके सामाजिक सुधार और शिक्षा तथा समाजसेवा के क्षेत्र में किए गए कार्य हैं। प्रो० डी० वाब्ले जो स्वयं दृढ़ आर्यसमाजी हैं उनके द्वारा लिखी यह पुस्तक इस विषय में लिखे गए साहित्य में एक मूल्यवान् योगदान है। उन्होंने आर्यसमाज के सिद्धान्तों और मान्यताओं का सुव्यवस्थित ढंग से प्रतिपादन किया है और हिन्दू धर्म से उसकी पृथकता के समर्थन में अनेक तर्क संग्रहित किए हैं जिससे इस विवादास्पद प्रश्न को एक नवीन और सशक्त स्वरूप मिल गया है।

उनकी स्थापना के मुख्य तीन आधार हैं। पहला–हिन्दू धर्म से दार्शनिक और संगठनात्मक आधार पर आर्यसमाज का विरोध। दूसरा–स्वामीजी की शिक्षाओं और भारतीय पुनर्जागरण में उनकी भूमिका और तीसरा–आधुनिक भारत में आर्यसमाज की गतिविधियाँ। इनमें से प्रत्येक के समर्थन में प्रमाण

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहित स्पष्ट विवेचन किया गया है। वस्तुत: हिन्दू तथा अन्य धर्मों से आर्य-समाज की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए पुस्तक का आवश्यकता से अधिक भाग खर्च किया गया है। किन्तु जैसा स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है कि साम्प्रदायिकता तथा जात-पांत जैसी वर्तमान घातक चुनौतियों का सामना करने में उसे वह सफलता नहीं मिली जिसकी आशा थी। किन्तु यह स्वीकार करना होगा कि आर्यसमाज ने धार्मिक संकीर्णता, छुआछूत और स्त्रियों के प्रति अन्याय के विरुद्ध संघर्ष किया है। इसकी प्रशंसनीय भूमिका शिक्षा के क्षेत्र में रही है। डी.ए.वी. आन्दोलन ने भारत के कोने-कोने में और यहाँ तक कि विदेशों में शिक्षा का प्रसार किया। इसमें संदेह नहीं कि वेदों में पर्याप्त ईश्वरीय ज्ञान है किन्तु अनेक विद्वानों के अनुसार उसमें बहुत-सी ऊट-पटांग और अव्यावहारिक बातें भी हैं। लेखक को चाहिए था कि इस सम्बंध में भी प्रकाश डालता। चाहे जो हो हिन्दू बौद्ध और ईसाई धर्मों के साथ की गई आर्यसमाज की तुलना दिलचस्प होने पर भी विस्तार से नहीं की गई है। यह खेद की बात है कि आर्यसमाज के आदर्शों के इस सुन्दर चित्रण के बावजूद भी उसकी लोकप्रियता और प्रभाव घट रहा है जैसा लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है। स्वयं आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं में भी उसके सिद्धान्तों का पालन नहीं होता है। लेखक ने अपना पक्ष पर्याप्त विद्वत्ता और अधिकार तथा शोध के बाद प्रस्तुत किया है जिसके कारण वह विश्वसनीय प्रतीत होता है। आर्यसमाज के प्राय: सब पहलुओं पर योग्यतापूर्वक प्रकाश डाला गया है इसलिए यह पुस्तक केवल साधारण पाठकों के लिए ही नहीं अपितु शिक्षा और शोध के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए भी उपयोगी है।

—दिनांक 3-4-83

दी 'हिन्दू', मद्रास

अच्छी और तर्कपूर्ण शैली में लिखी इस पुस्तक का उप शीर्षक "हिन्दू विदाऊट् हिन्दूइज्म" कुछ चौंकाने वाला है। प्रो० वाब्ले के अनुसार आर्यसमाज जिससे वे प्रमुख रूप से सम्बन्धित रहे हैं, की रक्षा के लिए आव-श्यक है कि वह हिन्दू धर्म की मान्यताओं और रीति-रिवाजों से अपने आपको

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथक् रखे किन्तु साथ ही बाहरी आक्रमण से उसकी रक्षा भी करता रहे यह मान्यता नवीन नहीं है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के प्रमुख नेता और आर्यसमाज के एक बड़े स्तम्भ स्व० लाला लाजपत राय ने भी इस बात का आकर्षक ढंग से यह कह कर समर्थन किया था कि एक वकील के समान आर्यसमाज अपना अस्तित्व रखकर ही अपने मोवक्किल का जोरदार समर्थन कर सकता है। प्रो० वाल्ले जैसे आर्यसमाज के विशिष्ट व्यक्तियों को भी यही भय है कि दोनों कहीं एक न हो जायँ। सर्वग्राही हिन्दू धर्म के विशाल समुद्र से अति निकट का सम्बंध आर्यसमाज को निगल सकता है, ऐसा उन्हें भय है।

उनका यह भय निराधार है। हिन्दू कोई धर्म होने के स्थान में एक संस्कृति और सभ्यता मात्र है। यही उसकी शक्ति और निर्बलता दोनों ही हैं। अति उदारता के कारण उसमें अनेक अंधविश्वास और हानिकारक रीति-रिवाज पनप गए हैं, किन्तु सनातन धर्म में इन अवांछनीय तत्वों को दूर करने की भी क्षमता है। समय-समय पर उसमें अनेक सन्त और महापुरुष उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने उनका उपचार और आवश्यक होने पर शल्य - क्रिया भी की है।

आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द भी इन्हीं आचार्यों की श्रेणी में थे और उन्होंने अपनी मातृभूमि की सेवा एक ऐसे संगठन को स्थापित करके की है जिसे सही अर्थों में हिन्दुओं का आक्रामक संरक्षक कहा जा सकता है। मोपला विद्रोह के समय जबरदस्ती मुसलमान बनाए गए दो हजार परिवारों को उसने शुद्धि आन्दोलन द्वारा पुनः हिन्दू धर्म में सम्मिलित किया। इसी प्रकार लगभग 30 हजार मलकाने राजपूतों को आर्यसमाज के निष्ठावान् कार्यकर्ताओं ने वापस लिया। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे आर्यसमाज के अनेक नेता इस आन्दोलन में शहीद हो गए। देश भर में फैले डीएवी. स्कूल और कालेज तथा गुरुकुलों ने नवीन पीढ़ी में जागृति उत्पन्न करने के लिए शिक्षा के क्षेत्र में प्रसंशनीय कार्य किया है। प्रो० वाल्ले ने स्वामी दयानन्द के कार्य और संगठन तथा महान् उपलब्धियों का सुन्दर विश्लेषण किया है। विशेषकर सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कांग्रेस की स्थापना से पहले जब भारतमाता विदेशियों की जकड़ में थी स्वामी दयानन्द तथा उनके साहसी साथियों ने भारतवासियों के हृदय में देशभक्ति की अग्नि प्रज्वलित की और राष्ट्रीय स्वाभिमान जागृत करने के लिए सक्रिय कदम उठाए। हिन्दू धर्म को आर्यसमाज का अत्यंत ऋणी होना चाहिए कि उसने संकट की घड़ी में मातृभूमि की इतनी बड़ी सेवा की, जैसा लाला लाजपतराय जी ने कहा है कि हिन्दू धर्म ने आर्यसमाज को जन्म दिया किन्तु आर्यसमाज ने उसकी रक्षा की। कट्टर आर्यसमाजी भले ही जनगणना में अपने को हिन्दू धर्म का अनुयायी न कहें किन्तु हिन्दू धर्म कभी उन्हें नहीं त्यागेगा। वह सदा ही कृतज्ञतापूर्वक इस महान् देश भारत अर्थात् आर्यावर्त्त के लिए की गई और की जा रही उनकी सेवाओं को स्वीकार करेगा।

दिनांक 29-3-83

'दी इलेस्ट्रेटेड वीकली', बम्बई

गत शताब्दी में आर्यसमाज एक अत्यन्त प्रभावशाली सुधार आन्दोलन के रूप में उभरा था। आज भी अनेक युवक-युवतियों को जो अन्तर्जातीय विवाह करना चाहते हैं और जिसका आज भी हिन्दू समाज विरोध करता है उन्हें आर्यसमाज संरक्षण और संतोष देता है। इस पुस्तक के लेखक की एक प्रमुख मान्यता यह है कि आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं को भी वहीं स्वतन्त्रता होनी चाहिए जो संविधान में अन्य धार्मिक अल्पसंख्यकों को है।

दिनांक 15-1-83

'दी विकास', देहली

संभवतः 19 वीं शताब्दी में भारत का सबसे प्रभावशाली सुधार आन्दोलन आर्यसमाज ही था और यह भविष्यवाणी की जाने लगी थी कि वह सारे संसार में प्रकाश फैलाने का एक स्रोत होगा किन्तु लेखक का कहना है कि आर्यसमाज ने अपनी प्रारम्भिक सफलता और लोकप्रियता के बाद एक

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

ऐसा गलत मोड़ ले लिया जिसके परिणामस्वरूप न केवल उसका प्रारम्भिक तेज और उत्साह ही क्षीण होने लगा अपितु उसकी मूलभूत विशेषता समाप्त होकर वह एक हिन्दू धर्म का सुधार आन्दोलन मात्र रह गया। विद्वान् लेखक का विश्वास है कि यदि आर्यसमाज अब भी हिन्दू धर्म से अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखे तो वह पुनः एक शक्तिशाली संगठन बन सकता है।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवम्बर, 1982

'आर्य मर्यादा', जालन्धर

महर्षि दयानन्द न तो इस देश को हिन्दुस्तान नाम देने को तैयार थे और न हमारे धर्म को हिन्दू धर्म मानते थे। न समाज को हिन्दू समाज मानते थे। उनका आधार वेद थे। इसलिये धर्म को वैदिक धर्म, समाज को आर्य और देश को आर्यवर्त्त कहते थे। यह भिन्नता और पारस्परिक विरोध आर्यसमाज में भी बहुत देर से चला आ रहा है। परन्तु खेद का विषय है कि आर्यसमाज के नेताओं ने कभी बैठकर इस पर विचार नहीं किया और न आर्य जनता को कोई नई दिशा दिखाई है। इसका परिणाम है कि प्रमुख आर्यसमाजी अपने-अपने विचार जनता के सामने रख रहे हैं और उनके कारण स्थिति और भी अधिक उलझ सकती है।

"आर्य जगत्" के विशेषांक में यह अंकित किया गया है कि भारत को हिन्दू राज्य घोषित किया जाये। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अंक इसी विचार धारा का प्रचार करने के लिए प्रकाशित किया गया था।

दूसरी तरफ अब आर्यसमाज के एक प्रमुख विचारक अजमेर के श्री दत्तात्रेय वाब्ले की एक पुस्तक आर्यसमाज के विषय में अंग्रेजी में प्रकाशित हुई है। बहुत उच्चकोटि का ग्रन्थ है और इन्होंने आर्यसमाज आन्दोलन के भिन्न पक्ष प्रस्तुत किये हैं। इसी में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि आर्यसमाजी हिन्दू हैं या नहीं : और वैदिक धर्म और हिन्दू धर्म में क्या अन्तर है। इस विषय में कुछ और विचार आगामी अंक में पाठकों के सामने रखूंगा।

श्री वीरेन्द्र
सम्पादक

दिनांक 19-12-82

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रो. दत्तात्रेय वाब्ले दयानन्द स्नातकोत्तर कॉलेज के संस्थापक प्राचार्य रहे हैं तथा सार्वभौम आर्य शिक्षण संस्था परिषद् आदि अनेक आर्यसमाज की संस्थाओं के अधिकारी तथा सदस्य के रूप में उनका गत 50 वर्षों से आर्य समाज से घनिष्ठ सम्बंध रहा है।

विद्वान् लेखक ने परिश्रमपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यसमाज हिन्दू धर्म का केवल एक संप्रदाय नहीं है अपितु धार्मिक दृष्टि से उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। जैसा गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्दजी की सम्मति के आधार पर लेखक ने बताया है कि एक समय आर्य समाज किसी भी रूप में अपने को हिन्दू नहीं मानता था। स्वामी दयानन्द ने तो हिन्दू शब्द का ही निषेध किया है। लेखक के अनुसार आर्यसमाज का पृथक् अस्तित्व स्वयं हिन्दू समाज और देश के हित में है क्योंकि इसी प्रकार वह हिन्दू धर्म की वर्तमान अनेक कुरीतियों और अंधविश्वासों को दूर करके उसे एक संगठित और शक्तिशाली समाज बना सकता है। आर्यसमाज सम्बंधी साहित्य में यह विद्वत्तापूर्ण पुस्तक एक मूल्यवान् वृद्धि है। स्वर्गीय लाला लाजपत राय ने सन् 1914 में अंग्रेजी भाषा में आर्यसमाज पर पुस्तक लिखी थी उसके पश्चात् आस्ट्रेलिया के प्रो. जार्डन द्वारा दयानन्द सरस्वती पर शोधपूर्ण ग्रंथ लिखा है। प्रो० वाब्लें की यह पुस्तकें इसी श्रेणी की महत्वपूर्ण रचना है। पुस्तक का उप शीर्षक "हिन्दू विदाऊट हिन्दुइज्म" आर्यसमाज के प्रारम्भिक इतिहास से सम्बंधित इस विवाद पर पुनः विचार करने का अवसर प्रस्तुत करता है।

1983

 CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेजी संस्करण के संबंध में अंग्रेजी पत्रों की कुछ समीक्षाएं :

Vedic Path (Gurukul Kangri)

"The learned author has been at pains to establish that the Arya Samaj is not only a reformed sect of Hinduism but is an independent religious entity. This is a well timed and much needed book and is a well-come edition to the Arya Samaj literature in English since Lala Lajpatrai's book published in 1914."

Surya India :

"Prof. Vable has done an indepth study of the Arya Samaj, its founder and organisation.

Sunday Statesman :

"The Book emphasizes an important aspect of the Arya Samaj i e. Hindu without Hinduism. Prof. Vable points out that education is one of the essentials of this movement and concludes that the Arya Samaj Educational Institutions must be given the same freedom as is granted to other religious minorities."

The Tribune, Chandigarh :

The controversy over relationship of the Arya Samaj with Hinduism dates back to the begining of this century. Swami Shradhanand had said that it was not a Hindu movement in any sense. Prof. Vable also supports this view and claims that the Arya Samaj is a religious minority based on Vedic religion different from the Sanatani Hinduism."

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Patriot, New Delhi :

"Swami Dayanand founded a new religion the Arya Samaj. But few Hindus accepted the religion of the Arya Samaj as defined by Swami Dayanand. Prof. Vable's book confirms this fact and is a valuable contribution on the subject. He however claims the superiority of the Arya Samaj over Hinduism. The most commendable contribution of the Arya Samaj lies in the field of education. The book competantly touches almost all aspects of the Arya Samaj. It should be useful for general readers, academics, and researchers."

Illustrated Weekly, Bombay.

"The Arya Samaj began as a tremendous reformative movement in the last century and the author claims that it is entitled to the same freedom as is granted under constitution to the educational institutions of other religious minorities.

The Hindu, Madras :

"The sub title of this closely argued and well written book is a little intriguing i. e. Hindu without Hinduism. Prof. Vable has traced the rationale of Swami Dayanand's organisation and detailed its splendid achievements even before the Congress asked for freedom of the motherland. Swami Dayanand and his heroic associates lit the fire of patriotism in the heart of Indians. Hinduism will always acknowledge with gratitude the services rendered and continued to be rendered by the Arya Samaj."

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्य समाज के पुनर्गठन पर सार्वदेशिक सभा को प्रेषित अन्तरिम रिपोर्ट

आचार्य श्री दत्तात्रेय जी के संयोजकत्व में सार्वदेशिक सभा द्वारा आर्य समाज के भावी कार्यक्रम तथा पुनर्गठन के सम्बन्ध में नियुक्त उप समिति की ओर से सार्वदेशिक सभा को अन्तरिम रिपोर्ट पेश की गई थी। दिनांक 7 अप्रेल 1983 को दीवान हाल आर्य समाज देहली में इस उपसमिति की बैठक हुई जिस में अन्तरिम रिपोर्ट पर पुर्नविचार किया गया। उसमें श्री दत्तात्रेय जी आर्य के अतिरिक्त स्वामी विद्यानन्द जी तथा प्रो. शेरसिंह जी उपस्थित थे। बाकी दो सदस्यों अर्थात् श्री वीरेन्द्र जी और डा. भवानीलाल जी भारतीय ने अपनी लिखित सम्मति प्रत्येक बिन्दु पर भेज दी थी। विचार विनीमय के बाद अन्तरिम रिपोर्ट को कुछ सशोधनों के साथ स्वीकार किया गया जिसे श्री दत्तात्रेय जी आर्य ने सार्वदेशिक सभा की अंतरग में औपचारिक रूप से प्रस्तुत किया। सभा ने विचार-विनिमय के बाद निश्चय किया कि उप नियमों में संशोधन संबंधी प्रक्रिया के अन्तर्गत इन्हें प्रसारित कर दिया जाय।

अन्तरिम रिपोर्ट

उप समिति ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट दो भागों में निम्न प्रकार से प्रस्तुत की—

प्रथम-भाग

इस रिपोर्ट के प्रथम भाग में वे महत्वपूर्ण आधार भूत सुझाव हैं जिन पर पांचों सदस्यों की लगभग सर्व सम्मति प्राप्त हुई वे इस प्रकार है—

1. आर्य समाज के पृथक् धार्मिक और व्यापक अर्थ में ही वह विशाल हिन्दू समाज का अंग बना रह सकता है।

उपरोक्त दृष्टि से आर्य समाज के वर्तमान उपनियम 3 में रेखांकित संशोधन और जोड़कर उसे निम्न प्रकार लिखा जाये अर्थात्—

"मैं प्रसन्नतापूर्वक आर्य समाज के उद्देश्यों को जैसा कि नियमों में वर्णित किए गए हैं तथा मन्तव्यों एवं सिद्धान्तों को जो वेदों के आधार पर

CC-0. In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
ऋषि दयानन्द के ग्रंथों में लिखे गए हैं, मानता और उनके अनुकूल आप
स्वीकार करता हूँ । मैं घोषणा करता हूं कि ईश्वर के प्रतीक के रूप में कि
मूर्ति या जड़ वस्तु अथवा व्यक्ति की पूजा नहीं करता और न ही श्राद्ध अ
तीर्थ जैसे निषिद्ध और जन्म-विवाह और मृत्यु के अवसरों पर कोई अवैदि
कार्य करता हूँ । मैं जन्मगत जातपाँत तथा छुआछूत विचार और व्यवहार दो
में विरोध करता हूँ ।

निम्नलिखित नये उपनियम वर्तमान 4 के बाद जोड़े जाये—

(क) आर्यसमाज का कोई सदस्य या अधिकारी अपने नाम के अ
कोई जाति सूचक उपनाम नहीं लिखेगा और साधारणतः 'आर्य' उपनाम
ही प्रयोग करेगा ।

(ख) सदस्यों की दो श्रेणियां होंगी एक साधारण जिन्हें उपरो
सिद्धान्त सम्बन्धी नियमों के अन्तर्गत प्रवेश दिया जावे । दूसरे उनमें से
जो समाज के निर्धारित कार्यक्रमों में से किसी एक या अधिक में
रूप से कार्यरत हों, उन्हें सक्रिय सदस्य समझा जाये ।

इन कार्यक्रमों के कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हो सकते हैं - (1)
सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार जिन में संन्यासी, उपदेशक, लेखक, प्र
आदि सम्मिलित हों, (2) शुद्धि, (3) सामाजिक सेवा, (4) जा
पांत छुआछूत का निराकरण, (5) शिक्षा कार्य (6) महिला सुध
ग्राम प्रचार आदि ।

(ग) आर्य समाज के पदाधिकारी सक्रिय सदस्यों में से ही निर्वा
हो सकेंगे ।

(घ) किसी राजनैतिक दल का पदाधिकारी तथा उसका सांसद,
विधान सभा आदि में निर्वाचित व्यक्ति आर्य समाज, आर्य प्रतिनिधि स
या सार्वदेशिक सभा का पदाधिकारी नही हो सकेगा । ऐसे व्यक्तियों
कार्यकारिणी आदि की सदस्यता के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा ।

उपरोक्त नियमों का व्यावहारिक रूप से पालन होता है या नहीं
निश्चित करने के लिए कोई अधिकृत माध्यम आवश्यक है अन्यथा

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनियमों का कोई उपयोग नहीं है। इस दृष्टि से संशोधित नियमों का उल्लंघन होने पर न्याय सभा को निश्चित प्रक्रिया द्वारा अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार होगा जिस में पद मुक्ति और सदस्यता से पृथक् किया जाना सम्मिलित है।

2. सार्वदेशिक सभा कार्यालय का गठन विभागों के आधार पर मंत्री परिषद् की तरह से किया जाये।

(23) प्रांतीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं के संविधानो में एक रूपता का ओ ान किया जाये। इसी प्रकार नीचे के जिला स्तर, तहसील स्तर पर व्यवस्था का प्रावधान प्रांतीय सभाओं के सविधान में रखा जाये।

4. (25) सत्संगों में उपस्थिति तथा शतांश चन्दे संबंधी नियमों के व्यावहारिक पालन के लिए निश्चित प्रक्रिया एवं व्यवस्था का प्रावधान हो तथा पदाधिकारियों के लिए पचास प्रतिशत उपस्थिति अनिवार्य हो।

5. (30) दलगत राजनीति से आर्य समाज को पृथक् रखने तथा उसके ...पक धार्मिक तथा राष्ट्रीय स्वरूप को सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक रिक ध सम्बन्धी उपनियम जैसे—समाज भवनों में राजनैतिक सभाओं तथा कि ...ं में राजनीति संबंधी व्याख्यान सम्मेलनों और निर्वाचनों में किसी ...नैतिक पार्टी का समर्थन या विरोध न किया जाये।

6. (37) आर्य समाज के आन्तरिक विवादों को संन्यासियों की समिति द्वारा निपटाने की व्यवस्था और उसका निर्णय न मानने पर बहिष्कार का प्रावधान।

7. (38) आर्य समाजों में अन्य धार्मिक स्थानों के समान दैनिक कार्यक्रमों की व्यवस्था की जाये जिनमें सन्ध्या-हवन कथा आदि की नियमित व्यवस्था हो।

8. जन गणना में अपने को "आर्य" लिखाने का प्रावधान उपनियम द्वारा किया जाये। यह निर्णय स्वामी विद्यानन्द जी के उपरोक्त 1 'क' के संदर्भ में निम्नलिखित स्पष्टीकरण के बाद किया गया।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

"आर्य समाज वेदोक्त वर्ण व्यवस्था को मानता है। इस वर्ण व्यवस्था
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
का आधार गुण कर्म स्वभाव है। प्राचीन काल में किसी व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण आचार्य अथवा राजकीय व्यवस्था द्वारा होता था। कालान्तर यह व्यवस्था जाती रही। परिणामतः वर्तमान में वर्णव्यवस्था गुण कर्म स्वभाव की बजाय जन्म पर आश्रित होकर रह गई है और अनेक सामाजिक बुराइयों का कारण बन गई है। इसलिए आपद्धर्म के रूप में अब यह उचि जान पड़ता है कि आर्य समाजी अपने नाम के साथ जन्म मूलक जाति (रू अर्थ में) के सूचक शब्दों को लगाना बन्द कर दें। यदि कुछ लगाना आवश्यक हो तो रूढ़ अर्थों में 'आर्य' शब्द को लगा सकते हैं।'

कुछ संशोधन

प्रथम भाग में निम्नलिखित संशोधन किए गए अर्थात् उपनाम के रूप "आर्य" शब्द का उपयोग करने संबंधी प्रस्ताव संख्या 1 एक अनुभाग (क तथा प्रस्ताव संख्या 8 को स्वीकार करते हुए यह स्पष्टीकरण किया गया कि आर्य सामाजिक क्षेत्र में उपनाम के रूप में "आर्य" वैदिक धर्म अनुयायियो लिए रूढ़ हो गया है इसलिये जनगणना तथा नाम के साथ उसका यही अ समझा जाये।

दूसरा संशोधन यह किया गया कि आर्य समाज में प्रवेश संबंधी उपनिय संख्या एक तथा अन्य प्रस्तावित उप नियमों की व्यवहार में अवहेलना तथ उपेक्षा न हो इस के लिए न्याय सभा से भिन्न एक पृथक् सतर्कता समिति क प्रावधान किया जाये जिसे स्वयं अथवा किसी द्वारा प्राप्त शिकायत के आधा पर उचित प्रक्रिया के बाद दोषी सदस्यों को चेतावनी, निलम्बन तथा पद औ सदस्यता से निष्कासित करने का अधिकार हो। इस समिति के निर्णय पुनः विचार या अपील सुनकर अन्तिम फैसला करने का अधिकार सार्वदेशि सभा द्वारा गठित तीन सदस्यीय ट्रिब्यूनल को होगा।

दूसरा भाग

अन्तरिम रिपोर्ट के इस दूसरे भाग में आर्य समाज के भावी कार्यक्र तथा सुधार संबधी वे सुझाव अंकित किए गए हैं जिन्हें कार्यान्वित करने लिए सार्वदेशिक सभा एक या अधिक उपसमितियों का गठन कर एक निश्चि

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवधि में उनकी रिपोर्ट के आधार पर आवश्यक कार्यवाही करने और जरूरी हो तो उपनियमों में उनका समावेश करे अथवा इन सुझावों का स्पष्टीकरण या अधिक विवरण उपसमितियों के सम्मुख किया जा सकता है।

दूसरे भाग में निम्नलिखित सुझाव रखे गये जिनके संबंध में समिति ने सुझाव दिया कि इन पर तथा अन्य प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए सार्वदेशिक सभा एक या अधिक उप समितियाँ बनाकर उनकी सिफारिशों को ध्यान में रख कर यथाशीघ्र निर्णय अथवा आवश्यक व्यवस्था करे। इन सुझावों को और अधिक स्पष्ट और निश्चित रूप देने का कार्य भी इन्हीं उप समितियों द्वारा किया जाये।

1. आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं की प्रबंध समितियों में आर्यसमाजियों का बहुमत तथा कम से कम मुख्याध्यपकों और आचार्यों का आर्यसमाजी होने की व्यवस्था।

2. पुरोहित प्रणाली—उनके प्रशिक्षण, वेतन तथा नियंत्रण की व्यवस्था। आर्यसमाज के माध्यम से शुद्ध हुये व्यक्ति को आर्य उपनाम देकर आर्य समाज का सहायक सदस्य और बाद में पूर्ण सदस्य बनाने सम्बन्धी प्रावधान।

3. (5) प्रमुख संस्कार विशेष कर विवाह आदि आर्य समाज मन्दिर में किए जायें।

4. (12) केन्द्रीय पुस्तकालय, शोधकेन्द्र आदि।

5. (13) प्रचार शैली में सुधार व्यक्तिगत सम्पर्क आदि।

6. (14) प्रशिक्षण केन्द्र जिनमें उपदेशक तथा पूरे समय के कार्यकर्त्ता तैयार किये जाय।

7. (15) आर्य शिक्षण संस्थाओं का केन्द्रीय संगठन, विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सुधार।

8. (19) विद्वानों की गोष्ठियाँ।

9 (20) वेद के आधार पर सत्य विद्याओं का अधिकृत विश्लेषण और विवेचन।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. (22) रामायण, महाभारत आदि लोकप्रिय ग्रंथों का वैदिक संस्करण ।

11. (26) शिक्षण संस्थाओं की वर्तमान स्थिति पर विचार तथा धर्म शिक्षा की व्यवस्था ।

12. (27) गुरुकुलों का केन्द्रीय संगठन ।

13. (28) आर्यसमाज समर्थक समाचार पत्र ।

14. (29) स्वामी जी की जीवनी तथा आर्यसमाज के इतिहास का अधिकृत लेखन ।

15. (31) राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय आर्यों से सहयोग ।

16 (32) ग्रामीण क्षेत्रों के लिये विशेष रूप से प्रशिक्षित पुरोहित ।

17. (33) गाँवों में सघन प्रचार की व्यवस्था ।

18. (34) गांवों और तहसीलों में भजन और संगीत द्वारा प्रचार ।

19 (35) उत्सवों पर वैदिक सिद्धान्तों पर उपदेश और अवैदिक सिद्धान्तों का खण्डन

20. (36) युवक युवतियों का संगठन (आर्य वीर दल)

21. (37) आर्य समाजों में दलबन्दी पर रोक ।

22. (38) आर्यसमाज की आंतरिक कमजोरियों का विश्लेषण व उपाय ।

23. (40) व्यवहारिक प्रतिज्ञाएं और उनका पालन ।

24. (41) नियमित रचनात्मक कार्य क्रम, यज्ञ, संध्या स्वाध्याय, आय का पांचवा भाग दान, मन्दिरों की स्वच्छता, पुरोहित की नियुक्ति आदि ।

अन्य सुझाव

(क) संन्यासी तथा वानप्रस्थ को दीक्षा केवल अधिकृत माध्यम द्वारा ही हो ।

(ख) आर्य परिवार और संघ उसमें रोटी-बेटी व्यवहार की व्यवस्था ।

(ग) पदाधिकारियों के लिये अन्तर्जातीय विवाह ।

(च) आकाशवाणी आदि द्वारा वेद प्रचार ।

(छ) शतकुण्डी यज्ञों आदि अवैदिक कार्यों पर प्रतिबन्ध ।

(ज) समाजों व उसकी संस्थाओं की सम्पत्ति के अधिकार तथा प्रबंध के लिए अखिल भारतीय कानून या एक्ट ।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

शुद्धा शुद्धि पत्र

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठ	लाईन संख्या	वर्तमान शब्द	संशोधित शब्द
14.	चौथी लाईन	चर्चों को स्थानों से	चर्च जैसे धार्मिक स्थानों को
15.	चौथी लाईन	उनका	उसका
16.	आठवीं लाईन	नहीं और मनुष्य	न ही मनुष्य
17.	बारवीं लाईन	अध्यात्मिक प्रथा	अध्यात्मिक प्रश्न
18.	दसवीं लाईन	आवश्यकता के विवशं	आवश्यकता से विवश
18.	बारवीं लाईन	शक्ति को स्वीकार करना	शक्ति को
19.	नवीं लाईन	जिसका अर्थ	इसका अर्थ
20.	आठवीं लाईन	मात्र के इस	मात्र को इस
21.	सोलवीं लाईन	इसका आधार	इसका आधार है
24.	नीचे से पांचवीं लाईन	उन जैसी	अन्य
25.	तीसरी लाईन	ज्योतिषीय	ज्योतिष
26.	पहली लाईन	अनेकों ने विद्वानों	अनेक विद्वानों
28.	तीसरी लाईन	पृष्ठभूमि	पृष्ठभूमि तथा
28.	चौदवीं लाईन	ऐसा किया	ऐसा
29.	आठवीं लाईन	किया था	किया
29.	नीचे से सातवीं लाईन	सीमा में समेटे	सीमा में समेटना
30.	तीसरी लाईन	सब समाज	वह सब समाज
30.	नीचे से तीसरी लाईन	राजनीतिक	राजनैतिक
30.	नीचे से तीसरी लाईन	समझती थी यही सर्व विदित	समझती थी
31.	सातवीं लाईन	शिरोक्त	शिरोल
31.	नीचे से चौथी लाईन	है बताता	बताता है
32.	नीचे से पांचवी लाईन	आवश्यकता	शर्त
33.	बारवीं लाईन	यह हिन्दू	यह भ्रमपूर्ण विचार हिन्दू
33.	नीचे से पांचवीं लाईन	अनुसार	अनुयाई
33.	नीचे से दूसरी लाईन	रहने वाली	रहने वाले
35.	नीचे से सातवीं लाईन	पर कुछ	पर मुख्य
36.	चौथी लाईन	उसे कामना थी	उससे अपेक्षा थी
37.	तीसरी लाईन	स्थान क्षेत्र में	स्थान में
37.	नीचे से छठी लाईन	दोनों का अस्तित्व एकदम	दोनों एकदम
38.	ग्यारहवीं लाईन	बल्कि कहा कि	बल्कि वहां
38.	तेरवीं लाईन	अपेक्षा	उपेक्षा
38.	सोलवीं लाईन	किया वहां	किया गया वहां
42.	नीचे से तीसरी लाईन	के केन्द्र अभी तक द्वारा	के केन्द्र विश्वविद्यालय द्वारा
		प्रोत्साहन में	प्रोत्साहन मे

1806

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

44. ग्यारहवीं लाईन	भूतपूर्व अध्यक्ष	भूतपूर्व उपाध्यक्ष
51. पहली लाईन	भूतपूर्व विज्ञान के	विज्ञान के भूतपूर्व
53. तेरवीं लाईन	अपने जीवन	अपना जीवन
55. नीचे से पांचवीं लाईन	भाष्य से सहमत	भाष्य से असहमत
58. नीचे से दसवीं लाईन	हिन्दू सभ्यता	हिन्दू समाज
59. चौदवीं लाईन	निशिद्ध स्त्रियों	स्त्रियों
59. चौदवीं लाईन	लिए वेद	लिए निशिद्ध वेद
59. नीचे से चौथी लाईन	जिस पर	जिससे
62. सातवीं लाईन	आर्य समाज इस्लाम	आर्य समाज की मान्यता है कि इस्लाम
62. बारवीं लाईन	एक तवी सकता है	सामर्थ्य हीन ही है
77. पहली लाईन	वो भी जातपांत	वो भी न जातपांत
87. सोलवीं लाईन	शिक्षा के साथ	शिक्षा के अतिरिक्त
89. नीचे से चौथी लाईन	क्रान्ति का साधन	क्रान्ति का माध्यम
99. नीचे से दसवीं लाईन	भोज तथा	तथा भोज
121. नीचे से नवीं लाईन	परिवर्तन	परिवर्तन था
121. नीचे से दसवीं लाईन	कारण कि	कारण यह था कि
130. आखिरी लाईन	उन्हें अन्य	अन्य
137. संदर्भ-दूसरा	1881	1981
137. ग्यारहवीं लाईन	तीन लाख	तीन हजार
145. आखिरी लाईन	यह बान्यता	यह मान्यता
149 नीचे से तीसरी लाईन	शब्दार्थ	संदर्भ
158. नवीं लाईन	सिद्धान्त पर	सिद्धान्त परक
160. तीसरी लाईन	सामाजिक	समाज के
183. पहली लाईन	जॉर्डन ने	जॉर्डन के
213. पांचवीं लाईन	1934	1834
237. बारवीं लाईन	निरक्षरत था	निरक्ष तथा
237. बाइसवीं लाईन	न प्रशिक्षार	अशिक्षा
258. नीचे से तीसरी लाईन	सन् 51	सन् 57
261. नीचे से छटी लाईन	जो धार्मिक	धार्मिक
262. दूसरी लाईन	कोइ तना	का इतना
267. आठवीं लाईन	बजाय में	बजाय
285. नीचे से छठी लाईन	मुझे क्योंकि	मुझे अन्यथा न समझें क्योंकि
293. आखिरी लाईन	श्रेणियों में लाला मे 140-142	श्रेणियों में
295. पहली लाईन	भी चार वर्गों में बंटी हुई	बंटी हुई
338. बारवीं लाईन	मैनेज़र	मैनेज
372. नीचे से छठी लाईन	1933	1935
375. नीचे से तीसरी लाईन	धारा-26	धारा-30
385. सातवीं लाईन	[illegible]	[illegible]

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

लेखक का परिचय

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

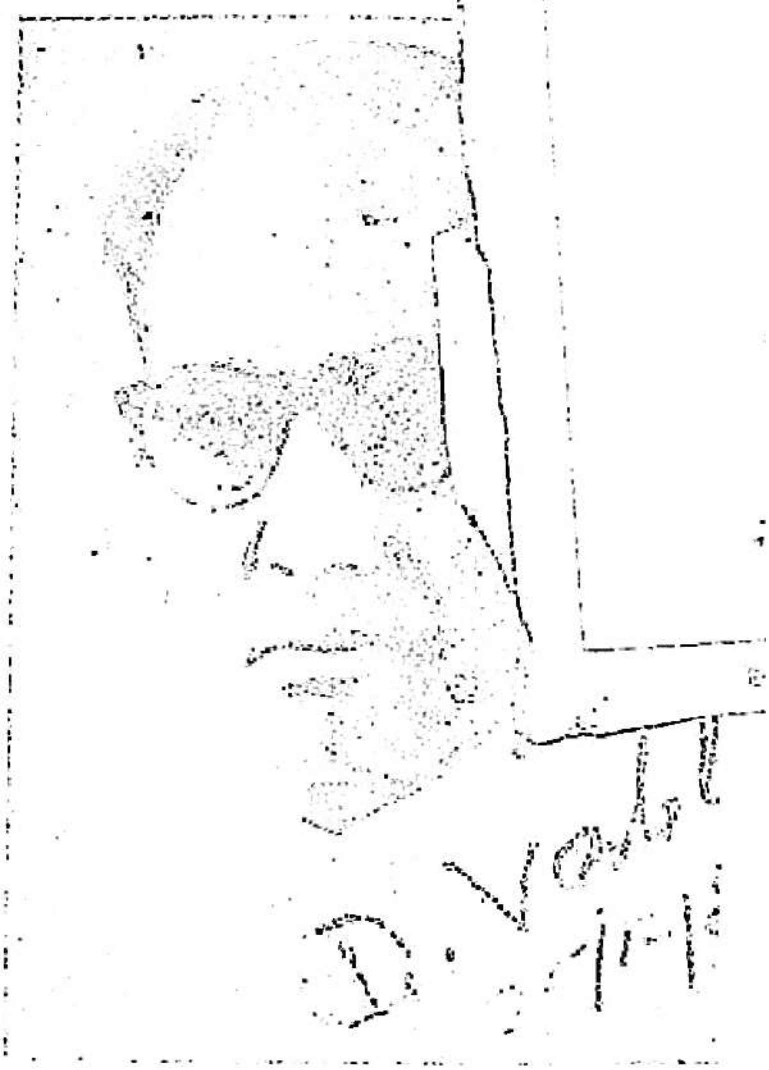

प्रो० दत्तात्रेय वाल्ले (आर्य)

अद्यपि प्रोफेसर दत्तात्रेय वाल्ले का जन्म सन् 1909 में महाराष्ट्र के सम्पन्न और शिक्षित ब्राह्मण परिवार में हुआ किन्तु उनकी उच्च शिक्षा उत्तर प्रदेश में हुई और कार्य क्षेत्र राजस्थान रहा है। वे अजमेर के प्रसिद्ध दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय के संस्थापक आचार्य हैं, इस पद पर वे 25 वर्ष रहे। वे आगरा तथा राजस्थान विश्व॰ विद्यालय की सीनेट एवं कार्यकारिणी तथा सिंडीकेट के अनेक वर्षों तक निर्वाचित सदस्य थे अब दयानन्द कॉलेज सहित अजमेर की लगभग एक दर्जन डी. ए. वी. शिक्षण संस्थाओं के संचालन का उत्तर॰ दायित्व उन पर है।

सन् 1956 में "लीडर एक्सचेंज" नामक सामाजिक व शैक्षणिक आदान॰ प्रदान कार्यक्रम में वहां की सरकार के निमंत्रण पर तीन महीने अमेरिका में रहे और ब्रिटिश काउंन्सिल के निमंत्रण पर इंग्लैण्ड तथा यूरोप गए। इन देशों में अपने भ्रमण और अनुभव के बारे में उनकी अंग्रेजी पुस्तक "टू-वे ट्रैफिक" विदेश जाने वाले भारतियों के लिये बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। सन् 1983 में अपनी दूसरी विदेश यात्रा के दौरान जापान आदि पूर्वीय देशों के सम्बन्ध में भी वे अपने संस्मरण लिख रहे हैं।

शिक्षा के अतिरिक्त अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में भी उनका सक्रिय योगदान रहा है। अजमेर नगर परिषद् के वे तीन बार सदस्य और तीन वर्ष वरिष्ठ उपाध्यक्ष तथा लगभग आठ वर्ष तक प्रथम श्रेणी के आनरेरी मजिस्ट्रेट रहे। अंग्रेजी राज्य में क्रान्तिकारियों से सम्बन्धित

(शेष पिछले पृष्ठ पर)

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण खुफिया पुलिस में भी उनका वर्षों तक नाम अंकित रहा। तात्कालीन प्रांतीय कांग्रेस के पारलियामेंट्री बोर्ड के सदस्य तथा कांग्रेस चुनाव ट्राईब्यूनल के वे अध्यक्ष रहे। भारतीय रेड क्रॉस समिति अजमेर के गत 20 वर्षों से वे चेयरमैन हैं। किन्तु आर्यसमाज उनका मुख्य कार्यक्षेत्र रहा है, जिससे वे गत 50 वर्षों से सक्रिय रूप से संबन्धित हैं। आर्यसमाज अजमेर तथा दयानन्द बाल सदन के प्रधान, आर्यसमाज शिक्षा सभा के अवैतनिक मंत्री होने के अतिरिक्त वे राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के उपाध्यक्ष तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अंतरंग सभा के भी सदस्य हैं तथा सार्वभौम आर्य समाज शिक्षण संस्था परिषद के मंत्री है।

उनकी हिन्दी की रचनाओं में "राष्ट्रीय चरित्र और एकता" तथा उनके द्वारा संपादित "सत्यार्थप्रकाश-ग्रन्थमाला" विशेष उल्लेखनीय हैं। अपनी अंग्रजी की बहुचर्चित पुस्तक के समान उसके इस हिन्दी रूपान्तर में भी उन्होंने जहां आर्यसमाज के गौरवशाली अतीत और धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राष्ट्रीय क्षेत्र में उसके महान् योगदान का अभिमानपूर्वक उल्लेख किया है वहीं उसकी वर्तमान शिथिलता के कारणों का भी विद्वतापूर्ण विश्लेषण भी किया है, किन्तु आर्यसमाज के हिन्दू धर्म से भिन्न, प्राचीन वैदिक धर्म के प्रस्तोता के रूप में, आर्यसमाज के स्वतन्त्र अस्तित्व और आवश्यकता को उजागर करना इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। इसी दृष्टि से उन्होंने आर्यसमाज को पुनः एक व्यापक और प्रभावशाली क्रान्तिकारी आन्दोलन बनाने के लिए अनेक सुझाव प्रस्तुत किये हैं।

CC-0.In Public Domain. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.